डॉ० राकेश शास्त्री

सदानन्दयतिविरचितः

वेदान्तसारः

(विस्तृत भूमिका, पदच्छेद, अनुवाद, विशेष एवं डायग्राम्स सहित 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या)

परिमल संस्कृत ग्रन्थमाला- ६४

वेदान्तसार

(विस्तृत भूमिका, पदच्छेद, अनुवाद, विशेष एवं डायग्राम्स सहित
'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या)

व्याख्याकार:
डॉ. राकेश शास्त्री
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
हरिदेव जोशी राजकीय कन्या महाविद्यालय
बाँसवाडा (राज०)

परिमल पब्लिकेशन्स
दिल्ली

प्रकाशक :

परिमल पब्लिकेशन्स

२७/२८, शक्ति नगर

दिल्ली - ११०००७

फोन - २७४४५४५६

E-mail : parimal@ndf.vsnl.net.in

URL : www.parimalpublication.com

द्वितीय संस्करण २००४

ISBN : 81-7110-217-8

मूल्य - १००.०० रुपये

मुद्रक :

हिमांशु प्रिन्टर्स

मेन यमुना विहार रोड़

मौजपुर, दिल्ली-९२

PARIMAL SANSKRIT SERIES NO. 64

VEDĀNTASĀRA OF SADĀNANDA

Introduction, translation, 'Chandrika' Hindi commentary with various notes and diagrams

Dr. Rakesh Shastri
Head, Dept. of Sanskrit
H. J. Govt. Girls College
Banswara (Raj.)

PARIMAL PUBLICATIONS
DELHI

Published by
Parimal Publications
27/28, Shakti Nagar
Delhi 110007
Phone : 2744 5456
E-mail : parimal@ndf.vsnl.net.in
URL : www.parimalpublication.com

Second Edition 2004

Price Rs. 100.00

ISBN : 81-7110-217-8

Printed By
Himanshu Printers, Main Yamuna Vihar Road
Maujpur Delhi-92

समर्पण

सरल एवं सौम्य, विधिविशेषज्ञ, परमश्रद्धेय, महामहिम

श्री अंशुमान सिंह

राज्यपाल, राजस्थान

के

कर–कमलों में सादर

राकेश शास्त्री

यत्किञ्चित्

वेदान्तसार वेदान्तदर्शन का प्रकरणग्रन्थ है। इसके 38 खण्डों में ग्रन्थकार ने वेदान्तदर्शन के सिद्धान्तों का सरलरूप में प्रतिपादन करने का प्रयास किया है। इससे पूर्व ब्रह्मसूत्रादि में प्रतिपादित वेदान्त के सिद्धान्तों को समझना सामान्य व्यक्ति के लिए दुष्करकार्य हो गया था। इसीकारण आचार्य सदानन्द ने वेदान्तसार की रचना की आवश्यकता अनुभव की जो अत्यन्त लोकप्रिय हुई। इस पुस्तक की लोकप्रियता का ही परिणाम है कि वेदान्तदर्शन के अध्ययन हेतु प्रायः सभी विश्वविद्यालयों ने इसे स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में निर्धारित किया हुआ है।

यद्यपि इस ग्रन्थ पर अनेक विद्वानों ने अपनी लेखनी चलाकर इसे पाठकों के लिए सुगम बनाने का प्रयास किया है, तथापि अपने विद्यार्थी जीवन से ही इसे नूतनशैली में प्रस्तुत करने की मेरी तीव्र अभिलाषा थी। इससे पूर्व प्रकाशित सांख्यकारिका के संस्करण को छात्रसमुदाय में जो अपनत्व एवं प्रशंसा प्राप्त हुई, साथ ही उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान ने उसकी सरल डायग्राम पद्धति की सराहना करते हुए उसे साहित्य पुरस्कार प्रदान किया, इन दोनों बातों से उत्साहित होकर वेदान्तसार की व्याख्या भी उसी शैली से प्रस्तुत करने का मैंने संकल्प किया।

ईश्वर की असीम अनुकम्पा से आज यह पुस्तक आपके हाथ में है इससे न केवल मैं रोमांचित हूँ, अपितु असीम आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ। निश्चय ही इसे भी पूर्व प्रकाशित पुस्तकों के समान ही विद्वानों के हृदय में स्थान प्राप्त होगा।

यहाँ 108 पृष्ठों की विस्तृत भूमिका में जहाँ वेदान्त-विषयक अनेक जिज्ञासाओं का समाधान किया गया है। वहीं मूलग्रन्थ के रूप को सुरक्षित रखते हुए विषय को स्पष्ट किया गया है। सरलता की दृष्टि से मुख्य खण्डों को उपखण्डों में विभाजित किया गया है। प्रखण्डों के विभाजन में विषय-विशेष के सर्वांगीण विवेचन की दृष्टि ही प्रमुख रही है।

पूर्व प्रतिपादित विषय को अग्रिम विषय के साथ जोड़ने के लिए अवतरणिका, पुनः पदच्छेद एवं हिन्दी अनुवाद के बाद 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या में विषय का सर्वांगीण एवं विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

साथ ही विशेष शीर्षक में तत्सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख किया है। तत्पश्चात् उस खण्ड के अभिप्राय को डायग्राम बनाकर अध्येता जिज्ञासु के लिए विषय को सहज हृदयंगम कराना ही मुख्य उद्देश्य है।

मुझे आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि अन्य पुस्तकों के समान ही यह पुस्तक भी विद्वत्समुदाय में लोकप्रिय होगी एवं छात्रों की आवश्यकता को पूर्ण करेगी।

इस पुस्तक के लेखन में अब तक प्रकाशित अनेक विद्वानों की टीका, एवं व्याख्याओं से सहायता ली गई है। अतः उनके विद्वान् लेखकों के प्रति श्रद्धा से अवनत होकर आभार व्यक्त करता हूँ। पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने के लिए विद्वानों के सुझावों की प्रतीक्षा रहेगी।

इति शुभम्।

14 मार्च, 2002

राकेश शास्त्री

1-जे-38, हाउसिंग बोर्ड कालोनी
बांसवाडा (राज०)
02962-250026

विषयानुक्रमणिका

भूमिका

(क) दर्शन से अभिप्राय–देखना अर्थ में प्रयुक्त √ दृश् धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर 'दर्शन' शब्द निष्पन्न होता है (अष्टाध्यायी-3/3/114 नपुंसके भावे क्त)। आचार्य पाणिनि के अनुसार 'ल्युट्' प्रत्यय का प्रयोग भाव, करण एवं अधिकरण- तीन अर्थों में होता है। (ल्युट् च-3/3/115) (करणाधिकरणयोश्च 3/3/117) यहां भाव से अभिप्राय पूर्णतया शुद्ध धातु के अर्थ से है। इसप्रकार 'दर्शन' शब्द का अर्थ हुआ–देखना। वह विद्या, ज्ञान अथवा उपकरण (साधन) जिसके द्वारा किसी विषय या वस्तु को देखा जाए या जाना जाए अथवा आधारभूत वह वस्तु जिसमें किसी को देखा जाए।

दर्शन का मानवजीवन के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, क्योंकि मानव के जीवन का कोई भी पक्ष दर्शन की परिधि से बाहर नहीं हो सकता। सृष्टि के आरम्भ में जब से मानव ने विचार करना प्रारम्भ किया, उसी समय से उसके कुछ अनुभव स्थायी आकार लेने लगे। स्थायी आकार से आकारित उसके वे अनुभव ही कालान्तर में दर्शनरूप में परिवर्तित हो गए।

(ख) दर्शन का विकास–प्रकृति के विभिन्न व्यापारों को देखकर आदिकाल में मनुष्य अत्यधिक आश्चर्यचकित होता होगा। उसकी सदैव जिज्ञासा रही होगी कि प्रकृति क्या है? अर्थात् सूरज, चाँद, तारे, पर्वत, नदियाँ, वृक्ष आदि ये सब क्या हैं? मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मुझे कहाँ जाना है? मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है? यह संसार क्या है? इसे बनाने वाला कौन है? इस संसार को बनाने वाले और मनुष्य का क्या सम्बन्ध है? आदि।

ये कुछ प्रश्न ही आदिमानव के मन में, मस्तिष्क में रहे होंगे, जिन्होंने उसे चिन्तन के लिए बाध्य किया होगा। आगे चलकर इन्हीं प्रश्नों के उत्तर विद्वान् मनीषियों ने दर्शनरूप में प्रतिष्ठित किए। इन समस्याओं पर अलग-अलग चिन्तकों ने अलग-अलग शैली द्वारा चिन्तन किया तथा उनके समाधान का अन्वेषण किया। इसीप्रकार अनेक दर्शनों का भारतवर्ष में प्रादुर्भाव हुआ। इन्हीं चिन्तन शैलियों को बाद में भारतीयदर्शन के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई।

इसप्रकार दर्शनरूपी ज्ञान की इस स्रोतस्विनी का प्रवाह आदिकाल से अबाधगति से चला आ रहा है। जिसका उद्गमस्थल हमें वैदिकज्ञान के अक्षयभण्डार ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होता है। उसमें प्रयुक्त दार्शनिक सूक्त–नासदीय, पुरुष आदि तत्कालीन मानव की नैसर्गिकजिज्ञासा के परिचायक हैं।

तत्पश्चात् उपनिषद्ग्रन्थों में साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों का मौलिक एवं स्वतन्त्रचिन्तन उपलब्ध होता है। इन उपनिषदों की संख्या एक सौ आठ मानी गई है, जिनमें ग्यारह प्रमुख हैं। सभी भारतीय आस्तिकदर्शनों का मूल आधार ये उपनिषद् ग्रन्थ ही हैं। इनमें भी बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, कठ, प्रश्न, माण्डूक्य आदि दार्शनिक विषयों के प्रतिपादन की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।[1]

(ग) भारतीयदर्शन एक परिचय–भारतीयदर्शनविषयक विचारधाराओं को मुख्यरूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–(1) आस्तिक एवं (2) नास्तिक। जिनमें वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार किया गया, उन्हें आस्तिक तथा जो वेदों को महत्ता प्रदान नहीं करते हैं उन्हें 'नास्तिक' दर्शन की संज्ञा प्रदान की गई। नास्तिक–दर्शनों के अन्तर्गत मुख्यरूप से चार्वाक, जैन और बौद्धदर्शनों की गणना की गई तथा आस्तिकदर्शनों की संख्या छः मानी गई–पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, (वेदान्त), सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिकदर्शन। इन सभी दर्शनों का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है–

(अ) नास्तिकदर्शन–(क) इनमें सर्वाधिक प्राचीन **चार्वाक–दर्शन** माना गया है। इसीको लोकायत के नाम से भी जाना जाता है। यह वस्तुतः भौतिकवादी दर्शन है। आचार्य बृहस्पति एवं चार्वाक इसके प्रमुख आचार्य रहे हैं। यह दर्शन आत्मा, परमात्मा, परलोक आदि को स्वीकार नहीं करता है। इसके अनुसार प्रत्यक्षरूप से दिखायी देने वाला जगत् ही सब कुछ है। अतः व्यक्ति इस संसार में जब तक जीवित रहे तब तक उसे सुखपूर्वक जीने का ही प्रयास करना चाहिए। दुःखों से हमेशा दूर रहना चाहिए, क्योंकि शरीर की मृत्यु के बाद जला दिए जाने पर इसका पुनः इस संसार में आगमन कैसे हो सकता है?

1. विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य लेखककृत भारतीयदर्शन–मूलअवधारणाएँ।

(२) **जैनदर्शन** भी नास्तिकदर्शनों के अन्तर्गत ही आता है। प्रथम शती के 'उमा स्वाति' इसके प्राचीन आचार्य माने गए हैं तथा पञ्चम शती में स्थित 'सिद्धसेन दिवाकर' को जैनन्याय के प्रणेता के रूप में जाना जाता है। इसके अतिरिक्त अकलंकदेव, विद्यानन्द, प्रभासचन्द्र, हेमचन्द्र सूरि, मल्लिसेन आदि इस दर्शन के प्रमुख आचार्य हैं। इस दर्शन में जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म समस्याओं पर विचार किया गया है। इसका अनेकान्तवाद का सिद्धान्त सर्वाधिक प्रसिद्ध है, जो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से वस्तु के अलग-अलग रूपों की सत्यता का प्रतिपादन करता है। इस विचारधारा में कुल चौबीस तीर्थंकर हुए, जिनमें प्रथम ऋषभदेव तथा अन्तिम भगवान् महावीर माने गए हैं।

जैनदर्शन के अन्तर्गत तीर्थंकरों के उपदेश तथा जैन साधुओं के चरित्र को विशेष महत्ता प्रदान की गई है। इसके प्रमुखतया दो सम्प्रदाय हैं–(अ) श्वेताम्बर एवं (ब) दिगम्बर। यहाँ पञ्च परमेष्ठियों की पूजा का विधान किया गया है। जिनमें अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु आते हैं। दिगम्बरजैन साधु पूर्णतया नग्न रहते हैं तथा श्वेताम्बर श्वेतवस्त्र धारण करते हैं। इस दर्शन में अहिंसा का सर्वाधिक महत्त्व है। किसी भी प्राणी को मन, वचन अथवा कर्म द्वारा कष्ट पहुँचाना यहाँ हिंसा के अन्तर्गत माना गया है। इसके अतिरिक्त यह दर्शन पुनर्जन्म, कर्म तथा स्याद्वाद के सिद्धान्तों को भी मान्यता प्रदान करता है।

(३) **बौद्धदर्शन** भी नास्तिकदर्शन के अन्तर्गत माना गया है। इसके मुख्यतया चार सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है–(1) वैभाषिक, (2) सौत्रान्तिक, (3) विज्ञानवादी तथा (4) शून्यवादी। पालिभाषा में लिखे गए त्रिपिटक ग्रन्थों में इस दर्शन के सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। द्वितीय शती में स्थित 'नागार्जुन' इसके प्राचीन आचार्य हैं। इसके अतिरिक्त वसुबन्ध, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, कमलशील, रत्नकीर्ति तथा ज्ञानश्री मिश्र आदि भी प्रसिद्ध आचार्य हैं। इन आचार्यों द्वारा लिखे गए प्रमाण-समुच्चय, प्रमाण-वार्तिक, न्यायबिन्दु, हेतु-बिन्दु, तत्त्वसंग्रह तथा तत्त्वसंग्रहपञ्चिका इस दर्शन के आधारभूत ग्रन्थ माने गए हैं।

यह दर्शन सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत स्वीकार नहीं करता है। साथ ही अवयवों से भिन्न अवयवी की सत्ता को भी नहीं मानता है। बुद्ध ने इसे जनमानस में प्रतिष्ठापित किया तथा संसार को दुःखमय मानते हुए निर्वाण का मार्ग प्रशस्त किया। इसके अनुसार दुःख का मूलकारण

तृष्णा है। इसलिए इच्छाओं के निरोध से ही दु:ख की निवृत्ति सम्भव है। सम्यक्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक्वाक्, सम्यक्कर्म, सम्यक्आजीव, सम्यक्व्यायाम, सम्यक्स्मृति, सम्यक्समाधि इसके प्रमुख आठ मार्ग हैं। इसके मत में निर्वाण द्वारा ही व्यक्ति पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

(ब) आस्तिकदर्शन–वेदों में आस्था प्रदर्शित करके उन्हें प्रमाणरूप में प्रस्तुत करने वाले आस्तिकदर्शनों की संख्या छ: है–

(१) पूर्वमीमांसा–आचार्य जैमिनी इसके प्रणेता माने गए हैं। यह वेद को स्वत: प्रमाणरूप में स्वीकार करता है। वेदसम्मत होने पर भी यह ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता है। इसके अनुसार सृष्टि अनादि एवं नित्य है। अत: इसके कर्ता के रूप में ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, किन्तु वैदिक क्रियाओं के सम्पादन हेतु यहाँ वैदिकदेवों की परिकल्पना को मान्यता प्रदान की गई है।

कर्म एवं कर्मफल के बीच सम्बन्ध स्थापित करने हेतु यहाँ अपूर्व नामक तत्त्व की मौलिक कल्पना की गई है। शबरस्वामी, प्रभाकरभट्ट, कुमारिलभट्ट एवं पार्थसारथि मिश्र इस दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य हैं। इस दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द के अतिरिक्त उपमान तथा अनुपलब्धि प्रमाणों को भी मान्यता प्रदान की गई है। यद्यपि सभी आचार्य इस सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य वस्तुत: कर्मकाण्ड एवं यज्ञादि विषयक वैदिकवाक्यों की व्याख्याओं के नियमों का प्रतिपादन करना रहा है। मोक्ष हेतु यहाँ कर्म एवं ज्ञान दोनों की ही आवश्यकता बतायी गयी है।

इस दर्शन के आद्यग्रन्थ जैमिनीय सूत्र में 16 अध्याय 90 अधिकरण तथा 2644 सूत्र हैं, जिन पर शबरस्वामी ने उत्कृष्टभाष्य की संरचना की।

(२) उत्तरमीमांसा (वेदान्तदर्शन)– आचार्य बादरायण विरचित 'ब्रह्मसूत्र' इसका आधारग्रन्थ है। इसी का दूसरा नाम 'वेदान्तसूत्र' भी है। इस दर्शन के प्रमुख आधार उपनिषद् ग्रन्थ रहे हैं, क्योंकि उन्हीं के वाक्यों को यहाँ पद-पद पर उद्धृत किया गया है। ब्रह्म, जीव, जगत् और माया इस दर्शन के प्रमुख विवेच्य रहे हैं। ब्रह्मसूत्र पर लिखा गया आचार्य शङ्कर का 'शारीरकभाष्य' इस दर्शन का अद्भुत ग्रन्थ माना गया है। इसमें ब्रह्मसूत्रों की अद्वैतवादी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। इस भाष्य के महत्त्व का इसी से

पता चलता है कि इसपर भी अनेक विद्वान् आचार्यों द्वारा अनेक टीकाएँ एवं व्याख्याएँ प्रस्तुत की गईं। वाचस्पति की 'भामती टीका' इनमें विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

इसके अतिरिक्त श्रीहर्ष का खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखाचार्य की तत्त्वदीपिका, विद्यारण्यस्वामी की पञ्चदशी, विवरणप्रमेयसंग्रह, जीवनमुक्ति-विवेक, मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि, अप्पयदीक्षित का सिद्धान्त-लेश संग्रह इस दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ हैं, किन्तु सदानन्द विरचित वेदान्तसार को सरलतम होने के कारण सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई।

इस दर्शन के अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत एवं शुद्धाद्वैत आदि सम्प्रदाय भी हैं। ये सभी वैष्णव-वेदान्त के नाम से जाने जाते हैं। 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से प्रसिद्ध उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्र सभी वेदान्त सम्प्रदायों के प्रमुख आधारग्रन्थ हैं। ब्रह्म एवं जीव का ऐक्य प्रतिपादन करना इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य रहा है।

(३) सांख्यदर्शन–महर्षि कपिल इसके प्रवर्तक आचार्य हैं। पुरुष एवं प्रकृति इन दो तत्त्वों को यहाँ नित्य माना गया है। इसलिए इसे द्वैतवादी दर्शन भी कहा जाता है। पुरुष चेतन एवं प्रकाशस्वरूप है, जबकि सत्त्व, रजस् एवं तमस् की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। इसे जड़ माना गया है। पुरुष का प्रकाश जब इसपर पड़ता है तो ये तीनों गुण एक-दूसरे को दबाने लगते हैं, परिणामस्वरूप सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इस क्रम में सबसे पहले महत् अर्थात् बुद्धि उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् महत् से अहंकार उत्पन्न होता है।

इसी अहंकार से श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण (पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ), वाक्, पाणी, पाद, पायु और उपस्थ (पञ्चकर्मेन्द्रियाँ), शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध (पञ्चतन्मात्राएँ) तथा मन यह सोलह का गण उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् इन्हीं पञ्चतन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी इन पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति मानी गई है। इसप्रकार यह दर्शन कुल 25 तत्त्वों को मान्यता प्रदान करता है। इसके अनुसार इन्हीं पच्चीस तत्त्वों के सम्यक्ज्ञान से व्यक्ति को मोक्षप्राप्ति होती है।

ज्ञानप्राप्ति के लिए यहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द इन तीन प्रमाणों की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है। सत्कार्यवाद इस दर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। जिसके अनुसार कारण में कार्य की उपस्थिति को पहले से ही

स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त यह दर्शन पुरुष बहुत्व के सिद्धान्त को भी मान्यता प्रदान करता है। ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न करने के कारण इसे 'निरीश्वर सांख्य' भी कहा जाता है। तत्त्वों की संख्या को अत्यधिक महत्व प्रदान करने के कारण इसे सांख्यदर्शन कहा गया।

आसुरि, पञ्चशिख, विन्ध्यवासी, जैगीषव्य, वार्षगण्य आदि इस दर्शन के प्रमुख आचार्य माने गए हैं तथा सांख्यसूत्र, षष्टितन्त्र, अर्वाचीन सांख्यसूत्र, समाससूत्र प्रसिद्धग्रन्थ हैं, किन्तु इन सभी में सर्वाधिक लोकप्रिय ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका रही है। जिसपर गौडपादभाष्य, माठरवृत्ति, जयमंगला, युक्तिदीपिका तथा वाचस्पतिमिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि प्रमुख टीकाएँ लिखी गईं।[1]

(४) योगदर्शन–भारतीयदर्शनों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इसके प्रणेता आचार्य महर्षि पतञ्जलि रहे हैं। अतः उनके द्वारा विरचित 'योगसूत्र' इस दर्शन का आधारग्रन्थ है। इसी ग्रन्थ पर लिखा गया 'व्यासभाष्य' सर्वाधिक प्रामाणिक व्याख्याग्रन्थ माना गया है। जिसपर आचार्य वाचस्पतिमिश्र की 'तत्त्ववैशारदी' तथा आचार्य विज्ञानभिक्षु की 'योगवार्तिक' दो प्रसिद्ध टीकाएँ उपलब्ध हैं। इसके अलावा भोजवृत्ति, मणिप्रभा आदि व्याख्याग्रन्थ भी योगसूत्रों पर लिखे गए।

यह दर्शन वस्तुतः सांख्य के सिद्धान्तों को ही स्वीकार करता है, अन्तर केवल इतना ही है कि यह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है, सांख्य नहीं। इसीकारण कुछ विद्वानों ने इसे 'सेश्वर सांख्य' की संज्ञा प्रदान की है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति, ये पाँच चित्त की प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं तथा चित्त की इन प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करना ही योग है–'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**'। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये आठ योग के अंग माने गए हैं। इनके निरन्तर अभ्यास से चित्त की वृत्तियाँ स्वतः ही विलीन हो जाती हैं। बस इसी स्थिति में चित्त की एकाग्रता से यह दर्शन कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति स्वीकार करता है।

(५) न्यायदर्शन– बुद्धि को तीक्ष्ण, परिष्कृत एवं विशद बनाने वाले तर्कप्रधान न्यायदर्शन के प्रवर्तक आचार्य गौतम माने गए हैं। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा पदार्थ की परीक्षा करना ही न्याय है। इसके लिए 'आन्विक्षिकी'

---

1. विस्तृत अध्ययन हेतु द्रष्टव्य लेखककृत सांख्यकारिका 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या गौडपादभाष्य सहित -प्रकाशक संस्कृतग्रन्थागार, दिल्ली-1998

शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। यहाँ प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थों को मान्यता प्रदान की गई है। यह दर्शन आत्मा को गुणों का आश्रय मानता है। इसके अनुसार आत्मा के जीवात्मा और परमात्मा दो भेद होते हैं तथा आत्मा, शरीर, इन्द्रियाँ, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग ये सभी प्रमेय विषय हैं।

यह दर्शन जगत् की सत्ता में परमाणु को समवायी तथा ईश्वर को निमित्तकारण मानता है तथा आगमप्रमाण के माध्यम से ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करता है। अन्य दर्शनों के समान ही यह जीवन का अन्तिम लक्ष्य दुःखों की हमेशा के लिए निवृत्ति मानता है। उसी को यहाँ मोक्ष माना गया है।

आचार्य गौतम के अतिरिक्त गंगेश उपाध्याय, वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पतिमिश्र, जयन्तभट्ट, उदयनाचार्य, रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ, जगदीश, गदाधर भट्ट आदि उल्लेखनीय आचार्यों ने इस दर्शन के साहित्य में श्रीवृद्धि की है। इनमें भी आचार्य केशवमिश्र की तर्कभाषा को यहाँ विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई।

(६) **वैशेषिकदर्शन**–'विशेष' नामक एक विलक्षण पदार्थ को मानने के कारण इसे वैशेषिक कहा गया। सर्वदर्शनसंग्रह में इसे 'औलूक्य दर्शन' भी कहा गया है। तदनुसार इसके प्रणेता 'उलूक' नामक आचार्य थे। महर्षि कणाद को भी इसका प्रणेता माना जाता है। जैन लेखक राजशेखर ने न्यायकन्दली टीका में जनश्रुति के आधार पर इस सम्बन्ध में अपनी सम्मति इसप्रकार दी है–

"कणाद मुनि की तपस्या से प्रसन्न होकर परमपिता परमात्मा ने स्वयं उलूक के रूप में अवतरित होकर उन्हें इस दर्शन के सिद्धान्तों का उपदेश दिया था। इसीलिए इसे औलूक्य दर्शन कहा जाता है।"

इसके अनुसार–पृथिवी, तेज, जल, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हैं। इनमें पृथिवी, तेज, वायु और आकाश भौतिक हैं। आत्मा के अस्तित्व, स्वरूप, सृष्टि तथा मोक्ष के सम्बन्ध में यह दर्शन न्याय के साथ मतैक्य रखता है। इस दर्शन के सिद्धान्तों का निरूपण प्रशस्तपाद नामक ग्रन्थ में भलीप्रकार किया गया है। तत्पश्चात् उदयनाचार्य, श्रीधराचार्य,

व्योमशिवाचार्य आदि प्रमुख विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण टीकाओं का भी प्रणयन किया।

(घ) वेदान्तदर्शन के मूलस्रोत—वेदान्तदर्शन को भी अत्यन्त प्राचीन कहा जा सकता है, क्योंकि विश्व के सर्वाधिक प्राचीनग्रन्थ ऋग्वेद में इसके मूलस्रोत के दर्शन होते हैं। यद्यपि वहाँ यह व्यवस्थितरूप में प्रस्तुत नहीं हुआ है तथापि वहाँ इसके बीज अवश्य देखे जा सकते हैं। विश्व की संरचना एवं संचालन के लिए ब्रह्म, ईश्वर और जीव इन तीन तत्त्वों को वहां स्पष्टरूप से स्वीकार किया गया है। पुरुषसूक्त के आरम्भ में वर्णित आदिपुरुष, वेदान्त के ब्रह्म के सामर्थ्य से मेल खाता है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।। (10/90/1)

इसीप्रकार आदिपुरुष से उत्पन्न विराट्पुरुष जो वेदान्त का ईश्वर है तथा उसका आश्रय लेकर उत्पन्न हुआ, पुरुष ही जीवात्मा अर्थात् वेदान्त का जीव है—

तस्माद् विराळजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः।। (10/90/5)

इसीप्रकार—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं विश्वं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।(1/164/20)

यहाँ वर्णित विश्व, वेदान्त की माया तथा 'पिप्पल' उसके भोगने योग्य पदार्थ हैं। भोगने वाला पक्षी वेदान्त का 'जीव' तथा न भोगने वाला दूसरा पक्षी ईश्वर है। अतः ऋग्वेद में वेदान्त के तत्त्वों को सहज ही स्वीकार किया जा सकता है।

हाँ इतना अवश्य है कि वेदान्तदर्शन के प्रकरणग्रन्थ वेदान्तसार के समान व्यवस्थित वेदान्तसिद्धान्तों के हमें यहाँ दर्शन नहीं होते हैं, किन्तु वेदान्तदर्शन का चिन्तन वैदिकसंहिताओं एवं ब्राह्मणग्रन्थों से आरम्भ हो चुका था, इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है। इस तथ्य की पुष्टि हेतु कुछ अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं। ऋग्वेद के नासदीयसूक्त में वेदान्त की माया के रजस् एवं तमोगुण का उल्लेख हुआ है—

नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् (ऋ. 10/129/1)
तम आसीत्तमसा गूळमग्रे (वही—10/129/3)

इसी सूक्त के अग्रिम मन्त्र में प्रयुक्त 'सत्' को विद्वानों ने 'सत्त्व' गुण के अर्थ में प्रयुक्त माना है–

सतो बन्धुमसति निरविन्दन् (ऋ. 10/129/4)

इसके अतिरिक्त 'पुरुष एवेदं सर्वम्' (ऋ. 10/90/2) तथा 'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्' इत्यादि मन्त्रों में सम्पूर्ण सृष्टि के स्वामी, सत्यस्वरूप, प्रकाशमय, आनन्दस्वरूप ईश्वर अथवा 'ब्रह्म' के दर्शन भी किए जा सकते हैं। इसप्रकार सूक्ष्मरूप से अन्वेषण करने पर ऋग्वेद के मन्त्रों में अनेकस्थलों पर वेदान्त के सिद्धान्तों एवं तत्त्वों को मूलरूप में सहज ही देखा जा सकता है। इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि वेदान्त के सिद्धान्तों का पल्लवन संहिता एवं उपनिषद्काल के बीच ब्राह्मणग्रन्थों के समय में हुआ होगा, तभी उपनिषदों तक आते-आते हमें इस दर्शन का परिष्कृत एवं व्यवस्थितरूप देखने को मिलता है। जिसका हम आगे संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(ङ) उपनिषदों में वेदान्तदर्शन–उपनिषद् अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या को कहते हैं। वेद का अन्तिम भाग होने से इसे वेदान्त भी कहा जाता है। 'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम्' परिभाषा के अनुसार उपनिषदों को प्रमाणरूप में मानकर चलने वाला शास्त्र वेदान्तदर्शन माना गया है। इस दृष्टि से उपनिषदों का स्वतः ही महत्त्व सिद्ध हो जाता है। उपनिषद् शब्द से ज्ञानकाण्ड के विशाल दार्शनिकसाहित्य का बोध होता है। जिसकी सृष्टि वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुई।

उपनिषद् शब्द 'उप' एवं 'नि' उपसर्गपूर्वक सद् धातु से क्विप् प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। अतः अर्थ की दृष्टि से भी यह शब्द वेदान्तदर्शन के लक्ष्य को ही इंगित करता है, क्योंकि इनके अनुशीलन से मुमुक्षुओं की संसारबीजरूपी अविद्या नष्ट हो जाती है तथा मनुष्य के गर्भवास, जन्म, जरा, मृत्यु आदि विषयक दुःख सर्वथा शिथिल हो जाते हैं और उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से उपनिषद् एवं वेदान्तदर्शन को अभिन्न माना जा सकता है। इसीकारण वेदान्तदर्शन का प्रतिपादन करते हुए विद्वान् आचार्यों ने पदे-पदे उपनिषद्वाक्यों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है।

अब प्रश्न उठता है कि प्राप्त उपनिषदों की संख्या तो 220 के लगभग है तो क्या सभी में वेदान्तदर्शन के सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है? इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि उपलब्ध उपनिषदों में से

लगभग 20 उपनिषद् सर्वाधिक प्राचीन माने गए हैं। शेष बहुत बाद की रचनाएँ हैं। ब्राह्मणग्रन्थों के अन्त में जुड़े हुए उपनिषद् सर्वाधिक प्राचीन कहे जा सकते हैं। जिनकी संख्या लगभग छः है–

(1) ऐतरेय उपनिषद् (ऐतरेय ब्राह्मण, ऋग्वेद सम्बन्धी)

(2) कौषीतकि उपनिषद् (कौषीतकि ब्राह्मण, ऋग्वेद सम्बन्धी)

(3) तैत्तिरीय उपनिषद् (कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक विषयक)

(4) बृहदारण्यकोपनिषद् (शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण विषयक)

(5) छान्दोग्योपनिषद् (सामवेद की ताण्ड्यशाखा से सम्बन्धित छान्दोग्य ब्राह्मण में)

(6) केनोपनिषद् (सामवेद की तलवकार शाखा से जुड़े जैमिनीय ब्राह्मण में)

यद्यपि ये सभी छः उपनिषद् भारतीयदर्शन के विकास की प्रारम्भिक अवस्था को प्रदर्शित करते हैं तथापि इन सभी में वेदान्तदर्शन अपने शुद्ध एवं मूलरूप में सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे उपनिषद् भी हैं जो वेदान्तदर्शन का विवेचन तो करते हैं, किन्तु उतने परिशुद्ध रूप में नहीं, वहाँ उनमें सांख्य एवं योगदर्शन के तत्त्वों के भी दर्शन होते हैं। इनकी संख्या लगभग आठ है–

(1) कठोपनिषद् (काठक संहिता, कृष्णयजुर्वेद विषयक)

(2) श्वेताश्वतरोपनिषद् (तैत्तिरीय संहिता, कृष्णयजुर्वेद विषयक)

(3) महानारायणोपनिषद् (तैत्तिरीय संहिता, कृष्णयजुर्वेद विषयक)

(4) ईशोपनिषद् (वाजसनेयी संहिता, शुक्लयजुर्वेद विषयक)

(5) मुण्डकोपनिषद् (अथर्ववेद सम्बन्धी)

(6) प्रश्नोपनिषद् (अथर्ववेद सम्बन्धी)

(7) मैत्रायणी उपनिषद् (कृष्ण–यजुर्वेद विषयक) अपेक्षाकृत अर्वाचीन।

(8) माण्डूक्योपनिषद् (अथर्ववेद सम्बन्धी) अपेक्षाकृत अर्वाचीन।

इसप्रकार उपर्युक्त 14 उपनिषद् वेदान्तदर्शन की आधारशिला माने गए हैं। इसीलिए वेदान्तदर्शन के भाष्यकारों एवं टीकाकारों ने इन्हीं के वाक्यों को पदे–पदे उद्धृत किया है। उपनिषदों का यही साहित्य 'वेदान्त' भी कहा जाता है, जो सूक्ष्मदृष्टि से उपयुक्त भी प्रतीत होता है क्योंकि वेदान्तदर्शन

का सम्पूर्ण कलेवर ही उपनिषद् है। विद्वानों ने वेदान्त को उपनिषद् के पुत्र की संज्ञा दी है। वस्तुतः वेदान्तदर्शन के जो सिद्धान्त उपनिषदों में इतस्ततः असम्बद्ध अवस्था में बिखरे पड़े हैं। तर्क की कसौटी पर कसे नहीं गए हैं। उन्हीं सिद्धान्तों को वेदान्तदर्शन में सुसम्बद्धरूप में रखा गया है तथा उन्हें तर्क की कसौटी पर कसा गया है। इसीप्रकार का मन्तव्य आचार्य शङ्कर ने भी अभिव्यक्त किया है–

वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्।
वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते॥

(ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य)

अतः वेदान्तदर्शन के गहन अध्ययन हेतु उपर्युक्त उपनिषदों का अवलोकन अत्यावश्यक है।

(च) वेदान्तदर्शन के प्रमुख आचार्य एवं उनके ग्रन्थ–जैसाकि हमने अभी उल्लेख किया कि उपनिषदों में वेदान्तदर्शन के सिद्धान्तों का असम्बद्धरूप में प्रयोग हुआ है। उन्हें सर्वप्रथम व्यवस्थितरूप देने का श्रेय आचार्य बादरायण को जाता है। जिन्होंने ब्रह्मसूत्र नामक ग्रन्थ की संरचना की। इस दृष्टि से विद्वानों ने इन्हें वेदान्तदर्शन का संस्थापक अथवा प्रणेता आचार्य भी कहा है। ब्रह्मसूत्र पर अनेक विद्वानों ने वैदुष्यपूर्णभाष्य करके इस दर्शन के साहित्य की श्रीवृद्धि की। अनेक ग्रन्थ स्वतन्त्ररूप से भी लिखे गए। वस्तुतः वेदान्तदर्शन पर इतने विपुल साहित्य की रचना की गई यदि उसका विस्तार से उल्लेख किया जाए तो अपने आप में विशालग्रन्थ का ही निर्माण हो जाए, किन्तु हम यहाँ इनका अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं।

वेदान्तदर्शन के आचार्यों का व्यवस्थितरूप से अध्ययन हम इन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित करके कर सकते हैं। प्रथम वे आचार्य जिनका महर्षि बादरायण के ब्रह्मसूत्र में नामोल्लेख हुआ है। द्वितीय, आचार्य शङ्कर के पूर्ववर्ती आचार्य। तृतीय, आचार्य शङ्कर के परवर्ती आचार्य। अब हम इनका क्रमशः उल्लेख करते हैं।

(१) आचार्य बादरायण–इस दर्शन के प्रणेता आचार्य माने गए हैं। विद्वानों ने इनका समय 400 ई.पू. के लगभग निर्धारित किया है। महर्षि बदर का वंशज होने के कारण इन्हें इस नाम से जाना जाता है। (प्राचीन चरित्र कोश–पृ० 505)। भारतीयपरम्परा इन्हें तथा महर्षि पराशर के पुत्र

कृष्णद्वैपायन वेदव्यास को एक ही स्वीकार करती है। इन्होंने वेदान्तदर्शन के प्रसिद्धग्रन्थ ब्रह्मसूत्र की संरचना की। इसके चार अध्याय, सोलह पाद, एक सौ बानवे अधिकरणों में पांच सौ पचपन सूत्र हैं। इसीको उत्तरमीमांसा, बादरायणसूत्र, ब्रह्ममीमांसा, वेदान्तसूत्र, व्याससूत्र, तथा शारीरकसूत्र के नाम से भी जाना जाता है।

इस ग्रन्थ में बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कौषीतकि, ऐतरेय, मुण्डक, प्रश्न, श्वेताश्वतर एवं जाबाल आदि उपनिषद्ग्रन्थों में प्राप्त वाक्यों पर विचार किया गया है। इसके प्रथम अध्याय में स्पष्ट, अस्पष्ट एवं संदिग्ध श्रुतियों का ब्रह्म में समन्वय किया गया है। द्वितीय अध्याय में अन्य दार्शनिक मतों का दोषप्रदर्शन करके युक्तिपूर्वक वेदान्तमत की स्थापना की गई है। तृतीय अध्याय में जीव और ब्रह्म का लक्षण करते हुए उसे मुक्ति का बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग साधन बताया गया है। चतुर्थ अध्याय में जीवन्मुक्ति, जीव की उत्क्रान्ति तथा सगुण-निर्गुण उपासना का दिग्दर्शन कराया गया है।

इन सूत्रों का प्रमुख उद्देश्य उपनिषदों के तत्त्वज्ञान का समन्वय करना है। इसमें सामान्यरूप से पहले पूर्वपक्ष की स्थापना पुनः सिद्धान्तपक्ष का प्रस्तुतीकरण, इस रचनापद्धति को अपनाया गया है, किन्तु कुछ स्थलों पर पहले सिद्धान्तपक्ष देकर बाद में पूर्वपक्ष को भी प्रस्तुत किया गया है। इसे 'प्रतिलोम पद्धति कहते' हैं।

ब्रह्मसूत्र के अनेकभाष्य प्रचलित हैं। जिनमें शङ्कराचार्य का शारीरक-भाष्य, रामानुजाचार्य का श्रीभाष्य, मध्वाचार्य का पूर्णप्रज्ञभाष्य प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त भास्कराचार्य ने भास्करभाष्य, निम्बार्काचार्य ने वेदान्तपारिजात, श्रीकण्ठ ने शैवभाष्य, श्रीपति ने श्रीकरभाष्य, बल्लभाचार्य ने अणुभाष्य, विज्ञानभिक्षु ने विज्ञानामृत तथा आचार्य बलदेव ने गोविन्दभाष्य की भी संरचना की।[1]

इस ग्रन्थ में अनेकस्थलों पर महर्षि बादरायण का अन्यपुरुष के रूप में उल्लेख किया गया है। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने इन सूत्रों का रचयिता उन्हें मानने में आपत्ति प्रदर्शित की है, किन्तु डॉ॰ राधाकृष्णन् आदि प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वानों ने इस आधार पर इस मन्तव्य का खण्डन किया है कि ग्रन्थकार द्वारा स्वयं का उल्लेख अन्यपुरुष में करने की प्राचीन भारतीयपरम्परा रही है। अतः यह विचार मान्य नहीं है।

---

1. भूमिका– ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, प्रकाशक : गोविन्दमठ, वाराणसी

(i) **बादरायण विरचित ब्रह्मसूत्र में उल्लिखित आचार्य**—महर्षि बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में पूर्वकालिक अनेक आचार्यों के मतों की विवेचना उनके नामोल्लेखपूर्वक की है, किन्तु उन आचार्यों के ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। इनमें आत्रेय के नाम का उल्लेख एक बार (3/4/44) आश्मरथ्य का दो बार (1/2/19, 1/4/20), औडुलोमि का तीन बार (1/4/2, 3/4/45, 4/4/6), कार्ष्णाजिनि का एक बार (3/1/9), काशकृत्स्न का एक बार (1/4/22), जैमिनि का ग्यारह बार तथा बादरि पराशर का चार बार (1/2/30, 3/1/11, 4/3/7, 4/4/10) किया है। अब हम इनका संक्षेप में विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

(2) **आचार्य आत्रेय**—ब्रह्मसूत्रकार ने एक स्थल पर इनके नाम का उल्लेख करते हुए "यजमान को ही यज्ञ की अङ्गभूत उपासना का फल प्राप्त होता है, ऋत्विक् को नहीं। इसलिए सम्पूर्ण उपासनाएँ स्वयं यजमान को ही करनी चाहिए, पुरोहित के माध्यम से इन्हें सम्पादित नहीं कराना चाहिए" इत्यादि मत का खण्डन आचार्य औडुलौमि के मत को प्रमाणरूप में उद्धृत करके किया है।

आचार्य जैमिनि ने भी अपने मीमांसादर्शन में (5/2/18) आचार्य कार्ष्णाजिनि के मत का खण्डन करने के लिए आचार्य आत्रेय के मत का सिद्धान्तरूप में उल्लेख किया है। साथ ही उन्होंने बादरि के वैदिककर्म में सर्वाधिकार के मत का खण्डन करने के लिए भी आत्रेय के मत को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है। (6/1/26) इस दृष्टि से ये मूलतः पूर्वमीमांसा के आचार्य प्रतीत होते हैं तथा साथ ही महर्षि बादरायण से पूर्व में इनकी स्थिति सिद्ध होती है।

बृहदारण्यकोपनिषद् 2/6/3 में इनका मांटी के शिष्यरूप में, ऐतरेय ब्राह्मण (8/22) में अंगराज के पुरोहितरूप में इस नाम का उल्लेख हुआ है। किन्तु ये तीनों एक ही व्यक्ति हैं अथवा अलग-अलग, इस सम्बन्ध में निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता है।

(३) **आचार्य आश्मरथ्य**—आचार्य जैमिनि ने मीमांसादर्शन में इनके मत का उल्लेख करके उसका खण्डन किया है। अतः इन्हें निःसंदेह वेदान्त का आचार्य स्वीकार किया जा सकता है। आश्मरथ का वंशज होने के कारण इनका यह नाम पड़ा (प्राचीन चरित्रकोश-पृ॰ 63)। सूत्रग्रन्थों में भी इनके नाम का उल्लेख मिलता है (आश्वलायन श्रौत्रसूत्र-6/10)। ब्रह्म के लिए

वैश्वानर शब्द के प्रयोग प्रसङ्ग में ब्रह्मसूत्र में इनके नाम का दो बार उल्लेख हुआ है (1/2/21, 1/4/20)। अनेक विद्वान् इन्हें द्वैताद्वैत मत का सर्वाधिक प्राचीन आचार्य मानते हैं। ये परमात्मा और विज्ञानात्मा में भेदाभेद के समर्थक रहे।

आचार्य शङ्कर एवं भामतीकार वाचस्पतिमिश्र ने इन्हें विशिष्टाद्वैतवादी सिद्ध किया है। इनके अनुसार परमेश्वर अनन्त होने पर भी उपासक के ऊपर अनुग्रह करने हेतु प्रदेशमात्र स्थान में प्रकट होते हैं। आगे चलकर इनके भेदाभेदवाद का यादवप्रकाश आदि द्वारा पल्लवन किया गया।

(४) आचार्य औडुलौमि–ये परमतत्त्वज्ञानी थे। केवल ब्रह्मसूत्र में ही इनके नाम का उल्लेख हुआ है– (1/4/21, 3/4/45, 4/4/6)। मीमांसासूत्रकार ने इनके नाम का कथन नहीं किया है। ये भी वेदान्त के आचार्य तथा भेदाभेदवाद के समर्थक विद्वान् थे। इनके अनुसार–सांसारिक स्थिति में जीव और ब्रह्म में भेद होता है, किन्तु मुक्ति की स्थिति में इन दोनों में अभेद होता है।

मीमांसक आचार्य आत्रेय के मत का खण्डन करने के लिए महर्षि बादरायण ने इनके मत का नामोल्लेखपूर्वक कथन किया है। ब्रह्मसूत्र में एक स्थल पर (4/4/51) ग्रन्थकार ने आचार्य जैमिनि के इस मत को प्रदर्शित करके कि–'मुक्त व्यक्ति ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त होता है, वह निष्पाप, सर्वज्ञ तथा ऐश्वर्य आदि का अधिकारी हो जाता है' औडुलौमि के इस मत द्वारा खण्डन किया है कि 'चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप है। इसलिए वह मुक्ति की अवस्था में चैतन्यमात्र को ही प्राप्त होता है। सत्य संकल्पत्व, सर्वज्ञत्व तथा सर्वेश्वरत्व आदि धर्मों की स्थिति उसमें नहीं रहती है।

(५) आचार्य काष्र्णाजिनि–ये आचार्य बादरायण एवं महर्षि जैमिनि से पूर्ववर्ती आचार्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि ब्रह्मसूत्र में एक स्थल पर (3/1/9) तथा जैमिनिसूत्र में दो स्थलों पर (4/3/17, 6/7/35) इनके नाम का उल्लेख हुआ है। ब्रह्मसूत्रकार ने इनके मत का उल्लेख अपने मत के समर्थन में–पृथ्वी पर जीव के पुनरागमन के प्रसङ्ग में किया है। तदनुसार जीव अपने अवशिष्ट कर्मों (अनुशयभूत कर्म) के साथ ही पृथ्वी पर आता है। ये अवशिष्टकर्म ही उसकी अन्य योनि में कारण होते हैं। जबकि मीमांसासूत्रकार ने इनके मत का खण्डन करते हुए इनके नाम का उल्लेख किया है।

अतः इन्हें निःसन्देह वेदान्त का आचार्य स्वीकार किया जा सकता है। इन्होंने कार्ष्णाजिनि नामक स्मृतिग्रन्थ की भी रचना की। इसलिए इनका उल्लेख धर्मशास्त्र के इतिहास में भी किया गया है। डॉ॰ पी॰वी॰ काणे ने मुख्य स्मृतिकार एवं उपस्मृतिकारों के अतिरिक्त 21 अन्य स्मृतिकारों में इनके नाम की गणना करते हुए वीरमित्रोदय का उद्धरण प्रस्तुत किया है–

वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुश्च पितामहः।
विष्णुः कार्ष्णाजिनिः सत्यव्रतो गार्ग्यश्च देवलः॥

(परिभाषा प्र॰, पृ॰ 18)

पैठीनसि, हेमाद्रि, माधवाचार्य आदि ग्रन्थकारों ने भी कार्ष्णाजिनि स्मृति का उल्लेख किया है (प्राचीन चरित्रकोश–पृ॰ 137)। इसके अतिरिक्त मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका तथा श्राद्धविषयक अन्य ग्रन्थों में भी इनके नाम का कथन किया गया है। राशियों के चिह्नों के विषय में इनके द्वारा विरचित एक श्लोक अपरार्क में भी दिया गया है। (प्राचीन चरित्रकोष, पृ. 137)। ये महर्षि बादरि के मत के समर्थक रहे।

(६) आचार्य काशकृत्स्न– आचार्य जैमिनि ने अपने पूर्वमीमांसादर्शन में इनके नाम का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु आचार्य बादरायण ने इनके मत का समर्थन करते हुए ब्रह्मसूत्र में एक स्थल पर (1/4/22) इनके नाम का कथन किया है। अतः ये भी बादरायण से पूर्ववर्ती आचार्य सिद्ध होते हैं। ये अद्वैतवादी थे। इनके अनुसार–परमब्रह्म ही जगत् का मुख्य कारण है तथा प्रलयावस्था में यह उसी में समाविष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त जीव ब्रह्म का विकार नहीं है, अपितु सृष्टि के समय अविकृत् ब्रह्म ही जीव रूप में विद्यमान रहता है।

आचार्य शङ्कर ने इनके मत को श्रुतिसम्मत माना है–"काशकृत्स्नस्याचार्यस्य अविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम् तत् काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते, अतिपादयिषितार्थानुसारात् 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिभ्यः' (ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य-1/4/22)

(७) आचार्य जैमिनि–ये कृष्णद्वैपायन व्यास के सामवेद के शिष्य थे। इन्होंने पूर्वमीमांसादर्शन के प्रसिद्धग्रन्थ जैमिनिसूत्र की संरचना की। ये आचार्य बादरायण के समकालीन प्रतीत होते हैं, क्योंकि मीमांसादर्शन के सिद्धान्तों का ब्रह्मसूत्र में तथा ब्रह्मसूत्र के सिद्धान्तों का मीमांसादर्शन में खण्डन देखने को मिलता है। अनेकस्थलों पर मीमांसादर्शन ने ब्रह्मसूत्र के

सिद्धान्तों को ग्रहण भी किया है। इनके पुत्र का नाम सुमन्तु तथा पौत्र का नाम सत्वान था।

इन्होंने सामवेद की राणायनीय नामक शाखा के जैमिनीय नामक नवम भेद की संरचना की। इस संहिता को कर्नाटक में विशेष सम्मान प्राप्त है। (प्राचीन चरित्रकोष, पृ. 236)। इसीप्रकार जैमिनीय ब्राह्मण तथा जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण नामक सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों का भी इन्होंने प्रणयन किया। ये दोनों ही ग्रन्थ आज भी विद्यमान हैं।

इसके अलावा इन्होंने जैमिनिसूत्र, जैमिनिनिघण्टु, जैमिनिपुराण, ज्येष्ठ-माहात्म्य, जैमिनिभागवत, जैमिनिभारत, जैमिनिगृह्यसूत्र, जैमिनिसूत्रकारिका, जैमिनिस्तोत्र तथा जैमिनिस्मृति इत्यादि ग्रन्थों की भी संरचना की। ये सामवेदी श्रुतर्षि थे। साथ ही ब्रह्माण्ड पुराण के प्रवर्तक ऋषियों की परम्परा में भी इनके नाम का उल्लेख मिलता है।

आचार्य जैमिनि द्वारा विरचित 'जैमिनिसूत्र', 'पूर्वमीमांसा' अथवा 'कर्ममीमांसा' नाम से भी प्रसिद्ध है। यज्ञसम्बन्धी वाक्यों का अर्थविषयक मतभेद दूर करके अभिप्राय प्रदर्शित करना ही इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन है। इन्हीं सूत्रों से 'वाक्यार्थविचारशास्त्र' की उत्पत्ति मानी गयी है। इस ग्रन्थ के ग्यारह अध्यायों में कुल 2500 सूत्र हैं। सूत्रग्रन्थों में इन्हें सर्वाधिक प्राचीन माना गया है।

'जैमिनिसूत्रों' के ऊपर उपवर्ष की वृत्ति, शाबरभाष्य, प्रभाकरभट्ट की बृहती, कुमारिलभट्ट का वार्तिक, पार्थसारथिमिश्र की शास्त्रदीपिका, मण्डनमिश्र के विधिविवेक तथा भावनाविवेक, खण्डदेव की भाट्टदीपिका आदि व्याख्याग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। (प्राचीन चरित्रकोष, पृ. 236)। आचार्य जैमिनि ने यज्ञों में प्रयुक्त होने वाले ब्राह्मणग्रन्थों की वाक्यार्थों की अन्विति करने के लिए सूत्रों की रचना की, जिन्हें 'जैमिनिसूत्र' कहा गया। इसीकारण इसे पूर्वमीमांसा नाम से भी जाना गया। जबकि आचार्य बादरायण विरचित 'ब्रह्मसूत्र' में वेद के उत्तरभाग के रूप में प्रसिद्ध उपनिषद्वाक्यों का विचार किया गया है। अतः इसे उत्तर-मीमांसा के रूप में ख्याति प्राप्त हुई।

(८) आचार्य बादरि–इनके मत का उल्लेख ब्रह्मसूत्र में पुनर्जन्म के विषय में छान्दोग्योपनिषद् के कथन 'तद् य इह रमणीयचरणाः' के सम्बन्ध में विविध आचार्यों के मत का उल्लेख करने के प्रसङ्ग में किया गया है।[1]

1. ब्रह्मसूत्र-1/2/30, 3/1/11, 4/3/7, 4/4/10

इसके अतिरिक्त मीमांसासूत्रकार ने भी चार स्थलों पर (3/1/3, 6/1/27, 8/3/6, 9/2/30) नाम का उल्लेख करते हुए पूर्वपक्ष के रूप में खण्डन के लिए इनके मत का उल्लेख किया है। जबकि आचार्य बादरायण ने अपने मत के समर्थन में इन्हें प्रस्तुत किया है। अतः स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि ये वेदान्तदर्शन के आचार्य थे तथा तात्कालिक समय में अत्यधिक प्रसिद्ध थे।

जैमिनिसूत्र में निर्दिष्ट बादरि नामक आचार्य तथा महर्षि बादरायण वस्तुतः दोनों भिन्न व्यक्ति थे, क्योंकि बादरायण के मतों के विपरीत बादरि के अनेक मतों का निर्देश 'बादरिसूत्रों' में हुआ है।[1] आचार्य बादरायण ने देह का भाव और अभाव दोनों को स्वीकार किया है, जबकि आचार्य बादरि देह की अभावयुक्त अवस्था को ही मान्यता प्रदान करते हैं। यह मत वैभिन्य दोनों आचार्यों के भिन्न-भिन्न होने की सम्भावना की पुष्टि करता है।

यत्र तत्र उल्लिखित सिद्धान्तों के आधार पर इनकी मान्यताओं को संक्षेप में इसप्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं–

(क) अवशिष्टशोभन अथवा अशोभन कर्मों के साथ ही जीवात्मा इस संसार में पुनरागमन करता है।

(ख) यद्यपि परमेश्वर महान् हैं, फिर भी प्रदेशमात्र हृदय अर्थात् मन द्वारा उनका स्मरण किया जा सकता है।

(ग) छान्दोग्य उपनिषद् के वाक्य 'स एनान् ब्रह्म गमयति' में प्रयुक्त ब्रह्म पद से अभिप्राय कार्य ब्रह्म से है, क्योंकि परब्रह्म तो सर्वत्र है। उसे प्राप्त करने हेतु लोकोत्तर में जाने की आवश्यकता नहीं है।

(घ) गतिश्रुति बल से कार्यब्रह्म अर्थात् सगुणब्रह्म की ही प्राप्ति हो सकती है। वस्तुतः अमानव पुरुष ही ब्रह्म की प्राप्ति कराने में सक्षम हैं।

(ङ) वेदज्ञानी पुरुष के शरीर आदि नहीं होते हैं तथा मुक्तपुरुष निरिन्द्रिय तथा शरीरविहीन होते हैं।

(च) वैदिककर्म करने का सभी को अधिकार है।

(ii) आचार्य शङ्कर के पूर्ववर्ती वेदान्तदर्शन के आचार्य–महर्षि बादरायण के ब्रह्मसूत्र में उल्लेख किए गए उक्त आचार्यों के अतिरिक्त

1. ब्रह्मसूत्र 4/4/10-12

पश्चाद्वर्ती अन्यान्य ग्रन्थों में भी वेदान्तदर्शन के कुछ आचार्यों के नाम का कथन किया गया है, जिनमें भर्तृप्रपञ्च, भर्तृहरि, भर्तृमित्र, उपवर्ष, बोधायन, ब्रह्मनन्दी, टङ्क, ब्रह्मदत्त, भारुचि, सुन्दरपाण्ड्य, आचार्य गौडपाद एवं आचार्य गोविन्द विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। अब हम इनका संक्षेप में विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं–

(१) आचार्य भर्तृप्रपञ्च–इन्होंने कठोपनिषद् एवं बृहदारण्यकोपनिषद् पर भाष्य की संरचना की। ये प्रमाणसमुच्चयवादी आचार्य के रूप में विख्यात थे। इनके मत में लौकिकप्रमाण और वेद दोनों ही सत्य हैं। इसलिए इन्होंने लौकिकप्रमाणगम्यभेद तथा वेदगम्य अभेद दोनों को सत्य रूप में स्वीकार किया है। इनकी सम्मति में जिसप्रकार केवल कर्म मोक्ष का साधन नहीं होता है। ठीक उसीप्रकार केवल ज्ञान भी मोक्ष प्रदान नहीं करा सकता है। अतः मोक्षप्राप्ति के लिए ज्ञान-कर्म-समुच्चय ही उत्कृष्ट साधन है।

उनके अनुसार-मोक्ष दो प्रकार का होता है (1) अपवर्ग (2) ब्रह्मभाव की प्राप्ति। इसी शरीर से ब्रह्मसाक्षात्कार होने की स्थिति में अपवर्ग होता है। जबकि देहपात के पश्चात् ही साधक को ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है। ब्रह्म में जीव का लय होने के कारण ही इसे 'ब्रह्मभावापत्ति' कहा गया है। इसीको 'परामुक्ति' भी कहते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि सुरेश्वराचार्य एवं आनन्दगिरि के समय में आचार्य भर्तृप्रपञ्च का ग्रन्थ उपलब्ध था, क्योंकि इन आचार्यों द्वारा इनके मत की प्रस्थापना एवं व्याख्या की शैली से इस बात की पुष्टि होती है। शङ्कराचार्य ने अपने बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य में भर्तृप्रपञ्च के लिए परिहास रूप में 'औपनिषदमन्य' पद का प्रयोग किया है, किन्तु इससे उनके महत्त्व में किसीप्रकार की कमी नहीं होती है। वस्तुतः तात्कालिक समय में दार्शनिकक्षेत्र में इनके पाण्डित्य का पर्याप्त प्रभाव था। इसीकारण शङ्कराचार्य के साक्षात् शिष्यों ने भी अपने ग्रन्थों में 'सम्प्रदायवित्' एवं 'ब्रह्मवादी' कहकर इनकी प्रशंसा की है।

उनके मत में–'परमार्थ एक भी है और अनेक भी। ब्रह्मरूप में वह एक है तथा जगत् के रूप में अनेकरूपों वाला है। इसीकारण उन्होंने ज्ञान एवं कर्म दोनों की सार्थकता को स्वीकार किया। उनकी दृष्टि में जीव में विद्या, कर्म तथा पूर्वकर्म के संस्कार विद्यमान रहते हैं। परमात्मा से अभिव्यक्त हुई

अविद्या, जीव में विकार उत्पन्न करती हुई अनात्मस्वरूप अन्तःकरण में धर्मभाव से विद्यमान रहती है।

उनके विचार में परममोक्ष प्राप्त करने से पूर्व जीव हिरण्यगर्भभाव को प्राप्त होते हैं, जो वस्तुतः मुक्तावस्था न होकर मोक्ष की पूर्वकालीन अवस्थामात्र है। इस अवस्था में परमात्मा का सान्निध्य हमेशा के लिए विद्यमान रहता है। काम, वासना आदि जीव के धर्म हैं। ब्रह्म एक होने पर भी समुद्र की तरङ्ग के समान द्वैताद्वैत है। जिसप्रकार अद्वैतभाव सत्य है, ठीक उसीप्रकार द्वैत भी सत्य है।

(१०) आचार्य भर्तृमित्र—जयन्तभट्ट कृत न्यायमञ्जरी में पृ॰ 213 से 226 तक तथा यामुनाचार्य के सिद्धित्रय में पृ॰ 4-5 में नामोल्लेखपूर्वक इनके सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया है। इसके आधार पर इन्हें वेदान्तदर्शन का आचार्य माना जा सकता है। इनके नाम से मीमांसादर्शन पर भी एक ग्रन्थ उपलब्ध होता है। कुमारिलभट्ट ने अपने श्लोकवार्तिक में अनेकस्थलों पर इनके नाम का उल्लेख किया है (1/1/1/10, 1/1/6/130-131)। साथ ही टीकाकार पार्थसारथि मिश्र ने भी अपनी न्याय रत्नाकर नामक टीका में इसीप्रकार का अभिप्राय अभिव्यक्त किया है।

कुमारिलभट्ट के अनुसार—भर्तृमित्र इत्यादि आचार्यों के अपसिद्धान्तों के प्रभाव से मीमांसाशास्त्र लोकायतवत् हो गया। इसलिए विशिष्टाद्वैत दर्शन के ग्रन्थों में उल्लिखित भर्तृमित्र तथा श्लोकवार्तिक में कहे गए मीमांसक भर्तृमित्र एक ही व्यक्ति थे अथवा अलग-अलग, यह निश्चयपूर्वक कहना अत्यन्त कठिन है, किन्तु कुमारिलभट्ट की समालोचना के आधार पर इन्हें भिन्न व्यक्ति मानना ही उचित प्रतीत होता है। आचार्य मुकुलभट्ट ने भी अपने 'अभिधावृत्तिमातृका' नामक ग्रन्थ में इनके नाम का उल्लेख किया है (पृ॰ 17)।

(११) आचार्य भर्तृहरि—यामुनाचार्य के ग्रन्थ 'सिद्धित्रय' में इनके नाम का भी उल्लेख किया गया है। ये प्रसिद्ध वैयाकरण थे। इन्हें महर्षि पतञ्जलि के व्याकरण महाभाष्य का सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक टीकाकार माना गया है। महाभाष्य पर लिखी गयी इनकी टीका 'महाभाष्य प्रदीप' ने विद्वानों में विशिष्टस्थान प्राप्त किया। इनके नाम से वाक्यपदीय, वाक्यपदीय के पहले दो काण्डों पर 'स्वोपज्ञटीका', वेदान्तसूत्रवृत्ति, मीमांसा

सूत्रवृत्ति ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।[1] विद्वानों ने शृङ्गारशतक, नीतिशतक एवं वैराग्यशतक के रचयिता राजा भर्तृहरि को इनसे भिन्न माना है।[2]

पुण्यराज के अनुसार–आचार्य भर्तृहरि के गुरु का नाम वसुरात था। चीनी यात्री इत्सिंग ने इन्हें बौद्धधर्मावलम्बी स्वीकार किया है। उनके अनुसार इन्होंने सात बार प्रवृज्या ग्रहण की थी, किन्तु कुछ विद्वान् इन्हें वैदिक धर्मावलम्बी स्वीकार करते हैं।[3] वाक्यपदीय व्याकरणविषयक ग्रन्थ होने पर भी प्रसिद्ध दार्शनिकग्रन्थ है। निःसंदेहरूप से इसका आधार वेदान्तदर्शन के अद्वैतसिद्धान्त को ही स्वीकार किया जा सकता है।

कुछ विद्वानों के मत में आचार्य मण्डनमिश्र ने आचार्य भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित शब्दब्रह्मवाद का आश्रय लेकर ही अपने 'ब्रह्मसिद्धि' नामक ग्रन्थ की संरचना की। जिसपर वाचस्पतिमिश्र द्वारा विरचित ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा नाम की टीका मिलती है। काश्मीरीय शिवाद्वैत के प्रमुख आचार्य, उत्पलाचार्य के गुरु आचार्य सोमानन्द ने अपने 'शिवदृष्टि' नामक ग्रन्थ में भर्तृहरि के शब्दाद्वयवाद की विशेषरूप से समालोचना की है। इसके अतिरिक्त शान्तरक्षित कृत तत्त्वसंग्रह, अविमुक्तात्मकृत इष्टसिद्धि तथा जयन्तकृत न्यायमञ्जरी में भी शब्द–अद्वैतवाद का विस्तारपूर्वक उल्लेख मिलता है।

उत्पलाचार्य एवं सोमानन्द के वचनों से ज्ञात होता है कि आचार्य भर्तृहरि एवं उनके सिद्धान्त का अनुकरण करने वाले शब्दब्रह्मवादी दार्शनिकविद्वान् 'पश्यन्तीवाक्' को ही शब्दब्रह्म का स्वरूप स्वीकार करते थे। इस वाक् को विश्व के नियामक एवं अन्तर्यामी चित् तत्त्व से अभिन्न माना गया है। आचार्य भर्तृहरि ने ब्रह्म को यथार्थसत्ता मानते हुए, शब्द एवं ब्रह्म में अभिन्नता प्रतिपादित करते हुए सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म का विवर्त स्वीकार किया है–

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
निवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

---

1. प्राचीन चरित्रकोश-चित्राव, पृ. 553
2. वही।
3. संस्कृत व्याकरण का इतिहास-युधिष्ठिर मीमांसक- पृ0 257

उनके अनुसार–व्याकरण के सिद्धान्तों के अध्ययन एवं मनन द्वारा मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। इनके परवर्ती आचार्य, मण्डनमिश्र ने इनके सिद्धान्तों एवं मान्यताओं से प्रभावित होकर स्फोटसिद्धि नामक ग्रन्थ की संरचना की। प्रो॰ मैक्समूलर ने आचार्य भर्तृहरि को ईसा की सप्तम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्थित माना है।

(12) **आचार्य उपवर्ष**–शङ्कराचार्य[1] एवं शबरस्वामी के भाष्य[2] में इनके नाम का उल्लेख हुआ है। वहाँ इनके लिए सम्मानजनक 'भगवान्' शब्द का प्रयोग तात्कालिक समय में इनके गौरव तथा श्रेष्ठता को सिद्ध करता है। साथ ही इससे यह भी प्रतीत होता है कि इन्होंने पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा दोनों पर ही अपनी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की संरचना की थी।

मणिमेखले नामक तमिलभाषा में लिखे गए एक प्राचीनग्रन्थ में आचार्य जैमिनि तथा व्यास के साथ ही आठ प्रमाणों को मान्यता प्रदान करने वाले 'कृत्कोटि' नामक आचार्य के नाम का उल्लेख हुआ है। इनके साथ उपवर्ष आचार्य का सम्बन्ध स्थापित करने का विद्वानों ने प्रयास किया है। जो न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि आचार्य उपवर्ष वस्तुतः अन्य मीमांसकों एवं वेदान्तियों के समान केवल छः प्रमाणों को ही मान्यता प्रदान करते हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इन्हें 200 ई॰ के लगभग स्थित माना है।

(१३) **आचार्य बौधायन**–वेदार्थसंग्रह में गुरुदेव, कपर्दी, टङ्क तथा आचार्य भारुचि के साथ इनके नाम का भी उल्लेख मिलता है। डॉ. थीबो आदि विद्वानों का विचार है कि इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर एक वृत्ति की संरचना की थी। यद्यपि इस समय यह कृति उपलब्ध नहीं है तथापि रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य में इसके उद्धरण प्राप्त होते हैं। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जैकोबी ने इनका मीमांसासूत्र पर वृत्ति लिखना स्वीकार किया है।[3] ये कल्पसूत्रों के प्रवर्तक आचार्य बौधायन से भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त प्रपञ्चहृदय नामक

---

1. "इत एव चाकृष्याचार्येण शबरस्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम्। अत एव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्रे आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम इत्युद्धास्कृतः।" (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य-3/3/53)
2. अथ गौरित्यत्र शब्दः गकारौकारविसर्जनीयः इति भगवानुपवर्षः।
   (मीमांसा शबरभाष्य-1/1/5)
3. जरनल ऑफ दॉ अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी-पृ0 17-191

ग्रन्थ से भी यह बात सिद्ध होती है कि इनके द्वारा निर्मित वेदान्तवृत्ति का नाम कृतकोटि था (प्रपञ्चहृदय-त्रिवेन्द्रम-पृ॰ 39) अनेक विद्वानों ने इन्हें द्रविड़ देश का निवासी स्वीकार किया है।[1]

(१४) आचार्य टङ्क–आचार्य रामानुज ने वेदान्तसंग्रह में इनके नाम का उल्लेख किया है। ये विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के समर्थक थे। कुछ विद्वान् ब्रह्मनन्दी आचार्य के साथ इनकी अभिन्नता का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु इस विषय में निश्चितरूप से कुछ भी कहना कठिन है।

(१५) आचार्य ब्रह्मनन्दी–आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने संक्षिप्त शारीरक टीका में (3/117) इनके नाम का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सम्भवतः अद्वैतवेदान्त के आचार्य थे तथा प्राचीन वेदान्त साहित्य में छान्दोग्य वाक्यकार अथवा केवल वाक्यकार के नाम से प्रसिद्ध थे, क्योंकि इन्होंने वाक्य नामक छान्दोग्यव्याख्यान की संरचना की थी। जिसपर द्रमिडाचार्य ने भाष्य लिखा। जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं, कुछ विद्वानों ने आचार्य टङ्क के साथ इनकी अभिन्नता प्रतिपादित की है।

(१६) आचार्य ब्रह्मदत्त–शङ्कराचार्य के पूर्ववर्ती वेदान्ताचार्यों में इनके नाम का उल्लेख भी प्राप्त होता है। ये अद्वैतवादी आचार्य थे (नैष्कर्म्यसिद्धि-1/68)। शङ्कराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् (1/4/7) के भाष्य में भी इनके मत का उल्लेख किया है। प्राचीन वेदान्ताचार्य आश्मरथ्य के भेदाभेद के सिद्धान्त से इनके मत की अनुकूलता प्रतीत होती है, क्योंकि उन्होंने ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति तथा मुक्ति की स्थिति में उसका उसी में लीन होना स्वीकार किया है। जबकि ब्रह्मदत्त ने भी जीव की उत्पत्ति एवं विनाश की स्थिति को मान्यता प्रदान की है।

इनके अनुसार–अज्ञान की निवृत्ति भावनाजन्य ज्ञान से ही होती है, औपनिषदिकज्ञान मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि इस ज्ञान के प्राप्त करने के पश्चात् भी जीवनपर्यन्त भावना आवश्यक है। इनके मत में–शरीर के रहने पर भी उपाय के माध्यम से देवता का साक्षात्कार सम्भव है, किन्तु उसके साथ मिलन देह के अभाव में ही सम्भव है। इसप्रकार प्रारब्धकर्मों से प्राप्त की हुई देह उपास्य के साथ उपासक के मिलन में बाधक है।[2]

---

1. प्राचीन चरित्रकोश, पृ. 525
2. बृहदारण्यकोपनिषद् वार्तिक-पृ0 1357 तथा नैण्कर्म्यसिद्धिटीका-'चन्द्रिका'-पृ0 1-67

जिसप्रकार मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग की प्राप्ति होती है। उसीप्रकार देह छूटने के पश्चात् ही मोक्ष भी सम्भव है।

(१७) आचार्य भारुचि–आचार्य रामानुज ने अपने वेदान्तसंग्रह में पृ० 154 पर प्राचीन वेदान्ताचार्यों का उल्लेख करते हुए इनके नाम का सर्वप्रथम उल्लेख किया है। इन आचार्यों के नाम हैं–भारुचि, टङ्क, बोधायन, गुहदेव, कपर्दिक तथा द्रमिलाचार्य। इसीप्रकार विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा टीका में (1/18, 2/124) माधवाचार्य की पराशर संहिता टीका में (2/3, पृ० 510) तथा सरस्वतीविलास आदि ग्रन्थों में आचार्य भारुचि के नाम का कथन किया गया है।

मिताक्षरा का समय विद्वानों ने 1050 ई० निर्धारित किया है। अतः इनका काल इससे पूर्व सिद्ध होता है। डा० पी० वी० काणे ने धर्मशास्त्र के इतिहास में इनका समय नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना है।[1] श्री निवासदास ने यतीन्द्रमत दीपिका में अन्य वेदान्ताचार्यों के नामोल्लेख के प्रसङ्ग में इनका भी कथन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने आचार्य विष्णुकृत धर्मसूत्र के ऊपर टीका की संरचना की थी। कुछ विद्वान् धर्मशास्त्रकार भारुचि तथा वेदान्ताचार्य भारुचि को भिन्न मानते हैं, किन्तु काणे महोदय ने दोनों के एक होने की सम्भावना व्यक्त करते हुए इन्हें विश्वरूप का समकालीन माना है।[2]

(१८) द्रविडाचार्य–ये भी प्राचीन वेदान्ताचार्य थे। इन्होंने छान्दोग्योपनिषद् पर अत्यन्त वृहद्भाष्य की संरचना की। साथ ही बृहदारण्यकोपनिषद् पर भी भाष्य लिखा। अपने माण्डूक्योपनिषद् भाष्य में (2/32, 2/20) आचार्य शङ्कर ने इन्हें 'आगमवित्' कहकर सम्मानित किया है तथा बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य में 'सम्प्रदायवित्' कहकर सम्बोधित किया है। इन सम्बोधनों से तात्कालिक समय के दार्शनिक विद्वानों में इनके गौरव की अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि शङ्कराचार्य ने कहीं भी इनके मत का खण्डन नहीं किया है। इनका दूसरा नाम द्रमिलाचार्य भी मिलता है। ये अद्वैतमत के समर्थक थे। इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्य ने अपने वेदान्तसंग्रह में भी इनके नाम का उल्लेख किया है। विद्वानों ने यामुनाचार्य

1. धर्मशास्त्र का इतिहास-पी0 वी0 काणे- पृ0 68 प्रथम भाग-हिन्दी अनुवाद।
2. वही

के सिद्धित्रय में आये 'भाष्यकृत' शब्द का सम्बन्ध इन्हीं द्रविडाचार्य से माना है–

"भगवता बादरायणेन इदमर्थमेव सूत्राणि प्रणीतानि विवृतानि च परिमितगम्भीरभाष्यकृता" (सिद्धित्रय-यामुनाचार्य)

(१९) गौडपादाचार्य–इन्हें अद्वैतवेदान्त का प्रथम प्रवर्तक एवं प्रधान आचार्य माना गया है, क्योंकि अद्वैतवेदान्त की गुरुपरम्परा अत्यन्त प्राचीन होते हुए भी इसके सिद्धान्तों का क्रमबद्धरूप में प्रस्थापन एवं प्रतिपादन इन्हीं के द्वारा किया गया। कुछ विद्वानों ने इन्हें बौद्धदर्शन से प्रभावित माना है। इनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ विशेषबात नहीं मिलती, किन्तु शङ्कराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य के नैष्कर्म्यसिद्धि नामक ग्रन्थ से केवल इतना ज्ञात होता है कि ये गौड़प्रदेश के निवासी थे। विद्वानों ने इन्हें ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के पूर्वभाग में स्थित माना है, जिसका आधार इनके ग्रन्थों में बौद्धमत का स्पष्टरूप से उल्लेख न होना रहा है।

इन्होंने माण्डूक्योपनिषद् पर प्रसिद्ध कृति 'माण्डूक्यकारिका' की संरचना की। जिसपर शङ्कराचार्य ने भाष्य की रचना की तथा इसी कारिका पर मिताक्षरा नामक टीका भी मिलती है। परवर्ती आचार्यों ने इस कारिका को प्रमाणरूप में स्वीकार किया है। इस ग्रन्थ को चार प्रकरणों में विभाजित किया गया है (1) आगम (2) नैतथ्य (3) अद्वैत (4) अतीत शान्ति।

इनका दूसरा ग्रन्थ 'उत्तरगीताभाष्य' मिलता है। उत्तरगीता महाभारत का ही एक अंश है, किन्तु यह अंश महाभारत की सभी प्रतियों में उपलब्ध नहीं होता। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका पर भी आचार्य गौडपाद का भाष्य उपलब्ध है,[1] किन्तु विद्वानों ने इन्हें पूर्वगौडपाद से भिन्न माना है, क्योंकि सांख्यकारिका के भाष्यकार आचार्य गौडपाद का समय ईसा की सप्तम शताब्दी माना गया है।[2]

आचार्य गौडपाद अद्वैतवाद के प्रमुख आचार्य थे। अपनी कारिकाओं में उन्होंने जिन सिद्धान्तों को बीजरूप में प्रदर्शित किया, उन्हीं को आचार्य शङ्कर ने अपने ग्रन्थों में सरलशैली में प्रतिपादित किया। कारिकाओं में निर्दिष्ट उनके मत को विद्वानों ने 'अजातवाद' की संज्ञा प्रदान की।

---

1. लेखककृत सांख्यकारिका 'चन्द्रिका' व्याख्या- संस्कृत ग्रन्थागार, दिल्ली-1998
2. वही, भूमिका, पृ0 33

इनके अनुसार–वस्तुतः जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई, एकमात्र अखण्ड–चिद्घन सत्ता ही मोहवश प्रपञ्चवत् प्रतीत हो रही है–

मनोदृश्यमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥
न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्ष र्न वै मुक्त इत्येष परमार्थता॥

अर्थात् उत्पत्ति, प्रलय, बद्धता, साधकत्व, मुमुक्षत्व एवं मुक्तभाव ये सभी परमार्थ नहीं है। जिसप्रकार रज्जु में सर्प, सीपी में चांदी तथा स्वर्ण में आभूषणों की प्रतीति होती है, ठीक उसीप्रकार माया की महिमा द्वारा सर्वसङ्गशून्य निर्विशेष चित् तत्त्व में ही समस्त पदार्थों की प्रतीति हो रही है। अतः एकमात्र वही वस्तु सत् एवं परमार्थ है।

(२०) आचार्य गोविन्दपाद–ये आचार्य गौडपाद के शिष्य तथा शङ्कराचार्य के गुरु थे। शङ्कराचार्य की जीवनी से केवल इनका नर्मदातट-निवासी होना सिद्ध होता है। ये अपने समय के उद्भट विद्वान् थे। इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है।

(२१) शङ्कराचार्य एवं उत्तरवर्ती वेदान्ताचार्य–शङ्कराचार्य को अद्वैतवाद का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। अद्वैतमत को शाङ्करमत या शाङ्करदर्शन भी कहते हैं। ब्रह्मसूत्र पर उपलब्ध भाष्यों में सर्वाधिक प्राचीन शाङ्करभाष्य माना जाता है। आचार्य शङ्कर की प्रामाणिक जीवनी का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु परवर्तीकाल में उनके जीवन की घटनाओं का कहीं-कहीं संकलन किया गया है। जिनमें आनन्दगिरि की शङ्करदिग्विजय, चिद्विलास की शङ्करविजय तथा माधवाचार्य की संक्षिप्त शङ्करजय मुख्य हैं। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर हम उनके विषय में यहाँ विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं–

शङ्कराचार्य का जन्म केरल प्रदेश की पूर्णा नदी के तटवर्ती ग्राम कलादी में वैशाख शुक्ल 5 को 788 ई० में हुआ। इनके पिता का नाम शिवगुरु तथा माता का नाम सुभद्रा था। भगवान् शङ्कर की आराधना से पुत्रप्राप्ति होने के कारण उन्होंने इनका नाम भी शङ्कर रखा। बालक शङ्कर बाल्यावस्था से ही अद्भुत प्रतिभा एवं स्मरणशक्ति के धनी थे अतः सात वर्ष की अवस्था तक इन्होंने वेद, वेदान्त और वेदाङ्गों का विधिवत् अध्ययन

कर लिया। इनकी असाधारण प्रतिभा से सभी गुरुजन प्रभावित एवं आश्चर्यचकित थे।

विद्याध्ययन समाप्त करने के पश्चात् घर लौटकर इन्होंने माता से संन्यास ग्रहण करने की अनुमति मांगी। मात्राज्ञा प्राप्त कर आठ वर्ष की अवस्था में ये घर से निकल पड़े क्योंकि शङ्कर माता के बहुत बड़े भक्त थे उनकी अनुमति के बिना, उन्हें कष्ट देकर संन्यास लेना नहीं चाहते थे। घर से प्रस्थान करने के बाद उन्होंने नर्मदा के तट पर स्वामी गोविन्दपाद से शिक्षा ग्रहण की। उन्होंने इनका नाम पूज्यपादाचार्य रखा। गुरु की कृपा से शीघ्र ही ये बहुत बड़े योगसिद्ध महात्मा हो गए। उनकी सिद्धि से प्रसन्न होकर गुरु ने इन्हें काशी जाकर वेदान्तसूत्र पर भाष्य लिखने की आज्ञा दी। जहाँ उनके वैदुष्य की ख्याति बढ़ने लगी और लोग उनके पास आकर उनका शिष्यत्व ग्रहण करने लगे।

विद्यार्णव नामक ग्रन्थ के अनुसार उनके शिष्यों की संख्या 14 थी। जिनमें पाँच संन्यासी तथा नौ गृहस्थ थे। इनके प्रथम शिष्य का नाम पद्मपाद था। शेष चार संन्यासी शिष्यों में शङ्कर, बोध, गीर्वाण तथा आनन्दतीर्थ का नाम उल्लेखनीय है। सुन्दर, विष्णुशर्मा, लक्ष्मणमल्लिकार्जुन, त्रिविक्रम, श्रीधर, कपर्दी, केशव और दामोदर इनके गृहस्थ शिष्य थे। काशी में रहते हुए इन्होंने सभी विरुद्ध मतावलम्बियों को परास्त किया तथा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य की संरचना की।

वहाँ से कुरुक्षेत्र होते हुए ये बदरिकाश्रम गए। जहाँ उन्होंने कुछ अन्य ग्रन्थों की रचना की। उन्होंने अपनी 12 वर्ष की अवस्था से सोलह वर्ष की अवस्था तक सभी ग्रन्थों की रचना की। वहाँ से चलकर ये प्रयाग गए, जहाँ कुमारिलभट्ट से इनकी मुलाकात हुई। वहाँ से मगध की माहिष्मती नगरी में मण्डनमिश्र के पास शास्त्रार्थ हेतु गए। मण्डनमिश्र की पत्नी भारती शास्त्रार्थ में निर्णायक के रूप में रहीं। अन्त में मण्डनमिश्र की पराजय होने के पश्चात् उन्होंने आचार्य शङ्कर का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। ये ही आगे चलकर सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रख्यात हुए।

मगधविजय करके शङ्कराचार्य दक्षिण के ओर गए। जहाँ उन्होंने शैव और कापालिकों को परास्त किया। वहाँ से चलकर दक्षिण में तुङ्गभद्रा के तट पर

मन्दिर बनवा कर उसमें शारदादेवी की स्थापना की। इसके साथ ही स्थापित मठ कोश्रृंगेरीमठ के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हुई तथा अपने शिष्य सुरेश्वराचार्य को इस मठ में आचार्य पद पर नियुक्त किया। इन्हीं दिनों माता की मृत्यु निकट जानकर माता को दियें वचन के अनुसार वापस घर आकर माता की अन्त्येष्टिक्रिया सम्पन्न की। इनके पिता का देहान्त इनकी तीन वर्ष की आयु में ही हो गया था।

पुनः श्रृंगेरीमठ में वापस आए तथा वहाँ से पुरी जाकर गोवर्धनमठ की स्थापना की एवं अपने प्रथम शिष्य पद्मपादाचार्य को मठाधिपति नियुक्त किया। चोल एवं पाण्ड्यदेश के राजाओं की सहायता से इन्होंने दक्षिण में शाक्त, गाणपत्य तथा कापालिक सम्प्रदाय के अनाचारों को दूर किया। तत्पश्चात् इन्होंने उत्तरभारत की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में उज्जैन में होने वाली भैरवों की भीषणसाधना को बन्द किया। पुनः गुजरात आकर द्वारकामठ की स्थापना करके अपने शिष्य हस्तामलकाचार्य को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया।

पुनः गांगेय प्रदेश के पण्डितों को परास्त करके काश्मीर के शारदाक्षेत्र में आकर वहाँ के पण्डितों को परास्त करके अपने मत की स्थापना की। तत्पश्चात् आसाम के कामरूप स्थान में जाकर शैवों से शास्त्रार्थ किया। पुनः बदरिकाश्रम आकर ज्योतिर्मठ की स्थापना करके अपने शिष्य तोटकाचार्य को वहाँ का मठाधीश नियुक्त किया। वहाँ से केदारक्षेत्र आए, जहाँ इन्होंने कुछ दिन बाद 32 वर्ष की आयु में निर्वाण प्राप्त किया।

यद्यपि शङ्कराचार्य के नाम से लिखे गए 272 ग्रन्थ बताए जाते हैं, किन्तु यह कहना कठिन है कि वे सभी आद्य शङ्कराचार्य द्वारा लिखे गए, क्योंकि बाद में शङ्कराचार्य उपाधिधारी विद्वानों ने भी ग्रन्थों की रचना की। जिन्होंने अपने पूरे नामों का उल्लेख नहीं किया। पुनरपि अधिकांश विद्वत्सम्मत ग्रन्थों के नाम इसप्रकार हैं–

ब्रह्मसूत्रभाष्य, उपनिषद्भाष्य (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर इत्यादि) गीताभाष्य, विष्णुसहस्रनामभाष्य, सनत्सुजातीयभाष्य, हस्तामलकभाष्य, ललितात्रिशती भाष्य, विवेकचूड़ामणि, प्रबोधसुधाकर, उपदेशसाहस्री, अपरोक्षानुभूति,

शतश्लोकी, दशश्लोकी, सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह वाक्यसुधा, पञ्चीकरण, प्रपञ्चसारतन्त्र, आत्मबोध, मनीषापञ्चक, आनन्दलहरीस्तोत्र इत्यादि।

आचार्य शङ्कर का सिद्धान्त अद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है, तदनुसार उन्होंने ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य समस्त जगत् को मिथ्या प्रतिपादित किया (ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या) एतदर्थ उन्होंने मायावाद की स्थापना की। इसे विद्वानों ने उनका अमोघमन्त्र बताया, जिसके माध्यम से उन्होंने ब्रह्म एवं जगत् विषयक पहेली को सुलझाकर विद्वानों के समक्ष रखा। उनके अनुसार सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् ब्रह्म का विवर्तमात्र है। जैसे हमें रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है, ठीक उसीप्रकार ब्रह्मतत्त्व में ही हमें जगत् की भ्रान्ति हो रही है। उन्होंने आत्मा को स्वत:सिद्ध माना।

उनके मत में मोक्ष एक व्यावहारिक सत्य है। इसे प्राप्त करने के लिए उन्होंने ज्ञान, कर्म एवं उपासना सभी की उपादेयता को स्वीकार किया। इसीकारण उनका सिद्धान्त केवल विद्वानों, ज्ञानियों एवं योगियों के लिए ही उपयोगी नहीं, अपितु सामान्यव्यक्ति के लिए भी उपयोगी सिद्ध हुआ है। आचार्य शङ्कर के परवर्ती वेदान्तदर्शन के आचार्यों की परम्परा अत्यन्त विशाल रही है। यहाँ हम उनका संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं–

(२२) पद्मपादाचार्य–ये शङ्कराचार्य के प्रथम शिष्य थे। इनका पूर्वनाम सइन्दन था। दक्षिण के चोलप्रदेश में इनका जन्म हुआ। ये गुरु के परमभक्त एवं आज्ञापालक थे। पद्मपाद नाम इन्हें शङ्कराचार्य ने दिया था। एक बार जब उग्रभैरव नामक कापालिक ने शङ्कराचार्य की बलि चढ़ानी चाही तो आचार्य पद्मपाद ने ही उसका वध किया। शङ्कराचार्य ने इन्हें पुरी के गोवर्धनमठ का अध्यक्ष बनाया। इन्होंने अपने जीवनपर्यन्त अद्वैतमत का प्रचार किया।

इनका एक अपूर्ण ग्रन्थ पञ्चपादिका, आत्मानात्मविवेक, प्रपञ्चसार तथा सुरेश्वराचार्यकृत लघुवार्तिक की टीका उपलब्ध हैं। पञ्चपादिका में शरीरक भाष्य के केवल चार सूत्रों की व्याख्या की गई है। जिसपर प्रकाशात्ममुनि की विवरण नामक टीका तथा इसपर भी अखण्डानन्दमुनि की तत्त्वदीपन नाम की टीका मिलती है। आचार्य पद्मपाद के शिष्यों में से ही दशनामी संन्यासियों की 'आश्रम' और 'अरण्य' शाखाएँ निकली हैं।

(२३) आचार्यमण्डनमिश्र–इनका अन्य नाम सुरेश्वराचार्य भी था। ये रेवा नदी के तटवर्ती प्राचीन महिष्मती के निवासी थे। मण्डनमिश्र अपने समय के मगधप्रदेश के सबसे बड़े विद्वान् और पूर्वमीमांसक थे। ऐसी मान्यता है कि पहले ये कुमारिलभट्ट के शिष्य थे तथा उन्होंने ही शङ्कराचार्य को इनसे शास्त्रार्थ करने के लिए भेजा था। आचार्य शङ्कर ने इनके घर पर पहुँच कर इनसे शास्त्रार्थ किया तथा शास्त्रार्थ में इन्हें परास्त किया। अतः शर्त के अनुसार शङ्कराचार्य का शिष्यत्व ग्रहण करके ये संन्यासी हो गए तथा विश्वरूप एवं सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए।

शङ्कराचार्य ने बाद में श्रृंगेरी मठ की स्थापना करके इन्हें वहाँ का आचार्य नियुक्त किया। सुरेश्वराचार्य पाण्डित्य के अगाध सागर थे। उनके ग्रन्थों में विचारों की प्रौढ़ता एवं क्रमबद्धता देखने को मिलती है। चित्सुख, विद्यारण्य, सदानन्द, गोविन्दानन्द, अप्पयदीक्षित आदि परवर्ती आचार्यों ने उनके वचनों को अपने ग्रन्थों में प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है।

संन्यास ग्रहण करने से पहले इन्होंने आपस्तम्बीय मण्डनकारिका, भावनाविवेक एवं काशीमोक्षनिर्णय नामक ग्रन्थों की रचना की तथा उसके पश्चात् इन्होंने तैत्तिरीयश्रुतिवार्तिक, नैष्कर्म्यसिद्धि, इष्टसिद्धि, पञ्चीकरण-वार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्वार्तिक, ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मसूत्रभाष्यवार्तिक, विधिविवेक, मानसोल्लास, लघुवार्तिक, वार्तिकसार तथा वार्तिकसारसंग्रह ग्रन्थों की संरचना की। संन्यास ग्रहण करने के बाद इन्होंने शङ्करमत का ही प्रचार किया तथा अपने ग्रन्थों में भी उन्हीं के मत का समर्थन किया।

(२४) सर्वज्ञात्ममुनि–शङ्कराचार्य द्वारा स्थापित श्रृंगेरीमठ की गद्दी पर आठवीं शताब्दी के अन्त में इन्हें पदस्थापित किया गया। इनका दूसरा नाम नित्यबोधाचार्य था। शङ्करमत के प्रचार की दृष्टि से इन्होंने 'संक्षेपशारीरक' ग्रन्थ की संरचना की। इनके गुरु का नाम देवेश्वराचार्य था। मधुसूदन सरस्वती एवं स्वामीरामतीर्थ ने सुरेश्वराचार्य से इसकी अभिन्नता प्रतिपादित की है। जो कालक्रम की दृष्टि से संगत प्रतीत नहीं होता।

श्रृंगेरीमठ के प्राचीनलेखों से इनका स्थितिकाल 758 ई० से 848 ई० प्रतीत होता है। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य के आधार पर लिखे गए 'संक्षेपशारीरक' में श्लोक एवं वार्तिक दोनों की संरचना की गई है। चार अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में 562, द्वितीय में 248, तृतीय में 365 तथा चतुर्थ में 53 श्लोक हैं। परवर्ती आचार्यों ने इसे प्रमाणरूप में स्वीकार

किया है तथा मधुसूदनसरस्वती एवं स्वामीरामतीर्थ ने इस ग्रन्थ पर टीकाएँ भी लिखी हैं।

(२५) आचार्य वाचस्पतिमिश्र–इनका जन्मस्थान मिथिला माना जाता है। इनके ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि ये अपने विषय के धुरन्धर विद्वान् तथा अद्वैतमत के प्रमुख आचार्य थे। विद्वानों ने इनका समय आठवीं शताब्दी के अन्त से लेकर नवम शती का प्रारम्भ निर्धारित किया है। इनके बाद के प्रायः सभी आचार्यों ने इनके वाक्यों को प्रमाणरूप में स्वीकार किया है। इन्होंने शङ्करभाष्य पर भामती टीका का प्रणयन किया। शङ्करमत को समझाने हेतु इसका अध्ययन अनिवार्य माना जाता है। इनके वैदुष्य से प्रभावित होकर इन्हें राजसम्मान की प्राप्ति हुई।

कहते हैं ये ग्रन्थ लिखने में इतने अधिक तल्लीन रहते थे कि इन्हें अपने आसपास का भी कोई भान नहीं रहता था। जब ये शारीरकभाष्य की टीका लिख रहे थे तो कमरे में दीपक बुझ गया। तब इनकी धर्मपत्नी भामती ने कमरे में आकर वह दीपक जलाया। उसीसमय इनका परिचय अपनी पत्नी से हुआ, तभी पत्नी ने अपने पातिव्रत्य से इन्हें परिचित कराया तो उससे प्रभावित होकर इन्होंने अपनी टीका का नाम 'भामती' रखने का निश्चय करके अपनी पत्नी को सदैव के लिए अमर बना दिया।

वाचस्पतिमिश्र ने छहों दर्शनों पर अपनी टीकाएँ लिखीं। उन्होंने वेदान्त पर 'भामती', सुरेश्वरकृत ब्रह्मसिद्धि पर 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा', सांख्यकारिका पर 'तत्त्वकौमुदी' पातञ्जलदर्शन पर 'तत्त्ववैशारदी', न्यायदर्शन पर 'न्यायवार्तिक-तात्पर्य', पूर्वमीमांसादर्शन पर 'न्यायसूचीनिबन्ध, भाट्टमत पर 'तत्त्वबिन्दु' तथा मण्डनमिश्र के विधिविवेक पर 'न्यायकणिका' नामक टीका की संरचना की। इनके ग्रन्थों में तत्तत् आचार्य के सिद्धान्तों का निष्पक्षभाव से समर्थन के साथ-साथ, उनमें मौलिकता के दर्शन भी होते हैं। शाङ्करसिद्धान्त के प्रचार में इनका बहुत बड़ा हाथ माना जाता है। ये विद्वान् ही नहीं, अपितु उच्चकोटि के साधक भी थे।

(२६) श्रीकृष्णमिश्र यति–नवम एवं दशम शती तक वेदान्त विषयक चर्चा विद्वानों तक सीमित थी, किन्तु इसका प्रभाव बढ़ने के कारण धीरे-धीरे यह सर्वसाधारण में भी लोकप्रिय होने लगी। इस दृष्टि से ग्यारहवीं शती में नाटक-काव्यादि के माध्यम से वेदान्तदर्शन को समझाने

का प्रयास आरम्भ हुआ, क्योंकि काव्यादि सर्वसाधारण पर गद्य की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होते हैं। साथ ही ये सुबोध भी होते हैं।

अतः अद्वैतमत का प्रचार करने की दृष्टि से श्रीकृष्णमिश्र ने 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक नाटक की संरचना की। इनका काल ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है। ये एक संन्यासी थे। इनके द्वारा विरचित नाटक के माध्यम से ही इनकी कवित्व शक्ति एवं दार्शनिकप्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है।

(२७) प्रकाशात्मयति–ग्यारहवीं शती में आचार्य रामानुज ने शाङ्कर मत का जोरदार खण्डन किया। उसीसमय इन्होंने शांकरमत की प्रस्थापना का प्रयास किया। इन्होंने पद्मपादाचार्य द्वारा विरचित पञ्चपादिका पर 'पञ्चपादिकाविवरण' नामक टीका का प्रणयन किया। अद्वैतसिद्धान्त की दृष्टि से यह टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, क्योंकि परवर्ती आचार्यों ने अनेकशः इसके वाक्यों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है। विद्वानों ने इनका स्थितिकाल दसवीं शताब्दी एवं तेरहवीं शताब्दी के मध्य निर्धारित किया है। इनके गुरु का नाम अनन्यानुभव था। इनके ग्रन्थों से पता चलता है कि इनके गुरु को ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ था। इनका दूसरा नाम प्रकाशानुभव था।

(२८) आचार्य अद्वैतानन्द– इनका जन्म 1149 ई० में दक्षिणभारत में स्थित कावेरीनदी के तट पर पञ्चनद नामक स्थान में हुआ। इनके पिता प्रेमनाथ तथा माता पार्वती देवी थीं। कौंडिण्य गौत्र में उत्पन्न इनका पूर्वनाम सीतानाथ था। इन्होंने सत्रह वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण किया। काञ्ची स्थित शारदामठ के अध्यक्ष भूमानन्द (चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती) इनके गुरु थे। जिन्होंने लगभग 1166 ई० में अद्वैतानन्द को अपने स्थान पर नियुक्त करके काशी के लिए प्रस्थान किया।

संन्यास लेने से पूर्व ही अद्वैतानन्द ने न्याय एवं मीमांसादर्शन में पर्याप्त निपुणता प्राप्त कर ली थी। स्वामीरामानन्द से इन्होंने शारीरकसूत्रभाष्य का अध्ययन किया, इनके प्रति अद्वैतानन्द की अगाध श्रद्धा थी। 33 वर्षों तक मठ के अध्यक्ष पद पर रहने के पश्चात् 50 वर्ष की आयु में इन्होंने सन् 1199 ई० में समाधि ग्रहण की। इन्हें चिद्विलास एवं आनन्दबोधाचार्य के नाम से जाना जाता है।

इन्होंने ब्रह्मविद्याभरण, शान्तिविवरण तथा गुरुप्रदीप आदि तीन ग्रन्थों की रचना की। इनमें ब्रह्मविद्याभरण ही प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसमें ब्रह्मसूत्र के चारों अध्यायों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में प्राय: वाचस्पतिमिश्र के मत का ही अनुकरण किया है।

(२९) श्रीहर्षमिश्र–श्रीहर्ष दार्शनिक और पण्डितकवि दोनों थे। इनके पिता का नाम श्रीहीरपण्डित तथा माता का नाम मामल्ल देवी था। माँ भगवती की उपासना के फलस्वरूप इन्हें पुत्ररत्न (श्रीहर्ष) की प्राप्ति हुई थी। ये अनन्य पितृभक्त तथा दृढ़प्रतिज्ञ थे। कहते हैं चिन्तामणिमन्त्र की सिद्धि के फलस्वरूप इन्हें समस्त विद्याओं में नैपुण्य तथा अद्भुत् वाक्चातुर्य की प्राप्ति हुई। तत्पश्चात् कान्यकुब्ज के राजा की सभा में जाकर इन्होंने शास्त्रार्थ करके राजपण्डितों को पराजित किया तथा राज्यानुकम्पा प्राप्त की। उनके आश्रयदाता राजा का नाम जयचन्द्र अथवा जयन्तचन्द्र था।

श्रीहर्ष के समय में देश में न्यायदर्शन का विशेष प्रभाव था। साथ ही दक्षिण और उत्तरभारत में रामानुज एवं निम्बार्क के मतों का भी प्रचार हो रहा था। ऐसे समय में इन्होंने अपनी अपूर्वप्रतिभा द्वारा अद्वैतमत का समर्थन किया। न्यायमत का खण्डन करने हेतु उन्होंने 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक अद्भुत एवं प्रौढ़गन्थ की संरचना की। इनका दूसरा काव्यग्रन्थ 'नैषधचरित' है। इनमें इनके अपूर्व कवित्व एवं पाण्डित्य की अभिव्यक्ति हुई है।

इनके अतिरिक्त उन्होंने अर्णववर्णन, शिवशक्तिसिद्धि, साहसाङ्कचम्पू, छन्द:प्रशस्ति, विजयप्रशस्ति, गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति, ईश्वराभिसन्धि तथा स्थैर्यविचारणप्रकरण इत्यादि ग्रन्थों की भी संरचना की। अपने ग्रन्थों में उन्होंने विशेषरूप से उदयनाचार्य के न्यायमत का खण्डन करते हुए अद्वैतमत की स्थापना की है। उनके खण्डनखण्डखाद्य को 'अनिर्वचनीयसर्वस्व' के नाम से भी जाना जाता है।

(३०) आनन्दबोधभट्टारकाचार्य–ये बारहवीं शताब्दी में विद्यमान थे। उन्होंने विभिन्नग्रन्थों से संग्रह करके 'न्यायमकरन्द' नामक ग्रन्थ की रचना की। तेरहवीं शताब्दी में विद्यमान चित्सुखाचार्य ने इस ग्रन्थ की व्याख्या प्रस्तुत की। ये संन्यासी थे। इनके जीवन की इससे अधिक कुछ बात ज्ञात नहीं है। इनके तीन ग्रन्थ प्राप्त होते हैं–(1) न्यायमकरन्द, (2) प्रमाण-माला (3) न्यायदीपावली। इन तीनों में ही इन्होंने अद्वैतमत का विवेचन किया है।

(३१) आचार्य अमलानन्द– इनका आविर्भाव दक्षिणभारत में हुआ। इन्हें देवगिरि के राजा महादेव (1260 ई० से–1271 ई०) तथा राजा रामचन्द्र का समसामयिक माना जाता है। अतः इनका स्थितिकाल तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध मानना उचित प्रतीत होता है। इनके गुरु का नाम अनुभवानन्द था। ये अद्वैतमत के समर्थक थे। इन्होंने तीन ग्रन्थों की रचना की–वेदान्तकल्पतरु, शास्त्रदर्पण तथा पञ्चपादिकादर्पण। इनमें से प्रथम में वाचस्पतिमिश्र की भामती टीका की व्याख्या की गई है। यह ग्रन्थ अद्वैतसिद्धान्त का प्रामाणिकग्रन्थ माना जाता है। द्वितीय में ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों की व्याख्या हुई है तथा तृतीय ग्रन्थ पद्मपादाचार्य की 'पञ्चपादिका' नामक ग्रन्थ की व्याख्या है। इन तीनों ग्रन्थों में भाषा प्राञ्जल तथा भावों की गम्भीरता देखने को मिलती है।

(३२) चित्सुखाचार्य–बारहवीं एवं तेरहवीं शताब्दी भारतीय दार्शनिक इतिहास में खण्डन-मण्डन का युग रहा है। इस कालावधि में द्वैत-अद्वैतवादी न्यायमत के आचार्य परस्पर एक-दूसरे के सिद्धान्तों का खण्डन करने में लगे हुए थे। इन दिनों न्यायमत का प्रभाव बढ़ रहा था। अतः बारहवीं शती में श्रीहर्ष ने न्यायमत का खण्डन किया। पुनः तेरहवीं शती के आरम्भ में आचार्य गङ्गेश ने उनके मत को काटकर पुनः न्यायमत की प्रस्थापना की। इसीप्रकार द्वैतवादी वैष्णवाचार्य भी अद्वैतमत के खण्डन में लिप्त थे।

ऐसे समय में चित्सुखाचार्य ने अद्वैतमत के समर्थन तथा न्याय आदि मतों का खण्डन करके शाङ्करमत की रक्षा की। एतदर्थ उन्होंने 'तत्त्वप्रदीपिका', 'न्यायमकरन्द' की टीका तथा खण्डनखण्डखाद्य-की टीका लिखी। इनमें तत्त्वदीपिका का दूसरा नाम चित्सुखी भी है। इसके मङ्गलाचरण के अनुसार इनके गुरु का नाम 'ज्ञानोत्तम' था। इस ग्रन्थ में इन्होंने 12वीं शती में स्थित न्यायलीलावतीकार वल्लभाचार्य के मत का खण्डन श्रीहर्ष के मत का उद्धरण देते हुए किया है। अतः इनका समय तेरहवीं शताब्दी माना गया है।

(३३) आचार्य शङ्करानन्द–चौदहवीं शताब्दी में स्थित अद्वैतवादी आचार्य शङ्करानन्द, विद्यारण्यस्वामी के शिक्षागुरु थे, क्योंकि उन्होंने पञ्चदशी एवं विवरणप्रमेयसंग्रह के मङ्गलाचरण में इन्हें गुरुरूप में प्रणाम किया है। इन्होंने शाङ्करमत के प्रचारार्थ 'ब्रह्मसूत्रदीपिका', गीता की टीका तथा 108 उपनिषदों की टीका की संरचना की। इनके ग्रन्थों के अध्ययन से इनके

अगाधपाण्डित्य की अभिव्यक्ति होती है। एक आत्मपुराण नामक ग्रन्थ भी इनके नाम से मिलता है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में सर्वत्र शङ्कराचार्य का ही अनुसरण किया है।

(३४) विद्यारण्यमुनि– इनका दूसरा नाम 'माधव' था। ये विजय नगर राज्य के संस्थापक थे। सन् 1336 ई. के लगभग इन्होंने महाराज वीर बुक्क का राजसिंहासन पर अभिषेक किया तथा स्वयं उनके प्रधानमन्त्री बने। ये बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे, क्योंकि ये उच्चकोटि के दार्शनिक, कवि, वैयाकरण, स्मृतिसंग्रहकार और राजनीतिज्ञ थे। प्रसिद्ध विशिष्टाद्वैताचार्य वेदान्तदेशिकाचार्य इनके समकालीन और बालसखा थे। इनका स्थितिकाल विद्वानों ने 1296 ई० से 1386 ई० निर्धारित किया है।

लोकमान्यता के अनुसार इनका जन्म तुंगभद्रा नदी के तटवर्ती हाम्पी नगर के पास एक गाँव में हुआ था। इनका सूत्र बोधायन तथा गोत्र भारद्वाज था 'पराशरमाधव' नामक ग्रन्थ के अनुसार इनके पिता का नाम मायण तथा माता का नाम श्रीमती था। सायण और भोगनाथ इनके दो भाई थे। ये दोनों ही भाई अत्यन्त प्रतिभाशाली थे। जिसमें सायण ने वेदों पर विद्वत्तापूर्ण भाष्यों की संरचना की। वृद्धावस्था (1377 ई०) में इन्होंने विद्यारण्यस्वामी के नाम से संन्यास ग्रहण किया। किंवदन्तियों के अनुसार इनकी मृत्यु 90 वर्ष की आयु में हुई। इन्होंने गुरुरूप में विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ एवं शङ्करानन्द को स्मरण किया है।[1]

अपने जीवनकाल में इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। जिनमें–माधवीयधातुवृत्ति (व्याकरणग्रन्थ), जैमिनीयन्यायमाला एवं उसकी टीका 'विवरण' (पूर्वमीमांसाविषयक ग्रन्थ), पराशरमाधव (स्मृतिशास्त्र-विषयक ग्रन्थ), सर्वदर्शनसंग्रह (समस्त दर्शनों का सारसंग्रह), विवरणप्रमेय-संग्रह (पद्मपादकृत पञ्चपादिकाविवरण की व्याख्या), सूतसंहिता की टीका (स्कन्दपुराण के अन्तर्गत स्थित सूतसंहिता-वेदान्त के सिद्धान्तों की व्याख्या) पञ्चदशी (अद्वैतवेदान्त का प्रकरण ग्रन्थ, 15 प्रकरण, 1500 श्लोकों में निबद्ध), अनुभूति प्रकाश (श्लोकबद्ध उपनिषद् आख्यायिकाएँ), अपरोक्षानुभूति की टीका (शङ्कराचार्य विरचित अपरोक्षानुभूति ग्रन्थ पर वैदुष्यपूर्ण टीका), जीवनमुक्तिविवेक (संन्यासियों के धर्मों का विस्तृत

---

1. पञ्चदशी एवं विवरणप्रमेय संग्रह– मंगलाचरण।

निरूपण), ऐतरेयोपनिषद् दीपिका (शांकरभाष्यानुसारी व्याख्या), तैत्तिरीयोपनिषद्दीपिका (शाङ्करभाष्यानुसारी टीका), छान्दोग्योपनिषद्दीपिका (शाङ्करभाष्यानुसारी) बृहदारण्यकवार्तिकसार (शाङ्करभाष्य पर लिखे गए सुरेश्वराचार्यकृत वार्तिक का श्लोकबद्ध सार), शङ्करदिग्विजय (शङ्कराचार्य जीवनचरितविषयक उत्कृष्ट काव्यरचना, कालमाधव (स्मृतिशास्त्रविषयक ग्रन्थ)।

उपर्युक्त ग्रन्थों से इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है। ये उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ होने के साथ-साथ तत्त्वनिष्ठ एवं तपोमयीवृत्ति के धनी थे। संन्यास ग्रहण करने के बाद येश्रृंगेरीमठ के अध्यक्षरूप में भी प्रतिष्ठित रहे।

(३५) आचार्य आनन्दगिरि–शङ्कराचार्य ने जितने भी भाष्य किए उन सभी पर इन्होंने टीका लिखी है। भाष्यों के अभिप्राय को अभिव्यक्त करने में इनकी टीकाएँ अत्यधिक सहायक रही हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'शङ्कर दिग्विजय' नामक एक स्वतन्त्रग्रन्थ की भी रचना की। जिसकी संरचना विद्यारण्य स्वामी की 'शङ्करदिग्विजय' के बाद की है। अतः इन्हें विद्यारण्य स्वामी से परवर्ती तथा अप्पयदीक्षित से पूर्ववर्ती कहा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने सिद्धान्तलेशसंग्रह में इनकी न्यायनिर्णयटीका का उल्लेख किया है। इस दृष्टि से इन्हें पन्द्रहवीं शती में स्थित माना जा सकता है, क्योंकि विद्वानों ने विद्यारण्यस्वामी का समय 14वीं शताब्दी तथा अप्पयदीक्षित का सोलहवीं शताब्दी निर्धारित किया है।

इनका दूसरा नाम आनन्दज्ञान था, यद्यपि इनके जीवन के सम्बन्ध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये सफल टीकाकार, उन्नत दार्शनिक तथा सरल संन्यासी थे। इनके गुरु शुद्धानन्दस्वामी थे। कुछ विद्वानों ने इन्हें शङ्कराचार्य का शिष्य भी माना है, किन्तु कालक्रम की दृष्टि से यह समीचीन प्रतीत नहीं होता। इन्होंने शङ्कराचार्यकृत उपनिषद्भाष्य, गीताभाष्य, शारीरकभाष्य तथा शतश्लोकी पर वैदुष्यपूर्ण टीकाएँ लिखीं। इसके अतिरिक्त सुरेश्वराचार्यकृत तैत्तिरीयोपनिषद्-वार्तिक तथा बृहदारण्यकोपनिषद्वार्तिक पर भी टीका लिखी।

(३६) प्रकाशानन्दाचार्य–इन्होंने 'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' ग्रन्थ की रचना की। इनका स्थितिकाल पन्द्रहवीं शताब्दी माना गया है, क्योंकि अप्पयदीक्षित ने सिद्धान्तलेशसंग्रह में इनके मत का उल्लेख किया है। अतः

ये अप्पयदीक्षित से पूर्ववर्ती हुए। साथ ही अपनी वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' में पञ्चदशी के उदाहरण प्रस्तुत करने के कारण विद्यारण्यस्वामी से परवर्ती सिद्ध होते हैं। इनके गुरु का नाम ज्ञानानन्द था।

'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' वेदान्त का उत्कृष्टकोटि का प्रमाणग्रन्थ माना गया है। इसमें गद्य में विचार-विवेचन करते हुए पद्य में सिद्धान्त निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ पर अप्पयदीक्षित ने 'सिद्धान्तदीपिकावृत्ति' का प्रणयन किया।

(३७) आचार्य मल्लनाराध्य–इनका जन्म सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में कोटीश वंश में हुआ। ये दक्षिणभारत के निवासी थे। इन्होंने द्वैतवादियों के मत का खण्डन करने के उद्देश्य से 'अद्वैतरत्न' तथा 'अभेदरत्न' नामक दो प्रकरणग्रन्थों की संरचना की। ये दोनों ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं।

(३८) आचार्य नृसिंहाश्रम–अद्वैतसम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों में इनकी गणना की जाती है। इनका स्थितिकाल सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना गया है, क्योंकि इन्होंने अपने 'तत्त्वविवेक' नामक ग्रन्थ का पूर्ण होने का समय सं॰ 1604 अर्थात् 1547 ई॰ बताया है। ये उद्भटदार्शनिक एवं प्रौढ़ पण्डित थे। इन्हीं की प्रेरणा से अप्पयदीक्षित ने परिमल, न्यायरक्षामणि तथा सिद्धान्तलेश आदि वेदान्तग्रन्थों की रचना की थी।

इन्होंने 'भावप्रकाशिका' (प्रकाशात्मयतिकृत-पञ्चपादिकाविवरण की टीका), 'तत्त्वविवेक' एवं इसी पर स्वयं 'तत्त्वदीपन' टीका, भेदधिक्कार (भेदभाव का खण्डन); अद्वैतदीपिका (अद्वैतवेदान्त का युक्तिप्रधान ग्रन्थ), वैदिकसिद्धान्तसंग्रह (ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों देवों का ऐक्य प्रतिपादित) तथा तत्त्वबोधिनी (सर्वज्ञात्ममुनिकृत संक्षेपशारीरक की व्याख्या) इत्यादि ग्रन्थों की संरचना की। ये सभी उच्चकोटि के ग्रन्थ युक्तिप्रधान शैली में लिखे गए हैं।

(३९) आचार्य रंगराजाध्वरी–ये सुप्रसिद्ध विद्वान् अप्पयदीक्षित के पिता थे। इनके पिता अद्वैत सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य दीक्षित थे। अनेक यज्ञों को सम्पादित कराने के कारण इन्हें 'दीक्षित' पदनाम से विभूषित किया गया। इनका मूलनाम वक्षःस्थलाचार्य था। ये काञ्ची के निवासी थे तथा विजयनगर के राजा कृष्णदेव के सभापण्डित थे। इन्होंने दो विवाह किए। इनमें पहली पत्नी शैवमतावलम्बी ब्राह्मण की पुत्री थी तथा दूसरी श्री

बैकुण्ठाचार्य वंश में उत्पन्न रंगमाचार्य की कन्या थी। इसका नाम तोतारम्बा देवी था। इनके चार पुत्रों में सबसे बड़े रंगराजाध्वरी थे।

अप्पयदीक्षित ने अपने ग्रन्थों में पिता, पितामह तथा मातामह आदि का विस्तारपूर्वक परिचय दिया है। रंगराजाध्वरी सभी विद्याओं में निपुण थे। उनका पाण्डित्य असाधारण था। उन्होंने अपने पुत्र अप्पयदीक्षित को स्वयं विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रदान की। इस बात को अप्पयदीक्षित ने स्वयं स्वीकार किया है–

तन्मूलानिह संग्रहेण कतिचित्सिद्धान्तभेदान्धियः।
शुद्ध्यै सङ्कलयामि तातचरणव्याख्यावचः ख्यापितान्॥

रंगराजाध्वरी ने 'अद्वैतविद्यामुकुर' तथा 'विवरणदर्पण' नामक अद्वैतमत का प्रतिपादन करने वाले दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की संरचना की। इसमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि मतों का खण्डन करके अद्वैतमत की स्थापना की गई है।

(४०) आचार्य अप्पयदीक्षित–शङ्कराचार्य के परवर्ती विद्वानों में अद्वैत सम्प्रदाय की परम्परा में अप्पयदीक्षित का नाम अग्रगण्य है। ये आलङ्कारिक, वैयाकरण एवं धुरन्धर दार्शनिक थे। ये अकबर और जहाँगीर के शासनकाल में हुए। इनका जन्म सन् 1550 ई॰ में हुआ। इनके पिता रंगराजाध्वरि तथा पितामह आचार्यदीक्षित थे। इनके छोटे भाई का नाम अच्चान दीक्षित था। यद्यपि इन्हें अपने पिता एवं पितामह से अद्वैतमत की शिक्षा प्राप्त हुई थी तथापि ये परम शिवभक्त थे। इन्हें विजयनगर राज्य के सभी राजाओं से अत्यधिक सम्मान प्राप्त हुआ। ये सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित के गुरु थे। कुछ समय तक ये दोनों साथ-साथ काशी में रहे। अपने मृत्युकाल में इन्होंने चिदम्बरम् जाने की इच्छा व्यक्त की। इनकी मृत्यु 72 वर्ष की आयु में सन् 1622 ई॰ में हुई। मृत्यु के समय इनके ग्यारह पुत्र तथा छोटे भाई के पौत्र नीलकण्ठदीक्षित पास ही उपस्थित थे।

इन्होंने अलंकार, व्याकरण, मीमांसा, वेदान्त आदि विभिन्न विषयों पर लगभग 104 ग्रन्थों की रचना की। वे सभी वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं हैं। प्राप्य ग्रन्थों का यहाँ नामोल्लेख किया जा रहा है–(1) कुवलयानन्द ('चन्द्रालोक' नामक अलंकार ग्रन्थ की विस्तृत व्याख्या), (2) चित्रमीमांसा (अर्थचित्रविषयक ग्रन्थ), (3) वृत्तिवार्तिक (अभिधा, लक्षणा शब्दशक्ति विवेचन, (4) नामसंग्रहमाला (आलंकारिक कोश), (5) नक्षत्रवादावली

(सत्ताईस संदिग्ध विषयों का विवेचन), (6) प्राकृतचन्द्रिका (प्राकृत शब्दानुशासन की आलोचना), (7) चित्रपुट, (8) विधिरसायन, (9) सुखोपयोजनी, (10) उपक्रमपराक्रम, (11) वादनक्षत्रमाला (सात से ग्यारह तक मीमांसाग्रन्थ), (12) परिमल (कल्पतरु की व्याख्या), (13) न्यायरक्षामणि (ब्रह्मसूत्र प्रथम अध्याय की व्याख्या), (14) सिद्धान्तलेश (अद्वैतसम्प्रदाय के आचार्यों के मत निरूपण), (15) मतसारार्थसंग्रह (श्रीकण्ठ, शङ्कर, रामानुज आदि आचार्यों के मतों का परिचय 12 से 15 तक वेदान्तग्रन्थ), (16) न्यायमञ्जरी (शाङ्कर सिद्धान्तानुसारी), (17) न्याय मुक्तावली (मध्वमतानुसारी), (18) नियमयूथमालिका (रामानुजमतानुसारी), (19) शिवार्कमणिदीपिका, (20) रत्नत्रयपरीक्षा (श्रीकण्ठमतानुसारी), (21) मणिमालिका, (22) शिखरिणीमाला, (23) शिवतत्त्वविवेक, (24) ब्रह्मतर्कस्तव, (25) शिवार्चनचन्द्रिका, (26) शिवध्यानपद्धति, (27) आदित्यस्तवरत्न, (28) मध्वतन्त्रमुखमर्दन, (29) यादवाभ्युदय का भाष्य (21 से 29 तक सभी ग्रन्थ शैवमतानुसारी)

इसके अतिरिक्त शिवकर्णामृत, रामायणतात्पर्यसंग्रह, भारततात्पर्यसंग्रह, शिवाद्वैतविनिर्णय, पञ्चरत्नस्तव एवं उसकी व्याख्या, शिवानन्दलहरी, दुर्गाचन्द्रकलास्तुति एवं व्याख्या, कृष्णध्यानपद्धति व्याख्या सहित तथा आत्मार्पण आदि अनेक ग्रन्थ भी इनकी कृतियों में परिगणित हैं। इनके ग्रन्थों से इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है। मीमांसादर्शन के तो ये प्रकाण्डविद्वान् थे। शिवार्कमणिदीपिका से इनके न्याय, मीमांसा, व्याकरण तथा अलंकारशास्त्रविषयक प्रगाढ़पाण्डित्य की अभिव्यक्ति होती है। विद्वानों ने इन्हें एक जीववादी एवं बिम्ब-प्रतिबिम्बवादी कहकर इनका वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया है।

(४१) आचार्य भट्टोजिदीक्षित– ये प्रसिद्ध वैयाकरण थे। इनके द्वारा लिखे गए ग्रन्थों में आचार्य पाणिनि के सूत्रों पर व्याख्यारूप में लिखा गया ग्रन्थ 'सिद्धान्तकौमुदी' तथा इसकी व्याख्या रूप में लिखा गया ग्रन्थ 'प्रौढ़मनोरमा' अत्यधिक प्रसिद्ध है। इनका तीसरा ग्रन्थ 'शब्दकौस्तुभ' है। जिसमें पातञ्जलमहाभाष्य के विषय का युक्तिपूर्वक समर्थन किया गया है। चतुर्थ ग्रन्थ 'वैयाकरणभूषण' है।

इन व्याकरणग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने 'तत्त्वकौस्तुभ' एवं 'वेदान्ततत्त्वविवेकटीकाविवरण' नामक दो वेदान्तविषयक ग्रन्थों की भी संरचना की। इन दोनों ग्रन्थों में इन्होंने द्वैतवाद का खण्डन किया है।

वेदान्तशास्त्र में ये आचार्य अप्पयदीक्षित के शिष्य थे तथा व्याकरणशास्त्र के गुरु प्रक्रियाप्रकाशकार श्रीकृष्णदीक्षित थे। ये असाधारण प्रतिभा के धनी थे। प्रौढ़मनोरमा में इन्होंने अद्भुत चातुर्यपूर्वक अपने गुरु के मत का खण्डन किया है।

(४२) आचार्य सदाशिव ब्रह्मेन्द्र– ये काञ्ची कामकोटि पीठ के अधीश्वर एवं संन्यासी थे। इन्होंने अद्वैतविद्याविलास, बोधार्यात्मनिर्वेद, गुरुरत्नमालिका तथा ब्रह्मकीर्तनतरङ्गिणी नामक ग्रन्थों की रचना की। अद्वैतानन्दबोधेन्द्र के प्रति इनकी अगाध श्रद्धा थी।

(४३) आचार्य नीलकण्ठसूरि– इनका जन्म महाराष्ट्र प्रदेश में गोदावरी नदी के तट पर कूर्पर नामक स्थान में हुआ। इनका स्थितिकाल 16वीं शताब्दी माना गया है। चतुर्धर वंश में उत्पन्न इनके पिता का नाम गोविन्दसूरि था। इनकी महाभारत पर लिखी गयी टीका 'भारतभावदीप' अत्यधिक प्रसिद्ध है। ये अद्वैतवादी आचार्य थे। गीता की व्याख्या के आरम्भ में इन्होंने शाङ्कराचार्य एवं श्रीधरादि विद्वान् आचार्यों की श्रद्धापूर्वक वन्दना की है।

(४४) आचार्य सदानन्दयोगीन्द्र– इनका स्थितिकाल विद्वानों ने सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निर्धारित किया है। इन्होंने अद्वैतवेदान्त पर अत्यन्त सरलशैली में वेदान्तसार नामक प्रकरणग्रन्थ की रचना की। यह वस्तुतः सम्पूर्ण वेदान्तसिद्धान्तों का परिचायक ग्रन्थ है। साथ ही वेदान्तदर्शन के प्रारम्भिकज्ञान प्राप्त करने वाले जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

वेदान्तसार के मङ्गलाचरण में इन्होंने श्लेष के माध्यम से अपने गुरु अद्वयानन्द को नमन किया है। इस ग्रन्थ पर नृसिंहसरस्वती ने सुबोधिनी टीका, आपदेव ने बालबोधिनी तथा स्वामीरामतीर्थ ने विद्वन्मनोरञ्जनी टीकाओं की संरचना की। इनमें नृसिंह सरस्वती की सुबोधिनीटीका के अन्त में लिखे गए श्लोक में टीका का रचनाकाल शक संवत् 1518 बताया गया है। अतः स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि इससमय तक वेदान्तसार ने विद्वानों में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक ग्रन्थ 'शङ्कर दिग्विजय' की भी रचना की, जो सम्प्रति अप्राप्य है।

(४५) आचार्य नृसिंहसरस्वती–इन्होंने सन् 1596 ई० में आचार्य सदानन्द के प्रसिद्धग्रन्थ वेदान्तसार पर 'सुबोधिनी' नाम टीका की संरचना की। इसलिए इनका स्थितिकाल सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध माना गया है।

इनके गुरु का नाम कृष्णानन्दस्वामी था। इसी सुबोधिनीटीका के कारण वेदान्तजगत् में आचार्य नृसिंह को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इससे इनकी उच्चकोटि की प्रतिभा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

(४६) **स्वामीरामतीर्थ**—वेदान्तसार के द्वितीय टीकाकार हैं। इनका स्थितिकाल सत्रहवीं शताब्दी माना गया है। स्वामी कृष्णतीर्थ इनके गुरु थे। इन्होंने आचार्य सदानन्द के वेदान्तसार पर '**विद्वन्मनोरञ्जिनी**' नामक टीका का प्रणयन किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'संक्षेपशारीरक' के ऊपर 'अन्वयार्थप्रकाशिका', शङ्कराचार्यकृत उपदेशसाहस्री पर 'पदयोजनिका' नामक टीकाएँ भी लिखीं एवं मैत्रायणी उपनिषद् पर भी इन्होंने एक टीका की संरचना की जो सम्भवतः उपलब्ध नहीं है। इनकी कृतियों के कारण वेदान्तजगत् में इनका नाम सम्मानपूर्वक लिया जाता है।

(४७) **आचार्य आपदेव**—मूलतः ये मीमांसक थे। इनके द्वारा विरचित 'मीमांसा न्यायप्रकाश' पूर्वमीमांसा का प्रामाणिक प्रकरणग्रन्थ माना जाता है, किन्तु मीमांसक होते हुए भी इन्होंने सदानन्द विरचित वेदान्तसार नामक प्रसिद्ध प्रकरणग्रन्थ के ऊपर '**बालबोधिनी**' नामक सुन्दर टीका का प्रणयन किया। यह टीका वस्तुतः नृसिंहसरस्वती की 'सुबोधिनी, रामतीर्थकृत 'विद्वन्मनोरञ्जिनी' इन दोनों टीकाओं की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट मानी जाती है। कुछ विद्वान् इन्हें पूर्वमीमांसा का प्रौढ़विद्वान् होते हुए भी अद्वैतवादी मानते हैं।

(४८) **आचार्य मधुसूदनसरस्वती**— इनका जन्म बंगप्रदेश में हुआ। ये फरीदपुर जिले के अन्तर्गत कोटालियापाडा नामक ग्राम के निवासी थे। ये आजन्म ब्रह्मचारी रहे। इनके दीक्षागुरु का नाम विश्वेश्वरसरस्वती था। इन्हीं की प्रेरणा से इन्होंने दण्ड धारण किया। इनके विद्यागुरु माधवसरस्वती थे। विद्याध्ययन के अनन्तर इन्होंने काशी जाकर अनेक पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित किया।

आचार्य मधुसूदनसरस्वती अद्वैतसम्प्रदाय के उद्भट विद्वान् थे। इनके युक्तिकौशल एवं उत्कृष्ट मेधासामर्थ्य के कारण इन्हें अद्वैतसाहित्य का युगनिर्माता भी कहा जाता है। इनके पूर्ववर्ती आचार्यों की युक्ति में शास्त्रप्रमाण प्रधान रहता था, किन्तु इन्होंने मुख्यरूप से अनुमानप्रमाण के बल पर ही अपने सिद्धान्त की स्थापना की है। अद्वैतसिद्धान्त का प्रधान स्तम्भ होते हुए भी इनकी कृतियों में सगुणभक्ति को अभिव्यक्ति मिली है।

इसके अतिरिक्त इनके द्वारा विरचित 'भक्ति रसायन' नामक ग्रन्थ उनके अद्भुत भक्तिभाव का परिचायक है। इससे इनकी भगवद्रसज्ञता एवं भावुकता का परिचय प्राप्त होता है। इन्होंने अनेकग्रन्थों की संरचना की, जिनका संक्षिप्त विवरण इसप्रकार है–

(1) सिद्धान्तबिन्दु (शङ्कराचार्य विरचित 'दशश्लोकी' की व्याख्या), (2) संक्षेपशारीरक की व्याख्या (3) अद्वैतसिद्धि (चार परिच्छेदों में निबद्ध अद्वैतसिद्धान्त का उच्च कोटि का ग्रन्थ) (4) अद्वैतरत्नलक्षण (द्वैतवाद का खण्डन एवं अद्वैतवाद की स्थापना) (5) वेदान्तकल्पलतिका (वेदान्तग्रन्थ) (6) गूढार्थदीपिका (श्रीमद्भगवद्गीता की सर्वोत्तम व्याख्या) (7) प्रस्थान भेद (सभी शास्त्रों का सामञ्जस्य करके उनका अद्वैत में तात्पर्य प्रदर्शित किया है। यह ग्रन्थ लेखक की अद्भुत प्रतिभा का द्योतक है) (8) महिम्नस्तोत्र की टीका (प्रत्येक श्लोक की शिव एवं विष्णुपरक व्याख्या करके असाधारणकौशल प्रदर्शित किया है) (9) भक्तिरसायन (भक्ति-विषयक लक्षणग्रन्थ)।

(४९) आचार्य धर्मराज अध्वरीन्द्र–इनका स्थितिकाल 17वीं शताब्दी का आरम्भ माना गया है। इन्होंने 'वेदान्तपरिभाषा' नामक उत्कृष्ट एवं अद्वैतसिद्धान्त के लिए अत्यन्त उपयोगी प्रकरणग्रन्थ की रचना की। इसपर अनेक विद्वानों ने टीकाएँ लिखीं। अद्वैतवेदान्त के रहस्य को समझने के लिए इस ग्रन्थ का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है। इनके गुरु का नाम वेंकटनाथ था। इसके अतिरिक्त इन्होंने आचार्य गंगेशोपाध्यायकृत 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक नव्यन्याय के ग्रन्थ पर 'तर्कचूडामणि' नामक टीका भी लिखी। इसमें इन्होंने अपनी पूर्ववर्ती दश टीकाओं के मत का खण्डन किया है।

(५०) आचार्य गोविन्दानन्द–इनका भी स्थितिकाल 17वीं शताब्दी रहा है। इनके विद्यागुरु शिवराम थे। उन्होंने शारीरकभाष्य पर 'रत्नप्रभा' नामक टीका लिखी। इसे शारीरकभाष्य की टीकाओं में सर्वाधिक सरल माना गया है। इस टीका में इन्होंने भाष्य के प्रायः प्रत्येक पद की व्याख्या प्रस्तुत की है। अतः यह टीका भाष्य को हृदयंगम कराने में सर्वाधिक उपयोगी है। ग्रन्थकार के अनुसार जो जिज्ञासु विस्तृत और गम्भीर टीकाओं को समझने में असमर्थ हैं, यह व्याख्या उन्हीं के लिए लिखी गयी है–

विस्तृतग्रन्थवीक्षायामलसं यस्य मानसम्।
व्याख्या तदर्थमारब्धा भाष्यरत्नप्रभाभिधा॥

(५१) रामानन्दसरस्वती–ये स्वामी गोविन्दानन्द के शिष्य थे। अतः इनका स्थितिकाल 17वीं शताब्दी माना गया है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र की शाङ्करभाष्यानुसारी 'ब्रह्मामृतवर्षिणी' नामक टीका का सरल भाषा में प्रणयन किया। इसके अतिरिक्त इनका दूसरा ग्रन्थ पद्मपादाचार्य की पञ्चपादिका पर प्रकाशात्मयति द्वारा लिखे गए 'विवरण' नामक ग्रन्थ पर 'विवरणोपन्यास' नामक व्याख्या है। इसकी तुलना विद्यारण्यस्वामी के 'विवरणप्रमेयसंग्रह' से की जा सकती है। इस ग्रन्थ में इन्होंने गद्य में विचार करने के उपरान्त फलरूप सिद्धान्त को पद्य में प्रस्तुत किया है।

(५२) काश्मीरक सदानन्दयति– इन्होंने अद्वैतसिद्धि नामक प्रकरण ग्रन्थ का प्रणयन किया। ये काश्मीरप्रदेश के निवासी थे। इसलिए इनके नाम से पूर्व काश्मीरक शब्द का प्रयोग किया जाता है। इनका समय 17वीं शताब्दी माना गया है। प्रतिविश्ववाद एवं अवच्छिन्नवादविषयक विवादों की विवेचना में न पड़कर इन्होंने अपने ग्रन्थ में एकजीववाद को ही वेदान्त का मुख्यसिद्धान्त प्रतिपादित किया है, क्योंकि जिज्ञासु वस्तुतः प्रबल साधना द्वारा ऐकात्म्य का अनुभव करने तक ही वाग्जाल में फंसा रहता है।

(५३) ब्रह्मानन्द सरस्वती–ये अद्वैतसिद्धि के टीकाकार एवं मधुसूदन सरस्वती के समकालीन आचार्य थे। इनकी गणना अद्वैतवाद के प्रमुख आचार्यों में की जाती है। इनका स्थितिकाल 17वीं शताब्दी माना गया है। इनके दीक्षागुरु परमानन्दसरस्वती एवं विद्यागुरु नारायणतीर्थ थे। इसके अतिरिक्त इन्होंने शिवराम नामक व्यक्ति को भी अपनी लघुचन्द्रिका के अन्त में अत्यन्त श्रद्धापूर्वक नमन किया है। इन्होंने व्यासराज के शिष्य रामाचार्य की 'तरङ्गिणी' के मत का खण्डन करने हेतु अद्वैतसिद्धि पर 'लघुचन्द्रिका' ग्रन्थ की संरचना की। इस ग्रन्थ से इनकी दार्शनिक प्रतिभा का सुन्दर परिचय प्राप्त होता है। इसमें रामाचार्य की सभी आपत्तियों का अत्यन्त संतोषजनक समाधान किया गया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में संसार का मिथ्यात्व, एकजीववाद, निर्गुणब्रह्मवाद, आनन्दरूपमुक्तिवाद इन सभी विषयों का सुन्दर विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने मधुसूदन के सिद्धान्त-बिन्दु पर 'रत्नावली' एवं 'सूत्रमुक्तावली' नामक दो ग्रन्थों की भी रचना की।

(५४) आचार्य अच्युतकृष्णानन्द–ये कावेरी तट पर स्थित नीलकण्ठेश्वरम् नामक स्थान पर निवास करते थे तथा परम कृष्णभक्त थे। सिद्धान्तलेश पर लिखी इनकी टीका का नाम 'कृष्णालङ्कार' है। इससे इनके

पाण्डित्य का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। ये परमगुरुभक्त एवं विनम्र थे। इसके अतिरिक्त इन्होंने तैत्तिरीयोपनिषद् शाङ्करभाष्य पर 'वनमाला' नामक टीका की भी संरचना की। इससे भी इनकी कृष्णभक्ति का परिचय प्राप्त होता है।

(५५) आचार्य महादेवसरस्वती– इनका समय 18वीं शताब्दी माना गया है। ये स्वयं प्रकाशानन्दसरस्वती के शिष्य थे। इन्होंने वेदान्तदर्शन पर तत्त्वानुसंधान नामक प्रकरणग्रन्थ की रचना करके उस पर स्वयं ही अद्वैत-चिन्ताकौस्तुभ नामक टीका का प्रणयन किया। 'तत्त्वानुसंधान' अद्वैतसिद्धान्त का ज्ञान कराने के लिए अत्यन्त सरलभाषा में लिखा गया ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ वेदान्त के आरम्भिक जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

(५६) आचार्य सदाशिवेन्द्र सरस्वती–इन्होंने 18वीं शताब्दी में करूर नामक स्थान पर जन्म ग्रहण किया। इनका अध्ययन ताञ्जोर जिले के तिरुविसानाल्लूर नामक स्थान पर हुआ। असाधारण प्रतिभा के धनी इनकी तार्किकशक्ति अत्यन्त तीक्ष्ण थी। ये असाधारण योगी थे। इनके दीक्षागुरु परमशिवेन्द्रसरस्वती थे। दक्षिणभारत में इनके जीवन की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ आज भी प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि इन्होंने यूरोप में तुर्की तक भ्रमण किया था। नेरूर के पास इनकी समाधि आज भी बनी हुई है।

इन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर शाङ्करभाष्यानुसारिणी 'ब्रह्मतत्त्व प्रकाशिका' नामक वृत्ति की संरचना की। बारह उपनिषदों पर टीका, योगसूत्रों पर 'योगसुधाकर' 'आत्मविद्याविलास' 'कविताकल्पवल्ली' तथा 'अद्वैतमञ्जरी' इत्यादि ग्रन्थों का भी इन्होंने प्रणयन किया। इनमें ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य को समझने के लिए 'ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका' अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। इनकी सभी रचना सरल एवं भावपूर्ण हैं। ये वस्तुतः महान् योगी एवं परम अद्वैतनिष्ठ सिद्ध महात्मा थे।

(५७) आचार्य आयन्नदीक्षित– इनका स्थितिकाल 18वीं शताब्दी माना गया है। ये वेंकटेश के शिष्य थे। आचार्य वेंकटेश ने अक्षयषष्टि और दायशतक नामक दो ग्रन्थों का प्रणयन किया। जबकि आयन्नदीक्षित ने 'व्यासतात्पर्यनिर्णय' नामक केवल एक किन्तु अद्भुतग्रन्थ की रचना की। भगवान् वेदव्यास के वेदान्तसूत्रों की अलग-अलग विद्वानों ने अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैती, शुद्धाद्वैती, द्वैताद्वैती तथा शिवाद्वैती व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। इन मत सिद्धान्तों में पर्याप्त भिन्नता होते हुए भी सभी ने अपने-अपने सिद्धान्त को मूलसिद्धान्त के अधिक निकट बताया। ऐसी स्थिति में भगवान् वेदव्यास के

अभिप्राय को ही समझना कठिन हो गया। आयन्नदीक्षित ने मौलिक युक्तियों को प्रस्तुत करते हुए व्यास के अद्वैत में ही मुख्यतात्पर्य-सिद्धि की। अद्वैतसिद्धान्त के प्रति रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए 'व्यास तात्पर्य निर्णय' वस्तुतः संग्रहणीय ग्रन्थ है।[1]

यहाँ तक हमने वेदान्तदर्शन के प्रमुख आचार्यों का संक्षेप में विवरण प्रस्तुत किया। वस्तुतः वेदान्तदर्शन की शाखा-प्रशाखाओं के आचार्यों की सुदीर्घपरम्परा रही है। उनमें सभी का उल्लेख यहाँ सम्भव भी नहीं है। अन्वेषणपूर्वक इसके स्वतन्त्रलेखन एवं प्रकाशन की महती आवश्यकता है। जिससे अनेक अपरिचित, किन्तु महत्त्वपूर्ण आचार्यों एवं उनकी कृतियों से वेदान्तजगत् का परिचय हो सकेगा।

(छ) वेदान्तदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त–

(१) ब्रह्म–वेदान्तदर्शन और विशेषरूप से अद्वैतवेदान्त एकमात्र ब्रह्म को सत्य, नित्य एवं सर्वोपरि तत्त्व के रूप में मान्यता प्रदान करता है। इसीकारण इस दर्शन का प्रारम्भ ही 'ब्रह्मजिज्ञासा' से होता है (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा-ब्रह्मसूत्र)। वस्तुतः इस परमतत्त्व ब्रह्म के ज्ञात हो जाने पर किसी अन्य वस्तु के ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं रहती है। अतः यहाँ इसका ज्ञान अत्यावश्यक माना गया है।

'बृहवृद्धौ' वृद्धि अर्थ में प्रयुक्त 'वृह्' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय करके ब्रह्म शब्द निष्पन्न होता है। अर्थात् महान्, व्यापक, निरवधिक, निरतिशय महत्त्व से युक्त तत्त्व ही ब्रह्म है। 'वृंहणाद् ब्रह्म' इस व्युत्पत्ति के अनुसार देश, काल तथा वस्तु आदि से अपरिच्छिन्न नित्यतत्त्व ही ब्रह्म है।[2] इससे ब्रह्म के निरतिशय महत्त्व की स्पष्ट प्रतीति होती है।

वेदान्तियों के अनुसार यह तत्त्व, प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द आदि प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है, अपितु 'मैं हूँ' इसप्रकार के अनुभव का आधार ही इसकी सत्ता को सिद्ध करता है। इसके अतिरिक्त यहाँ श्रुति (वेद-उपनिषदादि) को ब्रह्म की सिद्धि में प्रबलप्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान की है। ब्रह्मतत्त्व का लक्षण करते हुए वेदान्तदर्शन कहता है कि जिसप्रकार उष्णता, लौहित्य एवं प्रकाश द्वारा दीपक का लक्षण किया जा

1. वेदान्त के प्राचीन आचार्यों के विवरण हेतु महामहोपाध्याय पं0 गोपीनाथकविराज के लेखों का ही यहाँ मुख्यरूप से प्रयोग किया गया है।
2. ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य) 1/1/1 पर रत्नप्रभा टीका।

सकता है। ठीक उसीप्रकार सत्, चित् और आनन्द इन तीन शब्दों के माध्यम से ब्रह्म का स्वरूप प्रतिपादित किया जा सकता है। श्रुति वाक्य इस विषय में प्रमाण हैं–

(1) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्तिरीयोपनिषद्-2/1/1)

(2) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृहदारण्यकोपनिषद्-3/9/28)

(3) आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् (तैत्तिरीयोपनिषद्-3/6)

छान्दोग्योपनिषद्कार का इस विषय में कथन है–सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् (6/2/1) अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में एक अद्वितीय तत्त्व की सत्ता थी। वेदान्तदर्शन के अनुसार वह सत्ता केवल ब्रह्म की थी। इस प्रसंग में सत् की व्याख्या करते हुए आचार्य शङ्कर कहते हैं–सत् उसे कहा जाता है जो तीनों कालों में विद्यमान हो तथा ब्रह्म ही एकमात्र ऐसी वस्तु है जिसका अस्तित्व तीनों कालों में विद्यमान रहता है। यह न केवल सृष्टि के आरम्भ में विद्यमान था, अपितु वर्तमान में भी इसकी स्थिति है और प्रलयकाल के पश्चात् भी रहेगा। यह वस्तुतः कालातीत यथार्थसत्ता है।

इसके अतिरिक्त ब्रह्म चिद्रूप है। जो ज्ञानवाची 'चिती संज्ञाने' धातु से क्विप् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। इसीलिए शङ्कराचार्य आदि विद्वानों ने इसे ज्ञानस्वरूप माना है। श्रुति इसे 'विज्ञान' शब्द के माध्यम से कहती है (विज्ञानमानन्दं ब्रह्म–बृहदा॰ 3/9/28)। विज्ञान शब्द का सामान्य अर्थ विशिष्ट या विशुद्धज्ञान भी किया जा सकता है। अतः ब्रह्म विशुद्ध या विशिष्टज्ञानस्वरूप है।

'चित्' का एक अर्थ चैतन्य भी है, जिससे ब्रह्म का जडरहित होना अभिव्यक्त होता है। अतः संसार के सभी प्राणियों एवं वनस्पति आदि में जो चैतन्य प्रतीत होता है, वह चित्स्वरूप ब्रह्म के कारण ही है, क्योंकि सर्वव्यापक होने से उसकी सत्ता सम्पूर्णसृष्टि के कण-कण में है। कुछ विद्वानों ने 'चित्' शब्द का प्रकाश अर्थ भी किया है (स्वप्रकाशत्वं चित्वम्–ब्रह्मसूत्र भामतीटीका–वाचस्पतिमिश्र 1/1/1)। मुण्डकोपनिषद् ने ब्रह्म की ज्योतिषां ज्योतिः कहकर व्याख्या की है (मुण्डकोपनिषद्-2/2/9)

इसप्रकार ब्रह्म के लिए प्रयुक्त 'चित्' शब्द विज्ञान, ज्ञान, चैतन्य तथा स्वप्रकाशत्व आदि अर्थों को अभिव्यक्त करता है। इससे ब्रह्म की सत्ता, ज्ञानरूपता एवं स्वयंप्रकाशत्व आदि विशेषताएँ प्रकट होती हैं। ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या में तीसरे 'आनन्द' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं वेदान्त के सभी ग्रन्थों में इसके इस स्वरूप को मान्यता प्रदान की गई है। तैत्तिरीयोपनिषद् का इस विषय में स्पष्टरूप से कथन है–"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् (3/6)। यहाँ आनन्द शब्द ब्रह्म में आनन्द की प्रचुरता एवं पूर्णता को अभिव्यक्त करता है। बृहदारण्यकोपनिषद् ने भी ब्रह्म की 'सर्वोच्च आनन्द' कहकर व्याख्या की है–(4/3/32)

इसके अतिरिक्त ब्रह्म के लिए 'अनन्तम्' पद का प्रयोग भी श्रुतियों ने किया है– (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म-तैत्तिरीयोपनिषद्-2/1/1)। अनन्त का अभिप्राय है जिसका कोई अन्त अर्थात् सीमा न हो। अतः वह सर्वव्यापक, नित्य एवं सर्वात्मक है।

वेदान्तदर्शन में ब्रह्म की बीजशक्ति के रूप में माया अथवा अविद्या का उल्लेख किया गया है। इसकी उपाधि से युक्त ब्रह्म ही 'ईश्वर' कहलाता है। यहाँ इसी ईश्वर को सम्पूर्ण चराचरजगत् की रचना का निमित्त और उपादानकारण माना गया है। अपनी प्रधानता की स्थिति में चैतन्यरूप ब्रह्म निमित्तकारण तथा अपनी उपाधि की प्रधानता की स्थिति में उपादानकरण होता है। ठीक उस मकड़ी के समान जो अपने शरीर के चैतन्य के कारण तन्तुजाल का निमित्तकारण होती है तथा शरीर से निकलने वाले तरलपदार्थ से तन्तुजाल का निर्माण करने से उपादानकारण भी है।

यह दर्शन ब्रह्म को सर्वशक्तिमान मानता है। इसके अनुसार सृष्टि की रचना के लिए ब्रह्म को किसी बाह्यसत्ता की आवश्यकता नहीं होती है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार 'जिसप्रकार जीवितपुरुष के शरीर से केश और रोम स्वतः उत्पन्न होते हैं, ठीक उसीप्रकार अक्षरब्रह्म से यह सम्पूर्ण चराचरजगत् उत्पन्न होता है।[1] इस जगत् की रचना करने के पश्चात् वह इसी में अनुप्रविष्ट हो जाता है।[2] इसीकारण एक होते हुए भी इसकी सभी यहाँ भूतों, पदार्थों एवं स्थानों में अर्थात् जगत् के कण-कण में सत्ता को स्वीकार किया गया है।[3] वही यह प्राणियों के कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म का

---

1. मुण्कोपनिषद् 1/1/7
2. तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तैत्तिरीयोपनिषद् 2/6/1
3. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
   कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।। (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6/11)

साक्षी है तथा उन्हें कर्म का फल प्रदान करता है। शङ्कराचार्य के अनुसार 'इस संसाररूपी वृक्ष का मूल ब्रह्म ही है।'

इसके अतिरिक्त ब्रह्म को यहाँ 'अवाङ्मनसगोचर' कहा गया है, क्योंकि उसे न तो आँखों से देखा जा सकता है, न ही मन और वाणी उसे जानने में समर्थ हैं। वह अत्यन्तसूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय है तथा अकथनीय है। फिर भी योगविद्या से योग्य गुरु के मार्गदर्शन में उसका साक्षात्कार किया जा सकता है, किन्तु उसके स्वरूप की व्याख्या असम्भव है। गूँगे के गुड़ के समान उसके आनन्द को केवल अनुभव किया जा सकता है।

इसीकारण उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करने के लिए 'नेति नेति' की शैली को अपनाया गया है। यहाँ 'नेति नेति' का दो बार प्रयोग माया एवं उसके प्रपञ्च का निराकरण करके एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को इंगित करने के लिए विशेष अभिप्राय हेतु किया गया है। वेदान्त के अनुसार–यद्यपि यह परमतत्त्व ब्रह्म एक है–'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' (छान्दोग्योपनिषद्–6/2/1), किन्तु पारमार्थिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से इसकी सगुण और निर्गुण दो रूपों में परिकल्पना की गई है। माया की उपाधि से विशिष्टब्रह्म ही ईश्वर सगुण, साकार या सविशेष कहा गया है तथा इससे रहित ब्रह्म ही निर्गुण, निराकार या निर्विशेष माना गया है।

उपनिषदों में ब्रह्म का ध्यान करने का सर्वश्रेष्ठ आधार 'ओम्' या 'ओङ्कार' को माना गया है–'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ध्येयं सर्वमुमुक्षुभिः (ध्यानबिन्दूपनिषद्–2) इसका ध्यान करने से साधक ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म को मुक्तजीवों का आश्रय कहा गया है (मुण्डकोपनिषद्–2/2/8)। ब्रह्म का साक्षात्कार होने के पश्चात् साधक के हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं तथा उसके सभी संशय दूर हो जाते हैं। ब्रह्म को जानने वाला व्यक्ति ठीक उसीप्रकार ब्रह्म ही हो जाता है, जिसप्रकार बहती हुई नदियाँ समुद्र में मिलकर अपने नामरूप को खोकर उसमें एकाकार हो जाती हैं। ब्रह्म का सायुज्य प्राप्त करके व्यक्ति का पुनः इस संसार में आगमन नहीं होता है–'न स पुनरावर्तते'। इसीकारण ब्रह्म को आश्रय, अमृतमय एवं अविनश्वर कहा गया है। गीता ने भी इस बात का अनुमोदन किया है–

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ (श्रीमद्भगवद्गीता 8/21)

(२) आत्मा–वेदान्तदर्शन के प्रमाणरूप उपनिषद्ग्रन्थों में आत्मा के स्वरूप पर विशद चर्चा की गई है। यहाँ इसके लिए प्रायः उन्हीं विशेषणों का प्रयोग किया गया है, जो ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इस दृष्टि से इसे ब्रह्म का ही दूसरा नाम भी कहा जा सकता है। उपनिषदों में इसे 'अयमात्मा ब्रह्म' कहकर प्रत्यक्षतः स्वीकार भी किया गया है। ब्रह्म के समान ही आत्मा के अस्तित्व को भी 'मैं हूँ' अथवा 'मैं नहीं हूँ' इस अनुभव द्वारा स्वतः-सिद्ध माना गया है। इसके अनुसार–जिसप्रकार सूर्य को दिखाने के लिए दीपक की आवश्यकता नहीं होती है, ठीक उसीप्रकार आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। इसीकारण बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने कहा–'अरे विज्ञातारं केन विजानीयात्' (2/4/14) अर्थात् 'जो सबको जानने वाला है उसे हम किस साधन द्वारा जान सकते हैं?'

आत्मा भी ब्रह्म के समान ही सत्-चित् एवं आनन्दस्वरूप है। वर्तमान, भूत और भविष्यत तीनों कालों में अबाधितरूप में विद्यमान रहने के कारण इसे सत् कहा गया है।[1] साथ ही इस शब्द से इसके अमर, नित्य, शाश्वत, पुराण तथा अजन्मास्वरूप पर भी प्रकाश पड़ता है। आत्मा की यहाँ स्वयम्प्रकाशस्वरूप कहकर प्रशंसा की गई है। पञ्चदशीकार विद्यारण्यस्वामी ने आत्मा के इस वैशिष्ट्य को नृत्यशाला में रखे गए दीपक का उदाहरण देकर अत्यन्त सुंदर ढंग से प्रतिपादित किया है। तदनुसार– 'जिसप्रकार नृत्यशाला में रखा हुआ दीपक, नृत्यशाला के स्वामी, सहृदय सामाजिक, तथा नर्तकी को समानरूप से प्रकाशित करता है एवं स्वामी की अनुपस्थिति में भी स्वयं प्रदीप्त होता रहता है। ठीक उसीप्रकार यह साक्षीरूप आत्मा, अहंकार, बुद्धि एवं तत्तत् विषयों को प्रकाशित करता है तथा सुषुप्ति अवस्था में अहंकार आदि के विद्यमान न होने पर भी स्वयं प्रकाशित होता रहता है।

इसके अतिरिक्त आत्मा को अच्छेद्य, अग्राह्य, अक्लेद्य तथा अशोष्य बताते हुए नित्य, सर्वव्यापी, स्थाणु, अचल एवं सनातन कहा गया है।[2]

---

1. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
   अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। (1/2/18)
2. अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
   नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।। (श्रीमद्भगवद्गीता-2/1/3)।

अद्वैतवेदान्त के अनुसार आत्मा तीन प्रकार के शरीर–स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण एवं पाँच प्रकार के कोशों से अलग है, किन्तु जीव, अज्ञानवश एवं तादात्म्य के कारण शरीरत्रय तथा पञ्चकोशों को ही किसी न किसी रूप में आत्मा समझने लगता है। यह अविवेक ही उसके भवबन्धन का कारण बनता है। सद्गुरु के उपदेश द्वारा साधक आत्मा को इनसे अलग समझ लेता है तथा इस स्थिति में आत्मज्ञान होने पर वह ब्रह्म ही हो जाता है।

इसी अभिप्राय को पञ्चदशीकार ने अत्यन्त सुन्दरढंग से इसप्रकार प्रस्तुत किया है–

यथा मुञ्जादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः।
शरीरतृतीयाद्धीरैः परं ब्रह्मैव जायते॥ (पञ्चदशी 1/42)

अर्थात् जिसप्रकार मूँज से इषिका (सिरकी) युक्तिपूर्वक निकाल ली जाती है। उसीप्रकार धीरपुरुष आत्मा को तीन प्रकार के शरीरों से पृथक् जान लेता है। उस स्थिति में वह परमब्रह्म हो जाता है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों में आत्मा को विभु, सर्वगत, अत्यन्तसूक्ष्म, अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अखण्ड, शुद्ध, अन्तर्यामी, कूटस्थ, अविनाशी, विज्ञानघन, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव के रूप में भी वर्णित किया गया है।[1] अद्वैतवेदान्त के अनुयायियों ने आत्मा को 'परममहत्' परिमाण वाला माना है। साथ ही इन्होंने आत्मा में श्रुतिप्रमाणों एवं युक्तियों द्वारा एकत्व का प्रतिपादन किया है। यहाँ सांख्य के 'पुरुष बहुत्व' का यह कहकर खण्डन किया गया है कि जिसप्रकार एक अग्नि विभिन्न स्थानों एवं पदार्थों में अनेकरूपों में उद्भासित होता है, जबकि वास्तव में वह एक ही है। ठीक उसीप्रकार सभी प्राणियों में रहने वाला यह आत्मा भी एक ही है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

(कठो॰ 2/5/8)

(3) **माया** (अज्ञान)– इसी का दूसरा नाम अज्ञान भी है। मायावाद अद्वैतवेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त के आधार पर यह दर्शन 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' का तात्त्विक एवं सारगर्भित विवेचन करता है। इस दृष्टि से इसे वेदान्तचिन्तन का मूल आधार भी कह सकते हैं। वेदान्त के

1. कठोपनिषद्- 1/3/10-11, मुण्डकोपनिषद्-1/1/6, माण्डूक्योपनिषद्-6

ग्रन्थों में इसे भ्रान्ति, अविद्या, तमस्, मिथ्याज्ञान, विपर्ययमोह, अग्रहण तथा प्रकृति आदि नामों से अभिहित किया गया है। वस्तुतः वेदान्त की दृष्टि से माया, अविद्या तथा अज्ञान ये तीनों शब्द समानार्थक माने गए हैं। अतः एक ही अभिप्राय की अभिव्यक्ति करते हैं।

श्रुति एवं स्मृति के आधार पर माया को अनादि, अनिर्वचनीय, भावरूप और मिथ्या कहा गया है। यह सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन तीन गुणों के कारण त्रिगुणात्मिका है। इसकी आवरण एवं विक्षेप दो शक्तियाँ हैं। इनमें से प्रथम आवरणशक्ति वस्तु के यथार्थस्वरूप को आवृत कर लेती है तथा विक्षेपशक्ति द्वारा जगत् का निर्माण किया जाता है। अद्वैतवेदान्त के अर्वाचीन ग्रन्थों में 'माया' के स्थान पर 'अज्ञान' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः हम उसी के आधार पर 'अज्ञान' के स्वरूप का प्रतिपादन कर रहे हैं–

आचार्य सदानन्द के वेदान्तसार में 'अज्ञान' का लक्षण इस प्रकार किया गया है–

"अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधी भावरूपं यत्किञ्चिदिति" अर्थात् अज्ञान सत् एवं असत् से भिन्न अर्थात् अनिर्वचनीय है। तीन गुणों वाला, ज्ञानविरोधी, भावरूप तथा 'कुछ है', इस स्वरूप वाला है। अतः इस लक्षण के आधार पर अज्ञान अथवा माया का विवेचन हम इसप्रकार कर सकते हैं–

(अ) सदसद्भ्यामनिर्वचनीयम्–अज्ञान को सत् और असत् दोनों से भिन्न होने के कारण अनिवर्चनीय कहा गया है, क्योंकि यदि हम इसे सत् रूप मानें तो इसका ब्रह्म के समान बाध नहीं होना चाहिए। जबकि आत्मज्ञान होने पर इसकी निवृत्ति हो जाती है। इसलिए यह सत् नहीं हो सकता और यदि इसे असत् माना जाए तो वन्ध्यापुत्र के समान इसकी प्रतीति ही नहीं होनी चाहिए, जबकि किसी वस्तु के न जानने पर 'अहमज्ञः' इस रूप में हमें अनुभव वाक्यों द्वारा इसकी प्रतीति होती है। अतः अज्ञान को असद्रूप भी नहीं माना जा सकता है। परिणामस्वरूप सदसद् से विलक्षण होने के कारण इसे अनिवर्चनीय कहा गया है। माया अथवा अज्ञान की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन करते हुए शङ्कराचार्य कहते हैं–

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।

साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो
महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा॥ (विवेक चूडामणि, 111)

'अर्थात् माया न सत् है, न असत् है तथा सत्-असत् के रूप में उभयात्मक भी नहीं है। यह न साङ्ग है न अङ्गरहित है न उभयरूप ही है, अपितु यह अत्यन्त अद्भुत तथा अनिवर्चनीयरूप है।'

(ब) त्रिगुणात्मिका–वेदान्त, माया अथवा अज्ञान को सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण से युक्त मानता है। जिसे यह श्रुति[1] स्मृति[2] एवं अनुभव के आधार पर सिद्ध करता है। सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार कार्य में दिखायी देने वाले गुण कारण में भी विद्यमान रहते हैं। अतः अज्ञान अथवा माया से उत्पन्न होने वाले तेज में लोहित, जल में शुक्ल तथा पृथिवी (अन्न) में कृष्ण गुण विद्यमान हैं। वेदान्त इसी सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करता है। इस विषय में छान्दोग्योपनिषद् में भी उल्लेख है–

"यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्य" (6/4/1) अतः अज्ञान अथवा माया की त्रिगुणात्मकता सिद्ध होती है।

(स) ज्ञानविरोधी–वेदान्तदर्शन तमोगुण-प्रधान आवरण एवं विक्षेप शक्तिद्वय से युक्त अज्ञान से उपहित (आवृत्त) चैतन्य अर्थात् ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है। अतः अज्ञान ही सृष्टि का मूलकारण है। यहाँ एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, दृश्यमान यह सम्पूर्णजगत् मिथ्या है।[3] अज्ञान ब्रह्म के साक्षात्कार में बाधक है। इसलिए इसे ज्ञानविरोधी कहा गया है, क्योंकि श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधनों का अनुष्ठान करता हुआ साधक जब ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है तो उसका अज्ञान निवृत्त हो जाता है। अतः माया अथवा अज्ञान को ज्ञान के माध्यम से बाधित किया जा सकता है। ठीक उसीप्रकार जैसे सूर्य के प्रकाश द्वारा अंधकार दूर हो जाता है।

(द) भावरूप– अद्वैतवेदान्त अज्ञान को भावरूप स्वीकार करता है। इस विषय में चित्सुखाचार्य का कथन है–

अनादि भावरूपं यद् विज्ञानेन विलीयते।

---

1. देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् (श्वेताश्वतरोपनिषद्-1/3)।
2. देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
   मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। (श्रीमद्भगवद्गीता 7/14)
3. ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या।

तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं संप्रचक्षते॥ (चित्सुखी-1/9)

अर्थात् अज्ञान अनादि और भावरूप है। इसकी भावरूपता इसी बात से सिद्ध होती है कि ज्ञान के उत्पन्न होने पर यह विलीन हो जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के आधार पर भी इसकी भावरूपता का प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि 'मैं अज्ञ हूँ', 'मैं किसी को नहीं जानता हूँ' इस रूप में प्रत्यक्ष-अनुभवप्रतीति ही अज्ञान की भावरूपता को सिद्ध करती है–

प्रत्यक्षं तावदहमज्ञः, अन्यं च न जानामि इत्यपरोक्षावभासदर्शनात्

(पञ्चपादिका विवरण-प्रकाशात्मयति-पृ॰ 74)

इसीप्रकार अनुमान एवं अर्थापत्तिप्रमाण द्वारा भी इसकी भावरूपता का प्रतिपादन विद्वानों द्वारा किया गया है। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् (श्वेताश्वतरो 4/10) इत्यादि श्रुतिवाक्य भी इसकी भावरूपता को ही सिद्ध करते हैं।

(न) यत्किञ्चित्–यद्यपि अज्ञान त्रिगुणात्मक एवं भावरूप है तथापि इसके सम्बन्ध में 'इदमित्थम्' यह ऐसा ही है, यह नहीं कहा जा सकता है। इसीलिए वेदान्ताचार्यों ने 'यत्किञ्चित्' कहकर इसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वस्तुतः यही अज्ञान की विलक्षणता एवं अनिर्वचनीयता भी है। अधिकांश वेदान्ती ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय मानते हैं।

(४) अज्ञान के भेद–अद्वैतवेदान्त में उपाधिभेद के आधार पर व्यावहारिक दृष्टि से अज्ञान के दो भेद माने गए हैं (अ) समष्टिरूप अज्ञान (ब) व्यष्टिरूप अज्ञान। यहाँ समष्टि से अभिप्राय एक से है तथा व्यष्टि द्वारा अनेक में आशय ग्रहण किया गया है। जैसे-समष्टिरूप में कहने की इच्छा से वृक्षों के समूह को वन तथा व्यष्टिरूप में कथन की अभिलाषा से अलग-अलग वृक्ष को आम, जामुन, पीपल आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। इसीप्रकार समष्टिगत अनेक जलकणों के समूह को 'जलाशय' तथा व्यष्टिरूप में एक-एक जलकण अथवा वापी, कूप, तडाग आदि अनेक नामों से पृथक्-पृथक् व्यवहार करते हैं। ठीक उसीप्रकार अन्तःकरण की उपाधियों से नानारूप में प्रतीत हो रहे जीवगत अज्ञानों की समष्टि के अभिप्राय से अनेक अज्ञान इसप्रकार का व्यवहार किया जाता है। वास्तव में अज्ञान एक ही है। केवल उपाधिभेद के कारण उसके लिए एकत्व और अनेकत्व का व्यवहार होता है।

(५) अज्ञान की शक्तिय ाँ–अज्ञान की आवरण और विक्षेप्र नामक दो शक्तियाँ मानी गई हैं। इनमें आवरणशक्ति द्वारा वस्तु के वास्तविक एवं सत्यरूप को आच्छादित कर दिया जाता है तथा विक्षेपशक्ति उसमें अनेक प्रकार के अवास्तविकरूपों का आभास कराती है। जिसे यहाँ रज्जु में सर्प की भ्रान्ति द्वारा समझाया गया है। तदनुसार अन्धकार मैं पड़ी हुई रस्सी में अज्ञान की प्रथम आवरणशक्ति द्वारा उसके वास्तविक एवं सत्यरूप रज्जु को पहले आच्छादित किया जाता है। तत्पश्चात् अज्ञान की द्वितीय विक्षेपशक्ति द्वारा अपने सामर्थ्य से उसमें अवास्तविक एवं असत्यरूप सर्प का आभास कराया जाता है।

ठीक इसीप्रकार अज्ञान की आवरणशक्ति ब्रह्म अथवा आत्मा के वास्तविकस्वरूप को आच्छादित कर लेती है। तत्पश्चात् इसकी विक्षेपशक्ति द्वारा इसमें आकाशादि सृष्टिप्रपञ्च की उद्भावना कर दी जाती है। इसप्रकार सूक्ष्मशरीर से लेकर स्थूलब्रह्माण्ड पर्यन्त नामरूपात्मकजगत् की रचना इसी विक्षेपशक्ति द्वारा की जाती है। यह सम्पूर्णसृष्टि वस्तुतः पानी के बुलबुले के समान नाशवान् है। इसी आधार पर यहाँ 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' का उद्घोष किया गया।

इसके अतिरिक्त आत्मा को कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं सुखदुःखमोहात्मक इत्यादि सांसारिक तुच्छभावनाओं का अनुभव भी इसी विक्षेपशक्ति के कारण होता है। जिसप्रकार प्रकाश पड़ने पर व्यक्ति की सर्पविषयक कल्पना विलीन हो जाती है। ठीक उसीप्रकार ज्ञान होने पर जगत् की सत्य परिकल्पना एवं आत्मा के कर्तृत्व आदि की भावना भी विनष्ट हो जाती है। अतः आत्मा के कर्तृत्व की भावना संसार की वास्तविक प्रतीति दोनों ही रस्सी में सर्पत्व की भावना के समान पूर्णतया मिथ्या है। इसी अभिप्राय को भगवद्गीता में इसप्रकार कहा गया है–

"न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः" (5/14)

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि अज्ञान आवरण एवं विक्षेपशक्ति द्वारा अपने आश्रय आत्मा अथवा ब्रह्म का बल प्राप्त करके उसके स्वयं प्रकाशत्व को आच्छादित कर उसमें ईश्वर, जीव, जगत् की आकृति के रूप में रज्जु में सर्प के समान मिथ्याप्रपञ्च की सृष्टि करता है।[1]

---

1. आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपं जीवेश्वर जगदाकृतिभिर्मृषैव।
'अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगादात्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन।। (संक्षेपशारीरक 1/20)

इस प्रसङ्ग में एक प्रश्न स्वाभाविकरूप से उठता है कि स्वयंप्रकाश, चित्स्वरूप, अपरिच्छिन्न ब्रह्म अथवा आत्मा को जड़, परिच्छिन्न, अव्यापक अज्ञान द्वारा किसप्रकार आवृत किया जाता है? इस सम्बन्ध में वेदान्तशास्त्रियों ने अत्यन्त सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है–'अज्ञान की आवरणशक्ति सीमित होते हुए भी असीम आत्मा अथवा ब्रह्म को उसीप्रकार आवृत कर लेती है, जिसप्रकार विशाल आकार वाले प्रकाशपुञ्ज सूर्य को मेघ का छोटा सा टुकड़ा आच्छादित कर लेता है। अज्ञानी व्यक्ति, मेघ द्वारा दृष्टि के आच्छन्न होने पर सूर्य को मेघ से ढका हुआ मानता है, वैसे ही अज्ञानी व्यक्ति मुक्त आत्मा को बन्धनयुक्त समझता है–

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं
यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः।
तथा बद्धवद् भाति यो मूढ़दृष्टेः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥ (हस्तामलक-10)

(६) ईश्वर– यह सामान्य सिद्धान्त है कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। इसलिए सम्पूर्ण चराचरजगत् को देखकर यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि इसका भी कोई कारण होना चाहिए, जिससे यह उत्पन्न हुआ है। वेदान्तदर्शन इस प्रपञ्च का कारण ईश्वर को स्वीकार करता है। अब प्रश्न उठता है कि यह ईश्वर क्या है? यद्यपि अद्वैतवेदान्त में एकमात्र चैतन्यतत्त्व परमब्रह्म की सत्ता को सर्वोपरि स्वीकार किया गया है, जो नित्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव तथा अविकारी है तथापि माया की समष्टिगत उत्कृष्ट उपाधि से युक्त एवं माया की उपाधि से विवर्जित इन दो भेदों को भी मान्यता प्रदान की गई है।[1] माया की समष्टिगत उत्कृष्ट उपाधि से युक्त होकर निर्गुण ब्रह्म ही सगुण बन जाता है। इसीको 'ईश्वर' संज्ञा दी गई है।[2] इसे सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, अन्तर्यामी, जगत् का कारण एवं आनन्दमय माना गया है। ईश्वर के इन गुणों एवं विशेषणों का प्रतिपादन श्रुतिग्रन्थों में अनेकशः देखने को मिलता है।[3]

---

1. द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम् (ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य- 1/1/11)
2. तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्। (पञ्चदशी-3/40)।
3. मुण्डकोपनिषद्-1/1/9, कठोपनिषद्-2/3/3, श्रीमद्भगवद्गीता 18/61,

इसी बात को हम इसप्रकार भी कह सकते हैं कि त्रिगुणात्मिका माया अथवा अज्ञान को शुद्ध-सत्त्वगुण की प्रधानता और अप्रधानता के आधार पर उत्कृष्ट उपाधि एवं निकृष्ट उपाधि के रूप में जाना जा सकता है। इसी विशुद्धसत्त्वप्रधान उत्कृष्ट उपाधिभूतसमष्टिमूलक अज्ञान से उपहित चैतन्य (परमब्रह्म) को ईश्वर तथा निष्कृष्टोपाधिभूतव्यष्टिमूलक अज्ञान से उपहित चैतन्य को अद्वैतवेदान्त 'जीव' मानता है। यहाँ विशुद्धसत्त्वप्रधान से अभिप्राय रजोगुण एवं तमोगुण से अनभिभूत सत्त्वगुण की प्रधानता से ही ग्रहण करना चाहिए।

यहाँ इसी ईश्वर को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण माना गया है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। अपनी शक्ति द्वारा यह कुछ भी करने में समर्थ है, इसका कोई कारण नहीं है। वह अनादि है। ईश्वर की शक्ति अलौकिक है, क्योंकि हाथ न होने पर भी वह पदार्थों को ग्रहण कर सकता है, पैर न होने पर भी उसकी सर्वत्र गति है। वह आँख न होते हुए भी देखता है, कान न होते हुए भी सुनता है। वह सभी पदार्थों को जानता है किन्तु उसके यथार्थरूप को जानना अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

सम्पूर्ण चराचररूप प्रपञ्चसमूह का साक्षीरूप में ज्ञाता होने के कारण ईश्वर को 'सर्वज्ञ' कहा गया है। सभी जीवों को उनके कर्म के अनुसार फल प्रदान करने वाला होने के कारण उसे सर्वेश्वर अथवा ईश्वर तथा सभी जीवों के हृदय के अन्दर स्थित होकर बुद्धि का नियामक होने से अन्तर्यामी तथा आनन्द की प्रचुरता होने के कारण इसे आनन्दमय कहा गया है।

ईश्वर की अलौकिकशक्ति को अद्वैतवेदान्त में 'माया' कहा गया है। माया की शक्ति से युक्त ईश्वर सृष्टि की रचना में समर्थ होता है। यहाँ सृष्टि के प्रति ईश्वर को उपादान एवं निमित्तकारण दोनों माना गया है। जिसप्रकार एक मकड़ी तन्तुकार्य के प्रति अपनी प्रधानता से निमित्तकारण तथा अपनी उपाधि की प्रधानता से उपादानकारण होती है। उसीप्रकार ईश्वर भी चैतन्य की प्रधानता से सृष्टि का निमित्तकारण एवं मायारूप उपाधि से युक्त होने से उपादानकारण होता है। यह सृष्टि उत्पत्ति उसीप्रकार ईश्वर की

बृहदारण्यकोपनिषद्-3/7/15)।

स्वाभाविक क्रिया है, जिसप्रकार पुरुष के शरीर से केश और लोम स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं।

(७) जीव—जैसा कि पूर्व में हम कह चुके हैं कि अद्वैतवेदान्त निकृष्टोपाधिभूतव्यष्टिमूलक अज्ञान से उपहित चैतन्य को 'जीव' संज्ञा प्रदान करता है। इसप्रकार जीव अविद्या से अवच्छिन्नचैतन्य है तथा अविद्या, कर्म, शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण इसकी उपाधियाँ हैं। यहाँ इसे शरीरेन्द्रियरूपी पिञ्जरे का अध्यक्ष तथा कर्मफल का भोक्ता माना गया है। शङ्कराचार्य ने देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि उपाधियों से परिच्छिन्न परब्रह्म को ही शरीरधारी जीव कहा है।[1]

इसप्रकार ब्रह्म, ईश्वर एवं जीव इन तीनों में तात्त्विकभेद न होकर केवल उपाधि मात्र का ही भेद है। इनमें जीव स्थूल एवं सूक्ष्मतत्त्वों का संगठन है। चैतन्य इसकी प्रमुख विशेषता है। दूसरे शब्दों में शरीर, बाह्य और अन्तःकरणों से युक्त चैतन्य का नाम ही जीव है। इसका तीन प्रकार के शरीरों से सम्बन्ध रहता है—(1) स्थूल (2) सूक्ष्म एवं (3) कारण शरीर। जीवभाव को प्राप्त करने की स्थिति में चैतन्य स्थूलशरीर धारण करता है, जिसे वह मृत्यु के समय साँप की केंचुली के समान छोड़ देता है। श्रीमद्भगवद्गीता ने इसे पुराने वस्त्र को छोड़ने के समान कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।(2/22)

स्थूलशरीर एवं सूक्ष्मशरीर का सम्बन्ध पञ्चकर्मेन्द्रियों, मन, बुद्धि तथा पञ्चप्राण से है, जिसका हम आगे विस्तारपूर्वक उल्लेख करेंगे। स्थूल भोगों का आयतन होने के कारण स्थूलशरीर को अन्नमयकोश की संज्ञा दी गई है। मन, बुद्धि आदि उपर्युक्त 17 तत्त्वों से युक्त सूक्ष्मशरीर में मनोमय, प्राणमय तथा विज्ञानमय कोशों की स्थिति मानी गई है। अद्वैतवेदान्त की मान्यता के अनुसार जीवात्मा इसी सूक्ष्मशरीर के द्वारा इहलोक का परित्याग करके परलोक में प्रस्थान करता है अथवा एक स्थूलशरीर को छोड़कर दूसरे स्थूलशरीर में प्रवेश करता है। अपनी सूक्ष्मावस्था के कारण यह स्थूल नेत्रों द्वारा दिखाई भी नहीं देता है।

---

1. पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते (ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-1/2/6)।

यहाँ उपाधि-वैविध्य के आधार पर जीव की प्राज्ञ, तैजस् और विश्व तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है। मलिनसत्त्वप्रधान अज्ञान की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को 'प्राज्ञ- कहा गया है। इसीप्रकार सूक्ष्मशरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को 'तैजस्' तथा स्थूलशरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को 'विश्व' संज्ञा प्रदान की गई है। जीव के इन तीन भेदों के सम्बन्ध में आचार्य गौडपाद इसप्रकार कहते हैं–

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तः प्रज्ञस्तु तैजसः।
धनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः॥

(माण्डूक्योपनिषद्, गौडपादकारिंका-1)

वेदान्तदर्शन मनोमय आदि पञ्चकोशों से विशिष्ट चैतन्य अर्थात् जीव को कर्ता, भोक्ता एवं सुख, दुःख का अभिमानी मानता है। इस सम्बन्ध में आचार्य शङ्कर का यह कथन उल्लेखनीय है–

"कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टजीवो मनोमयादिपञ्चकोशविशिष्टः"

(बृहदारण्यकोपनिषद् शाङ्करभाष्य 1/4/15)

अद्वैतसिद्धान्त की मान्यता के अनुसार पञ्चकोशों से आवृत होते हुए भी यह जीवात्मा उनसे अलग है। रेशम बनाने वाले कीड़ों के समान अन्नमयादि कोशों से आवृत होकर यह दुःख पाता है एवं इन्हीं में भटकता रहता है। आत्मज्ञान अर्थात् अपने स्वरूप का सही-सही ज्ञान प्राप्त करने पर वह मुक्ति (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है। अन्यथा उसे इस संसार में विविध प्राणियों के शरीरों में (कर्मानुसार) बार-बार जन्म लेना पड़ता है। इस विषय में विद्यारण्यस्वामी का यह कथन विशेषरूप से उल्लेखनीय है–

यथा मुञ्जादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः।
शरीरतृतीयाद्घोरैः परं ब्रह्मैव जायते॥ (पञ्चदशी-1/33)

अर्थात् जिसप्रकार मूँज से सींक युक्ति से प्रयत्नपूर्वक निकाल ली जाती है। ठीक उसीप्रकार युक्तिपूर्वक आत्मा को शरीरत्रय एवं पञ्चकोशों से अलग कर लेने पर जीवात्मा (जीव) परमब्रह्म हो जाता है।

(८) जीव की चार अवस्थायें– आचार्य गौडपाद ने जीव की चार अवस्थाओं का कथन किया है–(1) जाग्रत, (2) स्वप्न (3) सुषुप्ति एवं (4) तुरीय। यद्यपि इनका विस्तार से आगे वर्णन किया जाएगा तथापि

प्रसंगवश यहां संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं– इनमें प्रथम अवस्था में जीव मन एवं इन्द्रियों के माध्यम से बाह्यपदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। इस स्थिति में उसका स्थूलशरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सचेष्ट रहते हैं। अन्नमयकोष से आबद्ध हुआ वह सांसारिकपदार्थों का उपभोग करता है। आचार्य गौडपाद ने जीव को इस अवस्था में बाह्यविषयों को प्रकाशित करने वाला अर्थात् बहिष्प्रज्ञ एवं स्थूलभुक् कहा है।[1]

द्वितीय, स्वप्नावस्था में जीव का शरीर और इन्द्रियाँ विश्राम करती हैं, किन्तु उसका मन क्रियाशील रहता है। इस अवस्था में जीव का सूक्ष्मशरीर से सम्बन्ध होता है तथा वह मनोमय, प्राणमय एवं विज्ञानमय इन तीन कोशों से आबद्ध रहता है। वेदान्ताचार्यों ने इसे अन्तःप्रज्ञ एवं प्रविविक्तभुक् संज्ञा प्रदान की है। मन की वासना के अनुरूप कार्य करने के कारण इसे अन्तःप्रज्ञ भी कहा गया है।

तृतीय, सुषुप्ति अवस्था में जीव न तो किसीप्रकार की कामना करता है और न ही कोई स्वप्न देखता है, क्योंकि उसके स्थूलदेह, इन्द्रियाँ अन्तःकरण आदि कार्य नहीं करते हैं। जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में जीव आनन्द के साथ दुःख का भी अनुभव करता है, किन्तु इस अवस्था में केवल आनन्द की प्रचुरता रहती है। अतः उसे 'आनन्दभुक्' कहा जाता है। इस अवस्था में जीव चैतन्य से प्रदीप्त अज्ञानवृत्ति की प्रधानता से युक्त हुआ 'चेतोमुख' भी कहलाता है। प्रसुप्त अवस्था में बुद्धि उसीप्रकार स्थित रहती है, जिसप्रकार वट के बीज में वट का वृक्ष छिपा रहता है। यह आनन्दमयकोष से आबद्ध अवस्था है।

चतुर्थ, तुरीय अवस्था में सभीप्रकार के प्रपञ्चों का उपशम हो जाता है। इसमें जीव न अन्तःप्रज्ञ रहता है, न बहिष्प्रज्ञ और न ही उभयप्रज्ञ। यह उसका शान्त, शिव एवं अद्वैतरूप माना गया है। सभीप्रकार के दुःखों की निवृत्ति होकर कार्यकारणभाव समाप्त हो जाता है। साथ ही वासना-बीजों का भी नाश हो जाता है। सभी कोशों से मुक्त होकर जीव इस अवस्था में ब्रह्ममय बन जाता है। अनादि माया अथवा अज्ञान उसका साथ छोड़ देता है तथा उसे पूर्णतया अवबुद्ध एवं अद्वैतभाव की प्राप्ति होती है।

---

1. माण्ड्क्योपनिषद्, आगमप्रकरण-3

(९) **जगत्**–अद्वैतवेदान्त जगत् को मिथ्या प्रतिपादित करता है–"ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या" ब्रह्म अथवा आत्मज्ञान न होने की स्थिति तक ही यह जगत् हमें सत्य प्रतीत होता है। उसकी यह प्रतीति सीप में चाँदी अथवा रज्जु में सर्प के समान मानी गई है, क्योंकि इसकी सत्ता आत्मज्ञान न होने की स्थिति पर्यन्त ही रहती है। जिसप्रकार अज्ञान की निवृत्ति होने पर सीपी और रज्जु हमें अपने वास्तविकरूप में प्रतीत होते हैं, ठीक उसीप्रकार ब्रह्मबोध होने पर जगत् का मिथ्यात्व स्वतःसिद्ध हो जाता है।

वेदान्त सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को मानता है। उसकी दृष्टि में यह जगत् ब्रह्म (ईश्वर) का कार्य है। साथ ही प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक इन तीन प्रकार की सत्ताओं में से यहाँ जगत् की व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सत्ता को स्वीकार किया गया है, क्योंकि पदार्थ की वह सत्ता जो प्रतीतिकाल में सत्य प्रतीत हो, किन्तु कुछ समय के पश्चात् अन्य ज्ञान द्वारा बाधित हो जाए प्रातिभासिक कहलाती है। जैसे–रज्जु में सर्प की प्रतीति, क्योंकि प्रकाश की स्थिति में रज्जु में सर्पविषयकज्ञान का बाध होकर यथार्थसत्ता रज्जु का भान हो जाता है। उसीप्रकार इस दृश्यमान जगत् की प्रतीति ब्रह्मज्ञान पर्यन्त होती है। अतः यही इसकी प्रातिभासिक सत्ता हुई।

इसके अतिरिक्त व्यवहार के समय दिखायी देने वाली पदार्थों की सत्ता को व्यावहारिकसत्ता कहा जाता है, क्योंकि यह सम्पूर्णजगत् तथा इसके घट, पट आदि पदार्थ व्यवहारकाल में सत्य हैं। अतः इसे व्यावहारिकसत्ता वाला भी माना जाएगा। पारममर्थिकसत्ता भौतिकपदार्थों की सत्ता से भिन्न एवं विलक्षण होती है, क्योंकि तीनों कालों में एकरूप में अवस्थित रहने वाली सत्ता पारमार्थिक कहलाती है तथा यह दृश्यमानजगत् एवं इसके घट-पट आदि पदार्थ विकारवान् हैं, नश्वर हैं, कल नहीं रहेंगे। अतः इसकी पारमार्थिकसत्ता का निषेध किया गया है। वेदान्त में एकमात्र ब्रह्म की पारमार्थिकसत्ता स्वीकार की गई है।

इस आधार पर यह निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि ब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से सत्य है तथा जगत् की सत्ता केवल व्यवहारकाल तक सीमित है। पारमार्थिकदृष्टि से जगत् मिथ्या है। दार्शनिकभाषा में दृश्यमान जगत् रस्सी में सर्प के समान केवल आभासित होता है। इसीकारण ब्रह्मज्ञान

सम्पन्न जीवनमुक्त को यह जगत् परमार्थतः असत् एवं मिथ्या प्रतीत होता है।

इस प्रसङ्ग में यह उल्लेखनीय है कि तत्त्वज्ञान की स्थिति में जगत् अर्थात् बाह्यपदार्थों का अभाव नहीं होता है। उसकी सत्ता पूर्ववत् बनी रहती है। यदि ऐसा नहीं होता तो एक जीव के मुक्त होने पर सभी के लिए जगत् का अभाव हो जाता। इसलिए तत्त्वज्ञान की स्थिति में इसे इसप्रकार समझना चाहिए कि दृश्यमानजगत् अपने उसी रूप में विद्यमान रहता है। केवल साधक का दृष्टिकोण बदल जाता है। उसकी भावना या ज्ञान में अन्तर आ जाता है और वह ब्रह्मैक्य को प्राप्त करके जगत् को मिथ्या मानने लगता है।

(१०) शरीरत्रय–वेदान्तदर्शन के अनुसार जीव के तीन शरीर होते हैं– (अ) कारणशरीर (ब) सूक्ष्मशरीर तथा (स) स्थूलशरीर।

"स्थूलं सूक्ष्मं कारणाख्यमुपाधित्रितयं चित्रेः।
एभिर्विशिष्टो जीवः स्याद् विमुक्तः परमेश्वरः।।

(अ) कारणशरीर–सृष्टि के प्रारम्भ में जीव कारणशरीर का आश्रय लेकर विद्यमान रहता है। जैसाकि पूर्व में प्रतिपादित किया जा चुका है कि अद्वैतवेदान्त केवल ब्रह्म की शाश्वतस्थिति को ही स्वीकार करता है तथा द्वैतवेदान्त, ब्रह्म और माया इन दोनों के हमेशा (नित्य) अस्तित्व को मान्यता प्रदान करता है। माया सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणों का नाम है। इसीको अज्ञान भी कहा जाता है।

ब्रह्म जब शुद्धसत्त्वप्रधान अज्ञान से आवृत्त होता है तो इसीको ईश्वर कहा जाता है। यही अव्यक्त, अन्तर्यामी संसार का कारणरूप होने से कारणशरीर कहलाता है। इसमें आनन्द का प्राचुर्य रहता है। अतः इसीको 'आनन्दमयकोष' भी कहते हैं। प्रलय की अवस्था में भी इसकी स्थिति बनी रहती है। सूक्ष्म एवं स्थूलशरीरों का यह लयस्थान भी होता है। साथ ही स्थूल एवं सूक्ष्म जगत्प्रपञ्च का लयस्थान होने के कारण इसीको 'सुषुप्ति' भी कहा गया है।

चित्र-१

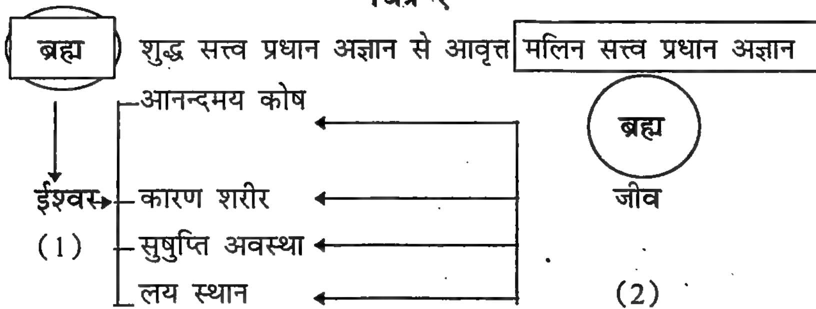

(ब) सूक्ष्मशरीर–इसका केवल अनुमानप्रमाण द्वारा ही ज्ञान होता है। हम इसे किसी भी प्रकार देख अथवा छू नहीं सकते हैं। इसीकारण इसे सूक्ष्मशरीर कहा जाता है। इसका दूसरा नाम 'लिङ्गशरीर' भी है। स्वामी रामतीर्थ ने इसकी व्युत्पत्ति इसप्रकार की है–

"लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भाव एभिरिति लिङ्गानि, लिङ्गानि च शरीराणि चेति लिङ्गशरीराणि" (वेदान्तसार-विद्वन्मनोरञ्जनी-पृ. 100)

इसी के माध्यम से जीव सुख-दुःख का अनुभव करता है। वेदान्तदर्शन के अनुसार इसमें सत्रह अवयव होते हैं–पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चवायु तथा बुद्धि एवं मन। पञ्चदशीकार के अनुसार–

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया।
शरीरं सप्तदशाभिः सूक्ष्मं तल्लिंगमुच्यते।। (1/23)

जीव के पापपुण्यों (धर्म-अधर्म) का लेखा-जोखा इसीकारणशरीर में विद्यमान रहता है। यही जीवात्मा का एक प्रकार से घर अथवा निवास स्थान है। कठोपनिषद्कार ने इसे 'रथ' की संज्ञा भी दी है। इसका रथी आत्मा है, क्योंकि एक स्थूलशरीर से दूसरे स्थूलशरीर में प्रवेश करने के लिए यह सूक्ष्मशरीर आश्रय अथवा माध्यम का कार्य करता है।

इसी प्रसङ्ग में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि सांख्यदर्शन भी सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व को स्वीकार करता है। उसने इसके अट्ठारह तत्त्वों को मान्यता प्रदान की है–महत् (बुद्धि), अहङ्कार, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण। अतः स्पष्ट है कि सांख्यदर्शन 'अहङ्कार' को सूक्ष्मशरीर में अधिक तत्त्व के रूप में स्वीकार करता है। जबकि वेदान्तसार के टीकाकार

स्वामी रामतीर्थ अहङ्कार का अन्तर्भाव मन में करते हैं। उनके अनुसार अहङ्कार भी सङ्कल्पात्मक ही होता है।

वेदान्तदर्शन के अनुसार सूक्ष्मशरीर को हम इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र-२

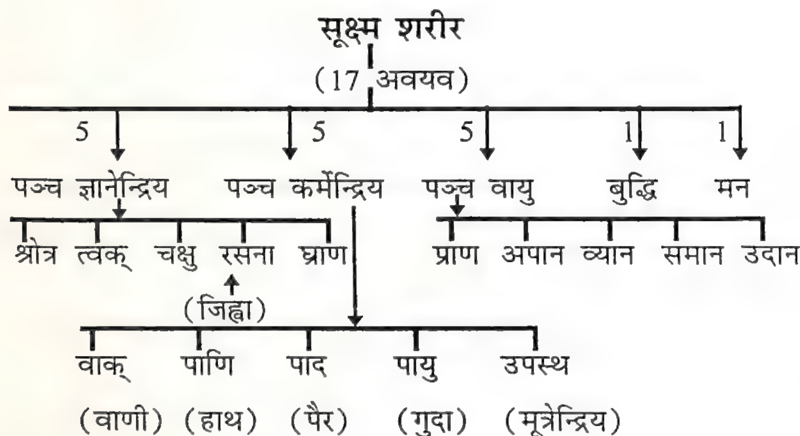

इसी प्रसङ्ग में इनका पृथक्-पृथक् परिचय देना उपयुक्त होगा।

(क) पञ्चज्ञानेन्द्रिय–श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण इन्हें ज्ञानेन्द्रियों की श्रेणी में रखा गया है। इनकी उत्पत्ति आकाशादि अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूतों के सात्त्विक अंशों से पृथक्-पृथक् रूप में मानी गयी है।

ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि। एतान्याकाशादिनां सात्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्य: पृथक्-पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते (वेदान्तसार)।

अर्थात् आकाश के सात्त्विक अंश से श्रोत्र नामक ज्ञानेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है। इसका कार्य श्रवण करना है, क्योंकि शब्द आकाश का गुण है। अत: यह शब्द की ग्राहक है। इसीप्रकार अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूत वायु के सात्त्विक अंश से त्वक् नामक ज्ञानेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई, क्योंकि स्पर्श वायु का गुण है। अत: त्वगेन्द्रिय शीतल या उष्ण स्पर्श का ज्ञान कराती है।

इसके अतिरिक्त अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूत अग्नि के सात्त्विक अंश से चक्षु नामक ज्ञानेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई और अग्नि का गुण है, रूप। इसलिए चक्षु नामक इन्द्रिय दर्शन कराती है। इसीप्रकार अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूत 'जल' के

सात्त्विक अंश से रसना (जिह्वा) नामक ज्ञानेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है, क्योंकि जल का गुण रस है। अतः रसना ज्ञानेन्द्रिय द्वारा हमें रस अर्थात् स्वाद की प्रतीति होती है।

साथ ही अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूत पृथिवी के सात्त्विक अंश से घ्राण नामक ज्ञानेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है, क्योंकि पृथ्वी का गुण है, गन्ध। इसीलिए घ्राणेन्द्रिय द्वारा हम गन्ध को ग्रहण करते हैं। ज्ञान को ग्रहण करने के कारण इन्हें ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं।

चित्र-३

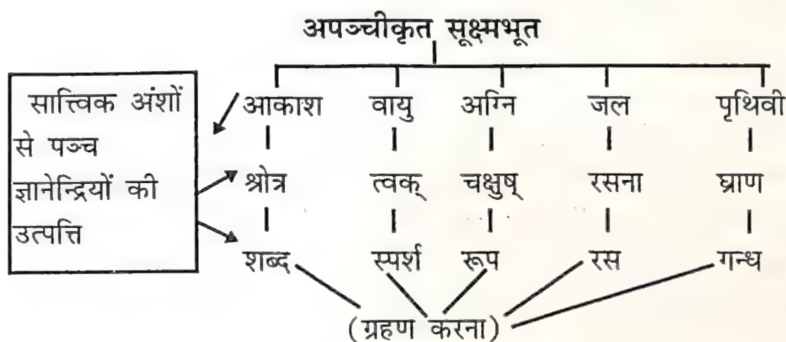

(ख) पञ्चकर्मेन्द्रिय– कर्म को सम्पादित करने के कारण इन्हें कर्मेन्द्रिय कहा जाता है। इनकी संख्या भी पांच है–वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ। इनकी उत्पत्ति अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूतों के रजोगुण के अंश से अलग-अलग मानी गई है। अर्थात् रजोगुणप्रधान आकाश नामक अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूत से वाक् (वाणी) नामक कर्मेन्द्रिय की, रजोगुण प्रधान 'वायु' नामक सूक्ष्मभूत से पाणि (हाथ) नामक कर्मेन्द्रिय की, रजोगुणप्रधान 'अग्नि' नामक अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूत से पाद अर्थात् पैर नामक कर्मेन्द्रिय की, इसीप्रकार रजोगुणप्रधान 'जल' नामक अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूत से पायु अर्थात् गुदा नामक कर्मेन्द्रिय की तथा रजोगुणप्रधान पृथिवी नामक अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूत से 'उपस्थ' अर्थात् जननेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है।

रजोगुण के स्वभाव से चञ्चल एवं क्रियाशील होने के कारण सभी कर्मेन्द्रियों में गति एवं क्रियाशीलता देखने को मिलती है। इसी अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र-४

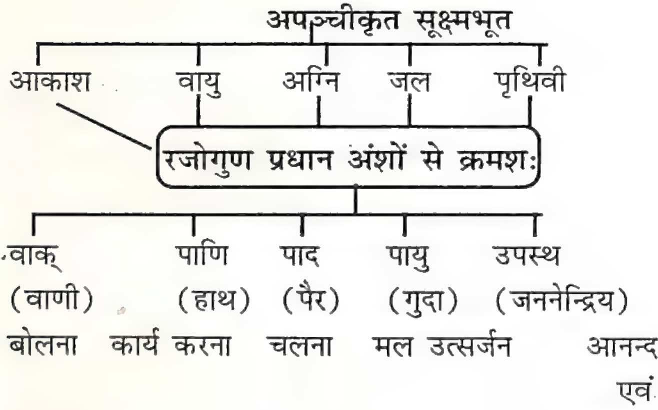

(ग) पञ्चवायु– प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान ये पाँच वायु हैं। इनकी उत्पत्ति अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूतों के रजोगुण अंश से स्वीकार की गई है। इनका शरीर के विभिन्न अङ्गों में वास माना गया है। जैसे–नासिका के अग्रभाग पर विराजमान वायु 'प्राण' है। यह ऊर्ध्व गमनशीला है। (प्राणो नाम प्राग्गमनवान् नासाग्रस्थानवर्ती-वेदान्तसार)

किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में इसकी स्थिति हृदय में स्वीकार की गयी है। (प्राणी हृदये-तैत्तिरीयब्राह्मण 3/10/8/5)। पुनरपि हृदय में स्थित होते हुए भी प्रत्यक्षरूप से नासिका के अग्रभाग पर अवस्थित होने के कारण इसका नासिका के अग्रभाग पर स्थित होना ही विद्वानों को स्वीकार्य रहा है (वेदान्तसार विद्वन्मनोरञ्जनीकार)

अपान नामक वायु को गुदा एवं उपस्थ (जननेन्द्रिय) में स्थित माना गया है। नाभि के नीचे की ओर जाना इसका स्वभाव है। सम्भवतः इसीकारण इसे अधोगमनशीला कहा गया है। इसीप्रकार 'व्यान' नामक वायु का स्वभाव सभी और गमन करना है। अतः इसकी स्थिति सम्पूर्णशरीर में स्वीकार की गई है।

प्रतिदिन खाए हुए अन्न पानादि को पचाने वाली, उदर में निवास करने वाली वायु ही 'समान' है। इसका प्रमुख कार्य उदरस्थ अन्न से साररूप रस निकालकर उसका रुधिर आदि के रूप में परिपाक करना तथा अवशिष्ट अन्न को मल-मूत्र के रूप में बाहर निकलना है। उदान वायु का निवास कण्ठ में होता है। ऊर्ध्वगमन इसका स्वभाव है। अतः मृत्यु के समय शरीर

से इसका उत्क्रमण माना गया है। पञ्चवायुओं की स्थिति एवं कार्य को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र–५

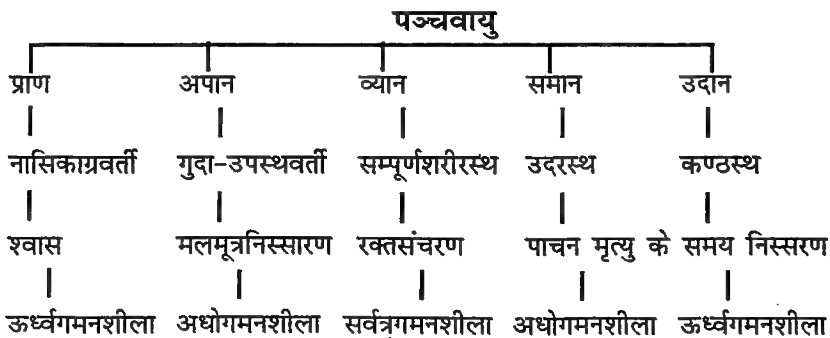

उपर्युक्त पञ्चवायुओं के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनञ्जय पाँच अन्य वायुओं के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है। उनके अनुसार नागवायु उद्गार एवं वमन लाने वाली, कूर्मवायु आँखों का उन्मीलन, निमीलन कराने वाली, कृकल नामक वायु भूख लगाने वाली, देवदत्त नामक वायु जमुहाई लाने वाली होती है। इसीप्रकार धनञ्जय नामक वायु द्वारा शरीर का पोषण किया जाता है। किन्तु वेदान्तशास्त्र इन सभी का अन्तर्भाव पूर्ववर्णित चारों वायुओं में कर लेता है। (एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात् प्राणादयः पञ्चैवेति केचित् (वेदान्तसार)। विद्वन्मनो- रञ्जनीकार स्वामीरामतीर्थ ने विस्तारपूर्वक नाग आदि पञ्चवायुओं का अन्तर्भाव पूर्ववर्णित प्राण, अपान इत्यादि वायुओं में ही किया है।

(घ) बुद्धि और मन–ये दोनों शरीर के अन्तःभाग में स्थित इन्द्रियाँ हैं। अतः इन्हें अन्तरिन्द्रिय भी कहा जाता है। वस्तुतः ये दोनों ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से विषयों का ग्रहण करती है। इसलिए इन्हें अन्तःकरण भी कहते हैं। अन्तःकरण की निश्चयात्मकवृत्ति को 'बुद्धि' कहा गया है। इसका कार्य अध्यवसाय अर्थात् निश्चय करना है। इसके अतिरिक्त मन अन्तःकरण की ही दूसरी वृत्ति है। इसका कार्य संकल्प-विकल्प करना है। इनकी उत्पत्ति आकाशादिक सात्त्विक अंश के मिश्रितरूप से मानी गयी है। कुछ विद्वानों ने अन्तःकरण की चित्त और अहंकार नामक दो अन्य वृत्तियों का भी उल्लेख

किया है, इनमें अनुसन्धानात्मिका अन्तःकरणवृत्ति को चित्त तथा अभिमानात्मिकावृत्ति को अहंकार कहते हैं–

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम्।

संशयी निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे।। (शारीरकोपनिषद्-12)

किन्तु आचार्य सदानन्द ने वेदान्तसार में चित्त का बुद्धि में तथा अहङ्कार का मन में ही अन्तर्भाव माना है– (अनयोरेव चित्ताहंकारयोरन्तर्भावः) उनके अनुसार गर्वरूप अहङ्कार जिसमें संशयात्मकरूप में स्थित, अपने उत्कर्ष की सम्भावना का मन में अन्तर्भाव करना चाहिए। इसीप्रकार विषय का परिच्छित्ति (स्मरण) रूप में ज्ञान कराने वाले चित्त का अन्तर्भाव बुद्धि में करना संगत प्रतीत होता है, क्योंकि स्मरण की उत्पत्ति निश्चयात्मक अनुभव से ही होती है।

इसप्रकार कारणशरीर के निर्माण में विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय इन कोषत्रय की महती भूमिका रहती है, क्योंकि विज्ञानमयकोष में पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ+बुद्धि होता है। मनोमयकोष का निर्माण पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ+मन द्वारा होता है। इसीप्रकार पञ्चप्राण सहित कर्मेन्द्रियों का समूह प्राणमयकोष कहलाता है। अतः कोष की दृष्टि से कारणशरीर के स्वरूप का उल्लेख इसप्रकार भी किया जा सकता है–

चित्र-६

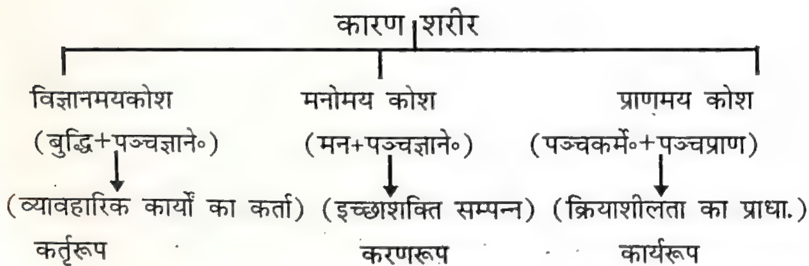

(स) स्थूलशरीर–आकाश आदि सूक्ष्मभूतों के पञ्चीकरण के बाद आकाश आदि स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है, जिसका विस्तृतवर्णन आगे सृष्टिप्रक्रिया के अन्तर्गत किया जाएगा। इन स्थूलभूतों द्वारा ब्रह्माण्ड का निर्माण होता है एवं उसमें चार प्रकार के स्थूल शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं। यहाँ हम इन्हीं चारों स्थूल शरीरों का उल्लेख करेंगे–

जैसा कि कथन किया गया कि स्थूलशरीर का निर्माण आकाश आदि पञ्चीकृत स्थूलभूतों से होता है। यह शरीर ही वस्तुतः जन्म-मरण की स्थिति को प्राप्त होता है। इसी शरीर द्वारा जीवात्मा कर्म करता है तथा उससे प्राप्त होने वाले फल को भोगता है। यह स्थूलशरीर माता-पिता द्वारा खाए हुए तथा जन्म के बाद स्वयं द्वारा खाए अन्न का विकार होने के कारण अन्नमयकोश कहलाता है तथा जीव की यह जाग्रत अवस्था होती है।

स्थूलशरीर चार प्रकार के होते हैं–(1) जरायुज (2) अण्डज (3) स्वेदज (4) एवं उद्भिज्ज।

जरायु (उदर में रहने वाली पतली झिल्ली-जेर) से उत्पन्न होने वाले मनुष्य, पशु आदि जरायुज हैं। अण्डों से उत्पन्न होने वाले पक्षी, सर्प आदि अण्डज हैं। पसीने से उत्पन्न होने वाले जूँ, मच्छर आदि स्वेदज हैं तथा भूमि को उद्भेद (फाड़) कर उत्पन्न होने वाले लता, वृक्ष आदि उद्भिज्ज नामक स्थूलशरीर हैं। स्थूलभोग का आश्रय होने के कारण इन्हें स्थूलशरीर तथा विषयों का भोग करने के कारण जाग्रत् कहा जाता है। इन चारों स्थूलशरीरों में मनुष्य की योनि को उत्कृष्ट माना गया है, क्योंकि इसमें उसे चिन्तन, बोध, संकल्प शक्ति की सामर्थ्य प्राप्त होती है। इस शरीर द्वारा प्रयत्न करके वह उत्कृष्टस्थिति (देवत्वादि) को भी प्राप्त कर सकता है। यहाँ तक कि जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है तथा निकृष्टकर्मों का सम्पादन करके निम्न से निम्न योनियों में भी जा सकता है। इनमें शेष उद्भिज्जादि दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली भोग योनियाँ हैं।

चित्र-७

स्थूल शरीर

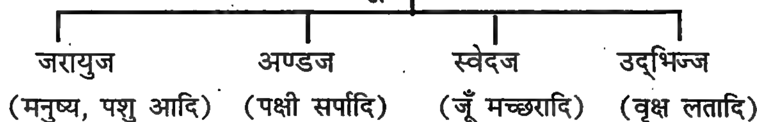

(११) पञ्चकोष–उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आत्मा के आच्छादक तत्त्वों में प्रमुखरूप से अज्ञान की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है, उसी से ईश्वर, जीव, जगत् आदि की सृष्टि होती है। तीनों प्रकार के शरीरों के निर्माण एवं विकास में कोशों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। इनकी संख्या कुल मिलाकर पाँच मानी गई है। (1) आनन्दमयकोष (2) विज्ञानमयकोष (3) मनोमयकोष (4) प्राणमयकोष तथा (5) अन्नमयकोष।

(क) आनन्दमयकोष–आत्मा के आच्छादक होने के कारण अथवा समूह में स्थित होने के कारण ही इन्हें कोष की संज्ञा प्रदान की गई है। इन पञ्चकोषों में प्रथम **आनन्दमयकोष** की स्थिति सृष्टि के विकास की प्रथम कारणावस्था में विद्यमान होती है। निर्गुणब्रह्म जब शुद्धसत्त्वप्रधान अज्ञान से आच्छादित होता है तो वही कारणशरीर, ईश्वर तथा आनन्द की प्रचुरता के कारण आनन्दमय कोष कहलाता है। प्रलय की अवस्था में भी यह विद्यमान रहता है। यही सूक्ष्मशरीर का लयस्थान भी है। इसीलिए इस अवस्था को सुषुप्ति कहा गया है। ये ही सब स्थितियाँ ब्रह्म के मलिन सत्त्वप्रधान अज्ञान से आच्छादित होने पर 'जीव' पक्ष में भी होती हैं। (द्रष्टव्य चित्र संख्या-1)

(ख) विज्ञानमयकोष–जीव की स्वप्नावस्था में स्थित 'सूक्ष्मशरीर' में तीन कोषों की स्थिति को स्वीकार किया गया है, विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय। इन तीन कोशों के मिलने पर ही सूक्ष्मशरीर का निर्माण होता है। इनमें विज्ञानमयकोष के अन्तर्गत आकाशादि अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूतों के सात्त्विक अंशों से उत्पन्न श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, रसना और घ्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ बुद्धितत्त्व विद्यमान रहता है। अन्तःकरण की निश्चयात्मक वृत्ति 'बुद्धि' द्वारा ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ नियन्त्रित होती हैं। अतः इस कोष का कार्य 'निश्चय' करना है।

(ग) मनोमयकोष–सूक्ष्मशरीर में स्थित तीन कोषों में से इसका द्वितीय स्थान है। इसके अन्तर्गत आकाशादि अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूतों के रजोगुणप्रधान अंशों से उत्पन्न वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन पञ्चकर्मेन्द्रियों के साथ मन की स्थिति विद्यमान रहती है। मन के संकल्प-विकल्पात्मक होने के कारण मनोमयकोष का कार्य संकल्पविकल्प माना गया है। दूसरे शब्दों में यह कोष इच्छाशक्ति से युक्त होता है।

(घ) प्राणमयकोष–यह सूक्ष्मशरीर में ही स्थित तृतीयकोष है। शरीर के विभिन्नस्थानों पर रहने वाले प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान नाम पञ्चवायु एवं वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन पञ्चकर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर इस कोष का निर्माण होता है। क्रियाशीलता प्राण का धर्म है अतः इनके प्रभाव से ही कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों को सम्पादित करती हैं। इस दृष्टि से इस कोष में क्रियाशीलता का प्राधान्य कहा जा सकता है। वैसे भी पञ्चप्राणों की उत्पत्ति अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूतों के रजोंऽशों से मानी

गई है। चञ्चलता, गति रजोगुण की विशेषता है। इसीलिए प्राणों में गतिशीलता देखी जाती है तथा प्राणों के सान्निध्य से कर्मेन्द्रियाँ गतिशील होती हैं। इसीकारण प्राणमयकोष को गतिशील अथवा क्रियाशीलकोष माना गया है। विज्ञानमय तथा मनोमयकोष की क्रियाशीलता केवल अनुभव का विषय होती है, अतः अप्रत्यक्ष होती है। जबकि इसकी क्रियाशीलता को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय ये तीनों कोष जीव की स्वप्नावस्था में विद्यमान होते हैं।

(ङ) अन्नमयकोष–पञ्चम एवं अन्तिम अन्नमयकोष होता है। यह जीव की जाग्रत अवस्था में विद्यमान रहता है। अतः इसीको जाग्रत भी कहते हैं। अन्न के विकार का बाहुल्य होने से इसे अन्नमय कहा गया है तथा आत्मा का आच्छादक होने से इसे कोष संज्ञा प्रदान की गई है। जीव इसी कोष के माध्यम से विषयों का उपभोग करता है। भोगों के उपभोग में सभीप्रकार की इन्द्रियाँ भी सहायक होती हैं। इस कोष का निर्माण पञ्चीकृत महाभूतों से होता है।

उपर्युक्त पञ्चकोषों को एक साथ इसप्रकार भी समझा जा सकता है–

चित्र-८

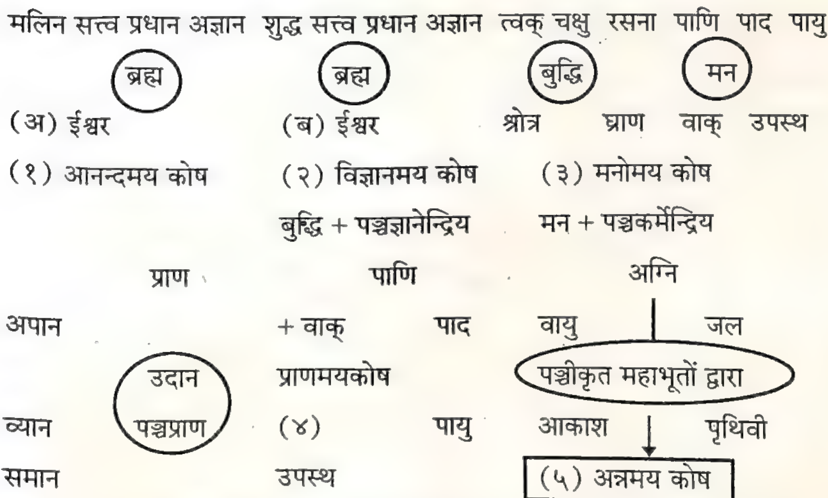

(१२) पञ्चीकरणप्रक्रिया–स्थूलसृष्टि के निर्माण की प्रक्रिया में अद्वैतवेदान्त पञ्चीकरण के सिद्धान्त को महत्ता प्रदान करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आकाश आदि पञ्चभूतों की तन्मात्राओं के संयोग से

स्थूलमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। यहाँ प्रत्येक भूत में अन्य चार भूतों के मिश्रण को पञ्चीकरण कहा गया है। अर्थात् जो पाँच नहीं है, उन्हें पाँच बना देने का नाम ही पञ्चीकरण है।

पञ्चीकरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए आचार्य सदानन्द ने पञ्चदशी की निम्नकारिका को उद्धृत किया है–

द्विधा विधाय चैकेकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्व स्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते।।1/27।।

अर्थात् सबसे पहले आकाश आदि पाँच सूक्ष्मभूतों में प्रत्येक को दो-दो समान भागों में विभाजित कर लेते हैं। इसप्रकार विभक्त पञ्चतन्मात्राओं के दस भागों में से पहले पाँच को, छोड़कर दूसरे पाँच भागों को फिर से बराबर चार-चार भागों में विभाजित करते हैं। तत्पश्चात् उन चार बराबर भागों में से एक-एक भाग को अपने-अपने दूसरे आधे भाग को छोड़कर दूसरे चार भूतों के दूसरे अर्धभाग में मिलाने पर एक-एक पञ्चीकृत महाभूत का निर्माण होता है। वेदान्तदर्शन की भाषा में इसी प्रक्रिया को पञ्चीकरण की प्रक्रिया कहते हैं। इस सम्पूर्णप्रक्रिया को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र-९

अपञ्चीकृत पञ्चीभूत

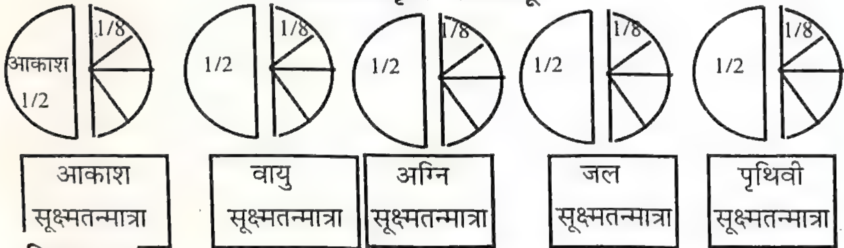

चित्र-१०

पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत

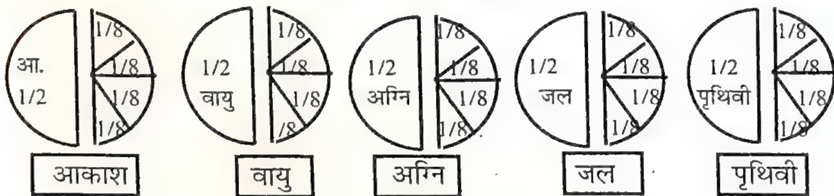

(1) स्थूल आकाश= 1/2 आकाश + 1/8 अग्नि + 1/8 वायु+1/8जल+1/8 पृथ्वी

(2) स्थूल वायु= 1/2 वायु + 1/8 आकाश / 1/8 अग्नि+1/8 जल+ 1/8पृथ्वी।

(3) स्थूल अग्नि=1/2 अग्नि+1/8 आकाश+ 1/8 वायु + 1/8 जल + 1/8 पृथ्वी

(4) स्थूल जल=1/2 जल +1/8 आकाश+ 1/8 वायु + 1/8 अग्नि + 1/8 पृथ्वी

(5) स्थूल पृथिवी= 1/2 पृथिवी +1/8 आकाश+1/8 वायु+1/8 अग्नि+1/8 जल

इसप्रकार पञ्चीकरण की प्रक्रिया से प्रत्येक सूक्ष्मभूत महाभूत होकर पिण्ड के रूप में एक इकाई बन जाता है। अतः इस प्रक्रिया के पश्चात् आकाश मात्र आकाश नहीं रहता, अपितु उसमें आकाशीयतत्त्व आधा रहता है तथा शेष चार भूतों में से प्रत्येक का भी 1/8 भाग होने से इस स्थूलभूत में उनके गुण भी विद्यमान रहते हैं। ठीक यही स्थिति शेष चार महाभूतों की भी होती है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि जिस भूत में जिस अंश की प्रधानता रहती है, उसी के आधार पर उसका नामकरण होता है। वेदान्तदर्शन के अनुसार इन्हीं पञ्चीकृतमहाभूतों से चौदहभुवन तथा उनमें निवास करने वाले सम्पूर्ण प्राणिवर्ग अर्थात् चारप्रकार के स्थूलशरीरों का निर्माण होता है।

चित्र-११

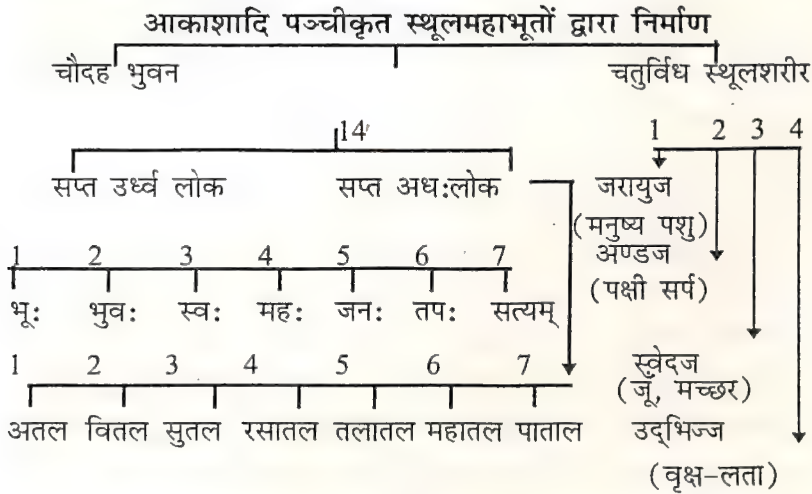

पञ्चीकरण की प्रक्रिया के पश्चात् ही आकाश में शब्दगुण की, वायु में शब्द एवं स्पर्श की, अग्नि में शब्द, स्पर्श, रूप और रस की, तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक गुणों की अभिव्यक्ति होती है।

(१३) त्रिवृत्करण—वेदान्तसार के लेखक आचार्य सदानन्द ने पञ्चीकरण प्रक्रिया के प्रसंग में ही त्रिवृत्करण का उल्लेख करते हुए इसे पञ्चीकरण का ही उपलक्षण माना है—"अस्याप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात्" त्रिवृत्करण वस्तुतः उपनिषदों

में प्रतिपादित सिद्धान्त है। छान्दोग्योपनिषद् की टीका करते हुए आचार्य आनन्दगिरि लिखते हैं–

प्रथममेकैकां देवतां द्विधा विभज्य, पुनरेकैकं भागं द्विधा द्विधा कृत्वा तदितरभागयोर्निक्षिप्य त्रिवृत्करणं विवक्षितम् (6/3/2-3)

इसके अनुसार अग्नि, जल, पृथिवी इन तीन भूतों में से सर्वप्रथम एक-एक को दो-दो भागों में विभाजित करके पुनः प्रत्येक एक-एक भाग के दो-दो विभाग करके उन्हें परस्पर इसप्रकार संयुक्त किया जाए–

चित्र-१२

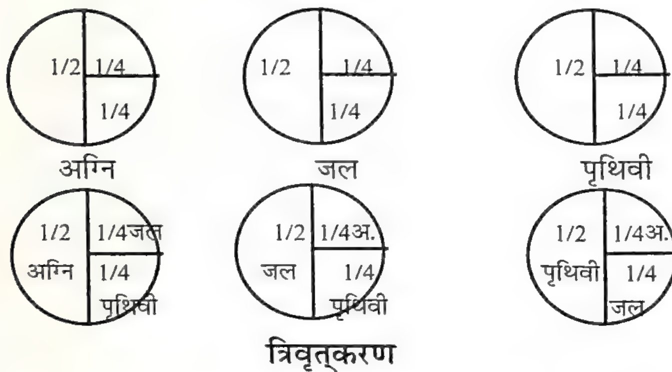

त्रिवृत्करण

इसप्रकार करने पर अग्नि, जल और पृथिवी में प्रत्येक का आधा अपना-अपना भाग होता है तथा शेष दो भूतों का चौथाई-चौथाई भाग होता है। अतः प्रत्येक भूत में अपना प्राधान्य तथा अन्य दो भूतों का गौणभाव होता है। इनके नामकरण का आधार भी यह गुणप्राधान्य ही है।

यद्यपि पञ्चीकरणप्रक्रिया का उल्लेख श्रुति में भी हुआ है, तथापि प्रयोग की सरलता की दृष्टि से उपनिषद्ग्रन्थों में त्रिवृत्करण का कथन किया गया है, क्योंकि पञ्चीकरण की प्रक्रिया कुछ जटिल होने के कारण सामान्य-व्यक्ति के लिए सरलतापूर्वक बोधगम्य नहीं है। वस्तुतः त्रिवृत्करण की प्रक्रिया भी पञ्चीकरण की ओर ही संकेत करती है। अतः इसकी प्रामाणिकता में संदेह नहीं करना चाहिए।

(१४) प्रमाण– प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान के कारण को दार्शनिक भाषा में प्रमाण कहते हैं। यहाँ किसी भी कथन की सत्यता का आधार प्रमाण को माना गया है। अन्य दर्शनों के समान वेदान्तदर्शन भी प्रमाणों को मान्यता प्रदान करता है। उसकी दृष्टि में एकमात्र ब्रह्म पूर्णतया सत्य, नित्य एवं

पारमार्थिक सत्तावान् है, शेष सम्पूर्णजगत् भ्रान्तिभासिकसत्तावान् होने से अनित्य एवं मिथ्या है (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या)। साथ ही वेदान्तदर्शन व्यावहारिकदृष्टि से सभी सांसारिकवस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करता है। अतः उन सभी की सिद्धि के लिए यहां भी अन्य दर्शनों के समान प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। यहाँ इनकी संख्या छः रही है– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अभावप्रमाण। अब हम इनका क्रमशः वर्णन करेंगे–

(i) प्रत्यक्ष– यथार्थज्ञान का कारण प्रत्यक्षप्रमाण को माना गया है। दूसरे शब्दों में इसे प्रत्यक्षरूप से होने वाला यथार्थ-अनुभव भी कहा जा सकता है। यह अनुभव वस्तु के ज्ञानेन्द्रियों के साथ सम्पर्क के परिणामस्वरूप होता है। घट-पट आदि कोई वस्तु जब नेत्र आदि इन्द्रिय के सम्पर्क में आती है तो मन एवं बुद्धिरूप अन्तरिन्द्रिय उस वस्तु तक पहुँचते हैं तथा वे उस वस्तु के आकार से आकारित हो जाते हैं। इस स्थिति में व्यक्ति को निश्चयात्मिकाबुद्धि द्वारा उसके घट (घड़ा) अथवा पट (कपड़ा) होने का यथार्थज्ञान होता है। इस प्रत्यक्षप्रक्रिया में वस्तु का इन्द्रिय के साथ सम्पर्क होना अत्यावश्यक है। जिसके परिणामस्वरूप 'चित्' आभास से आभासित अन्तःकरणवृत्ति अपने वस्तुविषयक अज्ञान को विनष्ट कर देती है और हमें वस्तु का यथार्थप्रत्यक्ष (ज्ञान) होता है।

वेदान्तदर्शन के अनुसार यह प्रत्यक्ष ठीक वैसा ही होता है, जैसा कि किसी दीपक का प्रकाश वहाँ फैले अन्धकार को अपने प्रभाव से विनष्ट भी करता है तथा वहाँ स्थित घट आदि वस्तुओं को प्रकाशित भी करता है। इस सम्पूर्ण व्यापार में चिद्वृत्ति अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करती है। जिसे पञ्चदशीकार ने इसप्रकार प्रतिपादित किया है–

"बुद्धितत्स्थाचिदाभासो द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया पश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्॥"

वस्तुओं का यह प्रत्यक्ष निर्विकल्पक एवं सविकल्पकभेद से दो प्रकार का होता है। (तच्च प्रत्यक्षं द्विविधं, सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्)। वस्तु के नाम, रूप, जाति, योजना आदि से रहित ज्ञान **निर्विकल्पक** होता है। जो वस्तु के प्रथमज्ञान के समय होता है। तदनन्तर उसके नाम, रूप, जाति, गुण आदि से युक्त ज्ञान को **सविकल्पक** कहा गया है।

प्रत्यक्षज्ञानविषयक यह प्रक्रिया सम्पूर्ण सांसारिकपदार्थों के सम्बन्ध में होती है। इसके विपरीत ब्रह्म-साक्षात्कार आदि के सम्बन्ध में इसमें आंशिक भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। घटादि सांसारिकपदार्थों के अचेतन होने से उन्हें भासित करने का कार्य चिद्वृत्ति को करना पड़ता है। जबकि ब्रह्म के स्वयं चेतन तथा ज्योतिस्वरूप होने के कारण उसके साक्षात्कार में चिद्वृत्ति द्वारा ब्रह्मगत अज्ञान नष्ट कर दिये जाने पर ब्रह्मतत्त्व स्वयं ही प्रकाशित हो उठता है। इस प्रत्यक्ष में इन्द्रियों का विषय से सन्निकर्ष नहीं होता है।

इसप्रकार इन्द्रिय-सन्निकर्ष के आधार पर वेदान्तदर्शन में प्रत्यक्ष के दो भेद कहे जा सकते हैं-(1) इन्द्रियजन्य तथा (2) इन्द्रियाजन्य। सुखदु:ख आदि का प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय अजन्य ज्ञान (प्रत्यक्ष) की कोटि में आता है, क्योंकि सुख-दु:ख आदि भी बाह्यसांसारिकपदार्थों के समान नहीं हैं, अपितु वे अन्त:करण के धर्म हैं। अत: अन्त:करण द्वारा ही उनका प्रत्यक्ष होता है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वेदान्तदर्शन में बुद्धि एवं मन को इन्द्रिय की कोटि में नहीं रखा गया है। इसीकारण सुखदु:ख का प्रत्यक्ष यहाँ इन्द्रिय अजन्य कहा गया है।

(ii) अनुमान– वेदान्तशास्त्र की दृष्टि में दूसरा प्रमाण अनुमान है। अनेकश: अनुमिति भी प्रमा अर्थात् यथार्थ-अनुभव (ज्ञान) का कारण बनती है। अत: इसे प्रमाण की कोटि में रखा गया है। इसका मुख्यहेतु व्याप्तिज्ञान को स्वीकार किया गया है। किन्हीं दो पदार्थों का दैनिकजीवन में हमेशा एक साथ देखना तथा कभी भी विपरीतस्थिति के दर्शन न करना ही 'व्याप्ति' कहलाती है।

जिसप्रकार हम अपने दैनिकजीवन में हमेशा धूम और अग्नि के साहचर्य के दर्शन करते हैं। अर्थात् जहाँ-जहाँ भी हमें धूम दिखायी देता है, वहाँ-वहाँ हमें अग्नि अवश्य दृष्टिगोचर होती है। हमें ऐसा कभी भी देखने को नहीं मिला कि धुआँ तो हो, किन्तु अग्नि वहाँ न मिली हो। इसप्रकार का व्यभिचार (नियम का वैपरीत्य) रहित दर्शन करने पर हमारे मन में यह बात दृढ़रूप से स्थापित हो जाती है कि 'यत्र-यत्र धूम:, तत्र तत्र वह्नि:'। दृढ़रूप में स्थापित यही सिद्धान्त, यही मान्यता दर्शन की भाषा में व्याप्ति कहलाती है।

इसी व्याप्ति के सहयोग से जब हम एक या दो किलोमीटर की दूरी पर स्थित पर्वत में धुआँ उठता हुआ देखते हैं तो हम नि:शंक होकर कह उठते

हैं कि 'यह पर्वत अग्निवाला है।' यद्यपि उस अग्नि का हम प्रत्यक्ष नहीं कर रहे हैं, वह हमें दिखायी नहीं दे रही है, तथापि हमारे कथन में सत्यता है, वह प्रामाणिक है तथा इसे प्रमाणित करने वाला प्रमाण ही अनुमानप्रमाण है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि न्यायदर्शन के समान वेदान्त अन्वयव्यतिरेक व्याप्तियों को स्वीकार नहीं करता है। यहाँ केवल अन्वय-व्याप्ति ही आवश्यक है, क्योंकि इनके मत में व्यतिरेकव्याप्ति अभाव को सिद्ध करती है, भाव को नहीं। अतः यहाँ उसकी व्यर्थता स्वतःसिद्ध है। अभाव को सिद्ध करने के लिए वेदान्तदर्शन 'अनुपलब्धि' नामक प्रमाण को मान्यता प्रदान करता है, जिसका हम आगे उल्लेख करेंगे।

इसलिए अनुमानप्रमाण में वेदान्तीलोग न्यायदर्शन के समान पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग न करके केवल तीन अवयवों में ही व्याप्ति एवं पक्षधर्मता की सिद्धि स्वीकार करते हैं जैसे–

(क) यह पर्वत वह्नि वाला है (पर्वतोऽयं वह्निमान्) प्रतिज्ञावाक्य

(ख) क्योंकि यह धूमवान् है (धूमवानोऽयम्) हेतुवाक्य

(ग) जहाँ जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसाकि-रसोईघर (यत्र-यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' यथा महानसः) उदाहरणवाक्य

अतः यहाँ तीन अवयवों में ही पक्षधर्मता की सिद्धि हो जाती है। किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं साधन-धूम एवं साध्य-अग्नि का साहचर्य देखकर व्याप्ति ग्रहण करके दूर पर्वतप्रदेश में उठते हुए अग्नि के लिङ्ग (चिह्न) धूम को देखकर स्वयं ही वहाँ अग्नि की उपस्थिति का 'निश्चय' अनुमानप्रमाण द्वारा किया जाता है। अतः इसे स्वार्थानुमान की श्रेणी में रखा जाएगा।

इसके विपरीत यदि यही ज्ञान अज्ञानीव्यक्ति को किसी ज्ञानी व्यक्ति द्वारा कराया जाता है तो इसी प्रक्रिया से गुजरने पर वह परार्थानुमान की कोटि में माना जाएगा। परार्थानुमान में व्यक्ति स्वयं अनुमान नहीं करता, अपितु किसी अन्य को उसका ज्ञान कराने के लिए त्रि-अवयवी वाक्यों का उसीप्रकार ग्रहण करता है। इसी आधार पर अनुमानप्रमाण के दो भेद कहे गये हैं–(1) स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। इसमें परार्थानुमान का प्रयोग वेदान्ती प्रायः ब्रह्मभिन्न सम्पूर्णजगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए करते हैं।

(iii) उपमान– सादृश्य के आधार पर प्रमा के कारणस्वरूप 'उपमान' को भी वेदान्तदर्शन स्वतन्त्रप्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान करता है। उनकी

उपमान विषयक यह परिकल्पना लगभग नैयायिकों के समान ही है। इस प्रक्रिया में हम पहले देखी गई किसी वस्तु की समानता के आधार पर अन्य वस्तु का प्रामाणिकज्ञान प्राप्त करते हैं। इसप्रकार इस प्रमाण का मुख्यहेतु अथवा आधार सादृश्य है, जो हमें यथार्थज्ञान (प्रमा) कराता है।

वेदान्तदर्शन में भी न्यायदर्शन के समान ही इस प्रमाण को समझाने की दृष्टि से गो एवं गवय को उदाहरणरूप में लिया है। इस प्रमाण को उदाहरण द्वारा इसप्रकार समझाया जा सकता है। किसी व्यक्ति का लड़का किसी दूसरे शहर में जाने की तैयारी कर रहा है। उसके मार्ग में एक जंगल पड़ता है। व्यक्ति अपने लड़के को समझाते हुए कहता है कि–बेटा! जंगल में 'गवय' से सावधान रहना। लड़का पूछता है–बापू! गवय कैसा होता है? इसपर व्यक्ति जवाब देता है कि तुमने गाय देखी है? बस वैसा ही गवय होता है, जो खतरनाक होता है। उससे बचकर रहना चाहिए।

पिता की बात सुनकर वह लड़का जंगल से गुजरता है और वह गाय के समान दिखायी देने वाले एक जानवर को देखता है। उसे देखकर उसे अपने पिता द्वारा बतायी गई सभी बातें याद आती हैं और वह समझ जाता है कि यही गवय है। इस यथार्थज्ञान के होने पर वह उसकी दृष्टि में बिना पड़े सावधानीपूर्वक निकल जाता है।

इसप्रकार 'गवय गाय के समान होता है', ऐसा ज्ञान प्राप्त किया हुआ, वह लड़का 'गवय' के दिखायी देने पर 'यह प्राणी ही गवय है', ऐसा निश्चय कर लेता है। अतः यथार्थज्ञान (प्रमा) कराने में यहाँ सादृश्य (उपमान) की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इसीकारण इसे उपमानप्रमाण कहा गया है। (तत्र सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्)

(iv) आगम–वेदान्तशास्त्र में आगम अर्थात् शब्दप्रमाण को भी मान्यता प्रदान की गई है। इतना ही नहीं यह दर्शन निर्गुण, निराकार एवं शाश्वत-सत्ता ब्रह्म का ज्ञान कराने में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि प्रमाणों की असमर्थता स्वीकार करते हुए एकमात्र आगमप्रमाण को ही सार्थक मानता है। वेदान्तदर्शन के अनुसार–ब्रह्म का ज्ञान कराने में एकमात्र आगमप्रमाण ही समर्थ प्रमाण है। अन्य किसी प्रमाण से इसके अस्तित्व की सिद्धि असम्भव है। तदनुसार- वेद एवं श्रुतिवचनों को अपौरुषेय मानकर उन्हें शब्दप्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार करना चाहिए।

यहाँ इन्होंने शब्द को पौरुषेय एवं अपौरुषेय दो श्रेणियों में रखा है। पौरुषेय लौकिक एवं अपौरुषेय वैदिकवाक्य हैं। वेदान्तदर्शन के आचार्यों ने अपनी बात को सिद्ध करने के लिए, उसकी पुष्टि एवं समर्थन के लिए हेतु के रूप में पद-पद पर श्रुतिवचनों को उद्धृत किया है, क्योंकि उनके मत में श्रुति (आगम) से प्रबल एवं उत्कृष्ट कोई अन्यप्रमाण नहीं है।

अतः वेदान्त की दृष्टि में वेद (श्रुति) का स्वतःप्रामाण्य सिद्ध होता है। इनके मत में सूर्य के प्रकाश के समान वेद स्वतःसिद्ध हैं, उन्हें प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। स्मृति, पुराण, इतिहास आदि भी वेदसम्मत होने से स्वतःप्रमाण की ही श्रेणी में आते हैं। वेदान्तदर्शन वेदमन्त्रों को विभिन्नऋषियों द्वारा दर्शन किए हुए मानता है। उसके मत में वेदमन्त्र किसी की रचना नहीं है। अतः इनके अपौरुषेय होने में संशय करना उचित नहीं है। शङ्कराचार्य के अनुसार वेद दीपक के समान सत्य का प्रकाशन करने वाले हैं।

(v) अर्थापत्ति– यहाँ 'अर्थापत्ति' को अलग से प्रमाणरूप में मान्यता प्रदान की गई है। वेदान्तदर्शन के अनुसार–कार्य को देखकर उसके कारण की परिकल्पना करना ही अर्थापत्ति कही गई है (अर्थस्य आपत्तिः अर्थापत्तिः) अथवा प्रत्यक्षरूप में कार्य-कारण में दिखायी देने वाले विरोध के परिहार के लिए कार्य के औचित्य की दृष्टि से अन्यकारण की परिकल्पना को ही 'अर्थापत्ति' माना गया है।

पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते (देवदत्त मोटा है, किन्तु दिन में भोजन नहीं करता है) इत्यादि वाक्य में देवदत्त का मोटापन भोजन के अभाव में सम्भव नहीं है। अतः प्रत्यक्षरूप से कार्य-कारण में विरोध प्रतीत होता है। इसके परिहार के लिए अर्थौचित्य की दृष्टि से अन्यकारण 'रात्रौ भुङ्क्ते" (यदि वह दिन में नहीं खाता तो अवश्य ही रात्रि में खाता होगा) इस अर्थ की परिकल्पना वेदान्तियों के मत में 'अर्थापत्तिप्रमाण' का विषय है।

उनके अनुसार व्यक्ति का रात्रिभोजन प्रत्यक्षप्रमाण का विषय हो नहीं सकता, क्योंकि उसे भोजन करते हुए किसी ने प्रत्यक्षतः देखा ही नहीं है। साथ ही व्याप्ति के अभाव में अनुमानप्रमाण का भी यह क्षेत्र नहीं होगा। इसीप्रकार शब्द (आगम) एवं उपमानप्रमाण भी सादृश्य आदि के अभाव में सम्भव नहीं है। अतः इसके लिए अर्थापत्तिप्रमाण को मानना आवश्यक है।

अर्थापत्ति के दो भेद माने गए हैं–(1) दृष्टार्थापत्ति (2) श्रुतार्थापत्ति (सा चार्थापत्तिर्द्विविधा-दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति"। इनमें दृष्टार्थापत्ति के अन्तर्गत वस्तु या व्यक्ति को देखकर विरोध के परिहार के लिए स्वयं अन्य कारण की परिकल्पना की जाती है। जैसे–उक्त उदाहरण में प्रतिदिन देवदत्त के दिवाभोजन को न देखकर, उसके स्थूलत्व को देखते हुए व्यक्ति स्वयं ही उसके रात्रिभोजनरूप अर्थ की परिकल्पना कर लेता है। अतः यह दृष्टार्थापत्ति प्रमाण का विषय कहलाएगा।

इसके विपरीत इसीविषय को स्वयं न देखकर किसी अन्य व्यक्ति से देवदत्त का स्थूलत्व एवं दिवाभोजन का अभाव सुनकर उसके रात्रिभोजन की परिकल्पना श्रुतार्थापत्ति का विषय कहलाएगी। इसीको अन्य उदाहरण द्वारा भी इसप्रकार समझ सकते हैं। (जीवित) श्याम नामक व्यक्ति घर में नहीं है। अतः वह घर से बाहर होगा। उसका घर से बाहर होना रूप अर्थ श्रुतार्थापत्ति का विषय माना जाएगा।

(vi) अनुपलब्धि (अभाव)– अभावरूप अर्थ की सिद्धि के लिए वेदान्तदर्शन 'अनुपलब्धि' नामक प्रमाण को मान्यता प्रदान करता है। संख्या की दृष्टि से इस दर्शन में यह छटा प्रमाण है। वेदान्तदर्शन किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति के अभाव को कारणजन्य न होने के कारण प्रत्यक्ष आदि पूर्व में कहे गए पाँच प्रमाणों द्वारा ज्ञान कराने में असमर्थ मानता है। उनके मत में घट का अभाव इन्द्रियसन्निकर्ष के अभाव में प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। व्याप्तिसम्बन्ध के अभाव में इसे अनुमान द्वारा भी ग्रहण नहीं किया जा सकता है। इसीप्रकार सादृश्यज्ञान न होने से घट के अभाव के ज्ञान को उपमानप्रमाण से भी स्वीकार नहीं कर सकते हैं। साथ ही शब्दप्रमाण भी आप्तवाक्य के अभाव में 'वस्तु के अभाव' रूप ज्ञान को कराने में सक्षम नहीं है। अतः इसके लिए 'अनुपलब्धि' रूप छठे प्रमाण को मान्यता प्रदान करना आवश्यक है।

इस प्रसङ्ग में यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि वेदान्तदर्शन घट आदि पदार्थों के अभाव के ज्ञान में अनुपलब्धि से अभिप्राय सामान्य अनुपलब्धि से नहीं, अपितु योग्य अनुपलब्धि से ग्रहण करता है। इनके मत में–अनुपलब्धिप्रमाण द्वारा इन्द्रिय आदि द्वारा प्रत्यक्ष करने योग्य घट-पट आदि के अभाव का ज्ञान ही सम्भव है, ऐसे पदार्थ जो इन्द्रियों की पहुँच

से बाहर हैं पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म आदि के अभाव को इस प्रमाण द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

इनके मत में यह अनुपलिब्ध अर्थात् अभाव चार प्रकार का होता है–(1) प्राग्-अभाव (2) प्रध्वंस-अभाव (3) अत्यन्त-अभाव तथा (4) अन्योन्य-अभाव। इन चारों प्रकार का अभावों को हम अनुपलब्धिप्रमाण से ही ग्रहण कर सकते हैं।

चित्र-१३

अनुपलब्धि प्रमाण

1	2	3	4
प्राक्-अभाव	प्रध्वंस-अभाव	अत्यन्त-अभाव	अन्योन्य-अभाव
(उत्पत्ति से पहले मृत्पिण्ड में कार्य रूप घट का अभाव)	(निर्माण के बाद दण्ड आदि से विनष्ट घट का अभाव)	(कालत्रय में रहने वाला अभाव - यथा वायु में रूप का)	(एक वस्तु में अन्य वस्तु का यथा-घट में पट का)

उपर्युक्त प्रदर्शन से स्पष्ट है कि किसी भी वस्तु की उत्पत्ति से पहले अपने कारण में स्थितिरूप अभाव का ज्ञान 'प्राग्-अभाव' है जो अनुपलब्धिप्रमाण द्वारा ही ग्राह्य होगा। जैसे–घट के निर्माण से पूर्व वह अपने कारणरूप मृत्पिण्ड में विद्यमान रहता है, किन्तु दृश्यमानजगत् में उसका अभाव प्रतीत होता है। अतः इस अभाव को केवल अनुपलब्धि प्रमाण से ही ग्रहण कर सकते हैं।

इसीप्रकार किसी वस्तु के निर्माण के बाद कारणविशेष से विनष्ट होने के पश्चात् होने वाले अभाव को 'प्रध्वंसाभाव' कहा जाएगा जो अनुपलब्धि प्रमाण से ही ग्रहण किया जा सकता है। जैसे–घट के बनने के बाद किसी व्यक्ति द्वारा उसे डण्डे से तोड़ देने के परिणामस्वरूप होने वाला अभाव प्रध्वंसाभाव होगा।

इसके अतिरिक्त जो भूत-भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में विद्यमान रहने वाला है, इसप्रकार के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं जिसे हम अनुपलब्धिप्रमाण द्वारा ही ग्रहण कर सकते हैं। इस अभाव को वायु में रूप के अभावरूप उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है, क्योंकि वायु में रूप (दिखायी देने) का गुण नहीं होता और यह अभाव तीनों कालों में रहने वाला है। अतः अत्यन्ताभाव की कोटि में आएगा।

चतुर्थ, अन्योन्याभाव एक वस्तु में दूसरी वस्तु के अभाव को कहते हैं। जैसे घट में कभी भी पट विद्यमान नहीं रह सकता। अत: इसप्रकार के अभाव का ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'अनुपलब्धि' नामक षष्ठप्रमाण की आवश्यकता होगी ही, क्योंकि उक्त चारों प्रकार के अभावों के ज्ञान को हम प्रत्यक्षादि शेष पाँच प्रमाणों द्वारा ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

(१५) कार्यकारणसिद्धान्त– कार्यकारणसिद्धान्त भारतीय दर्शनशास्त्र का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। यही सिद्धान्त किसी भी दर्शन की सृष्टिप्रक्रिया का मुख्य आधार है। चार्वाकदर्शन को छोड़कर प्राय: सभी दर्शनों ने इस विषय पर प्रत्यक्ष अप्रत्यक्षरूप से विचार किया है। पुनरपि सांख्य एवं न्यायदर्शन में इस सिद्धान्त की विस्तार से चर्चा की गई है। कार्यकारणसिद्धान्त को लेकर प्रचलित मतों को मुख्यरूप से तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

(क) सत् से सत् की उत्पत्ति–इसके अनुसार सत् पदार्थ (कारण) से ही सत् कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। इसलिए उत्पत्ति से पहले कार्य अपने कारण में विद्यमान रहता है। इस मान्यता को सांख्यदर्शन ने विस्तारपूर्वक प्रस्थापित किया, जिसे सत्कार्यवाद के नाम से जाना जाता है।

(ख) असत् से सत् की उत्पत्ति–इसके अनुसार–उत्पत्ति से पहले कार्य का अपने कारण में प्राग्भाव रहता है। अत: असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति होती है। इस मान्यता के अनुसार कारणविशेष से कार्यविशेष स्वभाववश उत्पन्न होता है। इसमें किसी अन्य हेतु की परिकल्पना उचित नहीं है। इस सिद्धान्त के मानने वालों में न्याय, वैशेषिक, जैन, बौद्ध तथा मीमांसादर्शन विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

(ग) सत् से असत् की उत्पत्ति–इसके अनुसार सत् पदार्थ (कारण) से असत् (कार्य) की उत्पत्ति होती है। वेदान्तदर्शन ने इसी मान्यता को प्रस्थापित किया, क्योंकि यह दर्शन सत् ब्रह्म से असत् जगत् की उत्पत्ति को स्वीकार करता है। यही सिद्धान्त इसकी सृष्टिप्रक्रिया का मुख्य आधार है। यहाँ किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिए मूल आधारभूत कारण उपादान है, जैसे घड़े की उत्पत्ति में मिट्टी। साथ ही जिनके सहयोग से कार्य उत्पन्न होता है, वे निमित्तकारण कहलाते हैं, जैसे–कुम्हार, तुरी, वेमा आदि।

वेदान्तदर्शन ब्रह्म को दृश्यमानजगत् का उपादान और निमित्त दोनों कारण मानता है। ठीक उसीप्रकार जैसे–मकड़ी स्वयं द्वारा बनाए गए जाले के लिए उपादान और निमित्त दोनों कारण होती है, क्योंकि जाले के निर्माण में काम आने वाला मुख्य आधाररूप तरलपदार्थ मकड़ी के शरीर से निकलता है। इस दृष्टि से मकड़ी जाल की उपादानकारण हुई तथा अपने पैरों द्वारा जाले की संरचना करने के कारण यही मकड़ी निमित्तकारण भी बनी।

विद्वानों ने इसे सत्कार्यवाद का द्वितीयरूप विवर्तवाद नाम दिया, जिसकी स्थापना के लिए वेदान्तदर्शन मायावाद का आश्रय लेता है। इसका विस्तृत वर्णन हम सृष्टिप्रक्रिया में आगे करेंगे। उनके मत में–जब वस्तु अपने स्वरूप का परित्याग किए बिना ही दूसरे रूप में प्रतीत होने लगती है, तो यह विवर्त कहलाता है तथा इस सिद्धान्त को विवर्तवाद कहते हैं। इसका उदाहरण रज्जु में सर्प की भ्रान्ति के रूप में दिया जाता है, क्योंकि उस स्थिति में रस्सी अपने स्वरूप का परित्याग किए बिना ही सर्प के रूप में प्रतीत होने लगती है और यह प्रतीति वस्तुतः मिथ्या होती है।

ब्रह्म में दिखाई देने वाली जगत् की प्रतीति को भी वेदान्त इसीप्रकार विवर्त के रूप में स्वीकार करता है। इसप्रकार निष्कर्षरूप में हम कह सकते हैं कि वेदान्त यद्यपि सत्कार्यवाद को स्वीकार करता है, क्योंकि यह सत्तत्त्वब्रह्म से मिथ्याजगत् की उत्पत्ति को मानता है, तथापि इसका सत्कार्यवाद सांख्य के सत्कार्यवाद से भिन्न है, क्योंकि सांख्य सत्कार्यवाद के परिणामवादी स्वरूप को मान्यता प्रदान करता है, जैसे दूध से दही का बनना। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि वेदान्तदर्शन ने दूध के परिवर्तितरूप दही को अयथार्थ माना है। उनके अनुसार हम इसे दही सम्बोधन तो करते हैं, किन्तु वास्तव में यह दूध ही है, मात्र अवस्था एवं कालभेद के कारण इसे नया नाम दिया गया है।

कुछ विद्वानों ने सांख्य के परिणामवाद को विवर्तवाद का पूर्वभूमि भी माना है। उनके मत में जिसप्रकार दूसरी मञ्जिल पर पहुँचने के लिए पूर्व मञ्जिल को पार करना पड़ता है। उसीप्रकार विवर्तवाद तक पहुँचने के लिए परिणामवाद की मञ्जिल तय करनी पड़ती है–

विवर्तभावस्य हि पूर्वभूमिः वेदान्तवादे परिणामवादः।
व्यवस्थितेऽस्मिन् परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः॥

(सर्वज्ञात्ममुनि–संक्षेपशारीरक–2/69)

(१६) समष्टि-व्यष्टि सिद्धान्त–वेदान्तदर्शन एवं इसकी सृष्टि-प्रक्रिया को भलीभाँति समझने के लिए इसमें प्रतिपादित समष्टि-व्यष्टि के सिद्धान्त को समझना आवश्यक है। जिसका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं। इस दर्शन के अनुसार-एक का कथन करने की विवक्षा में व्यष्टि तथा समूह का कथन करने की विवक्षा होने पर समष्टि अभिप्राय होता है। इसे उदाहरण द्वारा हम इसप्रकार समझ सकते हैं। जब हम किसी व्यक्ति विशेष के बारे में कुछ कहते हैं तो यह व्यष्टि कहलाएगा, किन्तु जब हम लोगों के समूह को इंगित करते हैं तो यह समष्टि माना जाएगा।

वेदान्तदर्शन में इन दोनों शब्दों का अनेकशः प्रयोग किया गया है। आचार्य सदानन्द ने वेदान्तसार में इन शब्दों की इसप्रकार व्याख्या की है–

"यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्व व्यपदेशः।।"

अर्थात् जिसप्रकार वृक्षों को समुदाय की दृष्टि से 'वन' कहकर एक संख्यासूचक शब्द का व्यवहार करते हैं अथवा जिसप्रकार जल के कणों के समूह की विवक्षा में 'जलाशय' ऐसा कहते हैं। ठीक उसीप्रकार अनेक संख्या में प्रतीत होने वाले जीवों में स्थित अज्ञान के समूह को समष्टि कहा जाता है। यह वस्तुतः इस सबमें ऐक्य का सूचक है।

अन्तर केवल इतना है कि व्यष्टि की अपेक्षा यहाँ समष्टि को उत्कृष्ट अथवा उन्नत उपाधि वाली कहा है, क्योंकि समष्टि रागादिदोष से शून्य शुद्धसत्त्वप्रधान होती है (इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना)। इसीलिए यहाँ व्यष्टिगत अज्ञान की अपेक्षा समष्टिगत अज्ञान को उत्कृष्ट बताया गया है, क्योंकि इसमें विशुद्धसत्त्वगुण की प्रधानता रहती है। वस्तुतः यहाँ अज्ञान में स्थित सत्त्वगुण, रजस् एवं तमस् को अभिभूत किए रहता है, स्वयं पराभूत नहीं होता है।

उत्कृष्ट उपाधि से युक्त चैतन्य को इसीकारण सर्वज्ञाता, सबका ईश्वर सर्वनियन्ता, अव्यक्त, अन्तर्यामी तथा संसार का कारणरूप कहा गया है। सबका मूलभूतकारण होने से ईश्वर की यह समष्टि कारणशरीर, आनन्द की प्रचुरता होने के कारण आनन्दमयकोष तथा स्थूल एवं सूक्ष्मजगत् प्रपञ्च का लयस्थांन होने के कारण सुषुप्ति कहलाती है।

इसीप्रकार किसी वन के वृक्षों को यदि हम अलग-अलग कहना चाहें तो वृक्ष कहा जाएगा। साथ ही जलाशय में स्थित जल को अलग-अलग कहने की दृष्टि से 'अनेक जल' ऐसा प्रयोग करेंगे। ठीक उसीप्रकार अज्ञान को व्यष्टिरूप में कहने की इच्छा से 'अनेक अज्ञान' कहकर उसमें बहुत्व का व्यवहार करेंगे। अतः सिद्ध होता है कि व्यक्तिगत तथा समुदायगत व्यापक भाव के कारण ही अनेकता (व्यष्टि) तथा एकता (समष्टि) का व्यवहार किया जाता है। अज्ञान की यह व्यष्टि, समष्टि की अपेक्षा निकृष्ट उपाधि से युक्त होने के कारण मलिनसत्त्वप्रधान मानी गयी है।

साथ ही इस निकृष्ट उपाधि से आवृत्त चैतन्य में अल्पज्ञता, अनीश्वरत्व आदि गुण होने के कारण तथा एक ही अज्ञान को प्रकाशित करने वाला होने से 'प्राज्ञ' कहा गया है। इस दृष्टि से ईश्वर और प्राज्ञ (जीव) में केवल समष्टि एवं व्यष्टिगत भेद है, तात्त्विकदृष्टि से दोनों एक हैं, क्योंकि चैतन्य दोनों में विद्यमान है।

अज्ञान की निकृष्ट उपाधि से युक्त इस जीव की यह उपाधि, अहंकार आदि का कारण होने से 'कारणशरीर' आनन्द का प्राचुर्य तथा शुद्धचैतन्य को कोष के समान ढक लेने से 'आनन्दमयकोष' एवं स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्च का लयस्थान होने के कारण 'सुषुप्ति' कहलाती है।

वेदान्त की दृष्टि में सृष्टिविकास की तीन दशाओं में आत्मा और जगत् के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं, जिन्हें तीन अवस्था (सुषुप्ति, स्वप्न, जाग्रत) तीन शरीर (कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल) तथा प्रपञ्च कोषों को आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, अन्नमय) नामों से व्यवहृत किया जाता है। इन सभी स्थितियों में समष्टि-व्यष्टिगत भेद से चैतन्य को अलग-अलग नामों से कहा जाता है। इसका मुख्यकारण भिन्न-भिन्न स्थितियों में अलग-अलग शरीर के प्रति चैतन्य का अहंभाव रहता है।

जैसे–समष्टि में कारणशरीर के प्रति चैतन्य को अहंभाव के कारण इसे ईश्वर, इसी स्थिति में सूक्ष्मशरीर के प्रति उसके अहंभाव के कारण इसे हिरण्यगर्भ तथा स्थूलशरीर के प्रति विद्यमान अहंभाव के कारण इसे वैश्वानर या विराट् इस नाम से जाना जाता है।

इसके विपरीत व्यष्टिदशा में कारणशरीर के प्रति चैतन्य के अहंभाव के कारण इसे 'प्राज्ञ', सूक्ष्मशरीर के प्रति अहंभाव के कारण 'तैजस्' तथा स्थूलशरीर के प्रति अहंकार के कारण इसे 'विश्व' कहा जाता है। इस

सम्पूर्ण भिन्नता का मूल आधार समष्टि एवं व्यष्टिगत भेद ही है, जो मात्र समुदाय एवं वैयक्तिक दृष्टि है। तात्त्विकदृष्टि से इसमें कोई अन्तर नहीं है। उपर्युक्त सम्पूर्ण स्थिति को हम इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र-१४

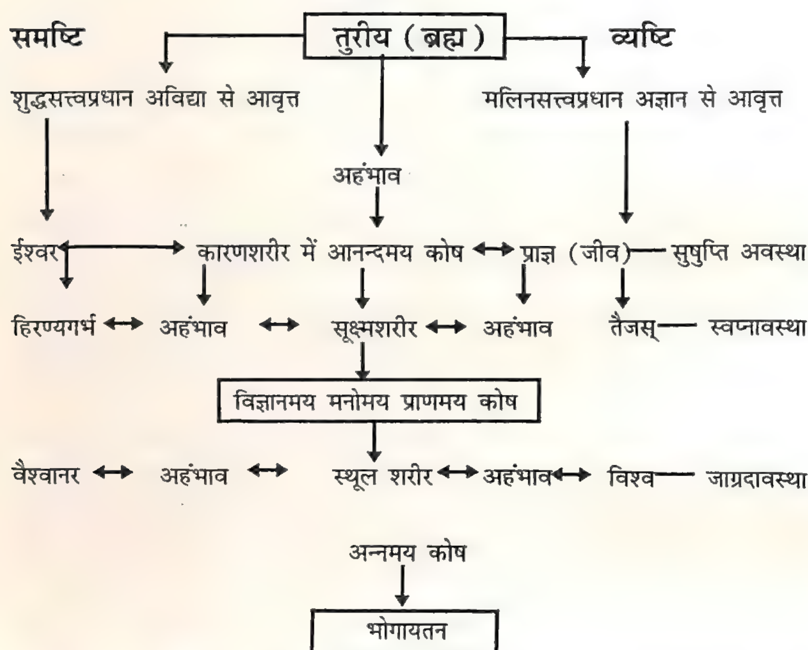

समष्टि व्यष्टि एवं इनके अभेद को विभिन्न उदाहरणों द्वारा इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

चित्र १५

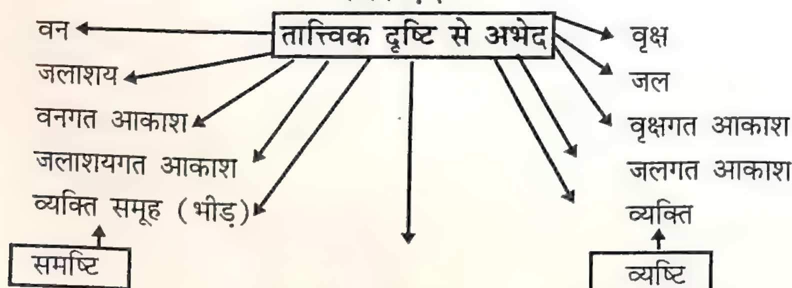

(१७) सत्ता के त्रिविधरूप–वेदान्तदर्शन तीन प्रकार की सत्ता को मान्यता प्रदान करता है–(1) प्रातिभासिक (2) व्यावहारिक

(3) पारमार्थिक सत्ता। ये तीनों वेदान्त की सृष्टिप्रक्रिया को समझने में सहायक हैं। अतः हम यहाँ इनका संक्षिप्तपरिचय प्रस्तुत कर रहे हैं–

(क) प्रातिभासिक सत्ता–उसे कहते हैं जो प्रतीति के समय तो सत्य प्रतीत होती है, किन्तु कुछ समय के बाद किसी अन्य ज्ञान द्वारा बाधित हो जाती है। जैसे–रस्सी में साँप की प्रतीति। अनेकबार मार्ग में पड़ी हुई रस्सी को हम अन्धकार आदि के कारण सर्प समझ लेते हैं, किन्तु अगले ही क्षण प्रकाश आदि होने से रस्सी की यथार्थसत्ता का ज्ञान होता है। अतः अन्धकार आदि के कारण भ्रान्तिवश रस्सी में जो सर्पज्ञान था, वह यथार्थस्थिति (रज्जु) का ज्ञान होने पर बाधित हो जाता है। इसलिए किसी पदार्थ में अन्यपदार्थ की काल्पनिकसत्ता बाधित होने से पूर्व जितने समय तक विद्यमान रहती है। उसे वेदान्तदर्शन ने प्रतिभासिकसत्ता कहा है। यह प्रतीति वस्तुतः अज्ञानादि के कारण कल्पित होती है, जो उत्तरकाल में यथार्थज्ञान के साथ समाप्त हो जाती है। वेदान्त की दृष्टि में सीपी में चाँदी की प्रतीति भी वस्तुतः ऐसी ही 'प्रतिभासिक सत्ता' है। जो यथार्थज्ञान के साथ स्वतः समाप्त हो जाती है।

(ख) व्यावहारिक सत्ता–इसके अन्तर्गत इसप्रकार के विषय आते हैं जो व्यवहार के समय सत् प्रतीत होते हैं। प्रत्यक्षरूप से देखने पर उनकी सत्ता को नकारा नहीं जा सकता, किन्तु ब्रह्मज्ञान की स्थिति में इसका बाध हो जाता है। शङ्कराचार्य के अनुसार–यह जगत् एकान्ततः सत्य न होकर केवल व्यवहारकाल में सत्य होता है (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य–2/1/14)। अतः इसे व्यावहारिक सत्ता वाला कहा जाएगा। संसार के घट-पट आदि सभी पदार्थ दूसरे शब्दों में सम्पूर्णजगत् इसका उदाहरण है। प्रातिभासिक सत्ता की अपेक्षा इसका अस्तित्व अधिक लम्बे समय तक बना रहता है। अतः अधिक स्थायी है, किन्तु इसे पूर्णतया सत्य नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मज्ञान होने पर सम्पूर्ण संसार एवं उसमें स्थित सभी पदार्थों का मिथ्यात्व स्वतःसिद्ध हो जाता है।

(ग) पारमार्थिक सत्ता–वेदान्तदर्शन के अनुसार यह पूर्णतया सत्य और शाश्वत है। भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों में इसका अस्तित्व विद्यमान रहता है। यह भौतिकपदार्थों की सत्ता से विलक्षण है। संसार के घट-पट आदि पदार्थ आज हैं कल नहीं रहेंगे, अतः अनित्य हैं। इसीलिए उनकी सत्ता व्यावहारिक कही गई है, पारमार्थिक नहीं। इसके विपरीत

वेदान्त का ब्रह्म तीनों कालों में अवस्थित रहता है। उसमें किसी भी समय किसी भी प्रकार का विकार परिलक्षित नहीं होता। इसीकारण वह अविकारी है। अतः एकमात्र ब्रह्म की ही पारमार्थिकसत्ता बतायी गयी है। उपर्युक्त विवरण को संक्षेप में इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

चित्र १६

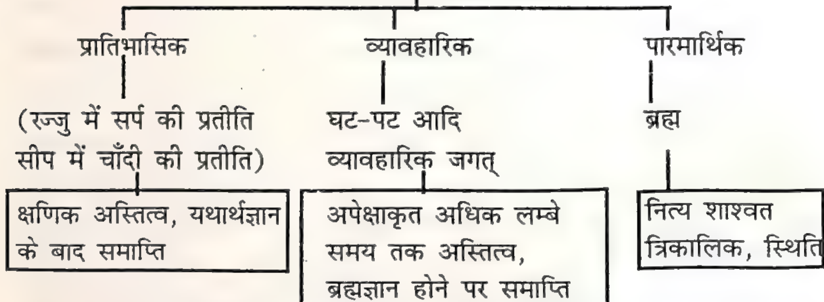

(१८) जीव की अवस्थाएँ–वेदान्तदर्शन के प्रसिद्ध आचार्य गौडपाद ने जीव की चार अवस्थाओं को मान्यता प्रदान की है–(अ) जाग्रत, (ब) स्वप्न (स) सुषुप्ति (द) तुरीय। इनमें चतुर्थ, तुरीय अवस्था के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। उनके मत में इस अवस्था में तो जीव शुद्धचैतन्य-स्वरूप ही हो जाता है। इसलिए इसे जीव की अवस्था न मानकर ब्रह्म की अवस्था कहना चाहिए। पुनरपि व्यावहारिकजीव की जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ तो निर्विवाद रूप से स्वीकार्य हैं। अतः हम इनका यहाँ विस्तार से उल्लेख कर रहे हैं–

(अ) जाग्रत् अवस्था–इस अवस्था में जीव अपने मन एवं इन्द्रियों के माध्यम से बाह्यसांसारिकपदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। इसमें स्थूल शरीर, इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि सभी सचेष्ट रहते हैं। इनके द्वारा जीव बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है तथा उनका उपभोग भी करता है। इस अवस्था में जीव अन्नमयकोष में आबद्ध रहता है। आचार्य सुरेश्वर इस अवस्था का विवरण इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं–

बाह्यान्तःकरणैरेव देवतानुग्रहान्वितैः।
स्वं स्वं च विषयज्ञानं तज्जागरितमुच्यते।। (पञ्चीकरण वार्तिक-29)

अर्थात् इस अवस्था में ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण अपने-अपने अधिष्ठाता देवता से युक्त होकर अपने-अपने विषय को ग्रहण

करते हैं। जीव का व्यवहार मुख्यरूप से बाह्यसांसारिकपदार्थों के साथ रहता है। उनका ज्ञान प्राप्त करके उनके उपभोगादि में ही जीव की रुचि रहती है।

(ब) स्वप्नावस्था–इस अवस्था में जीव की इन्द्रियाँ एवं शरीर दोनों विश्राम करते हैं, किन्तु उसका मन क्रियाशील रहता है। जाग्रत अवस्था में मन पर पड़े हुए संस्कारों को लेकर वह काल्पनिकजगत् की संरचना करता है। इसमें जीव विज्ञानमय, मनोमय, एवं प्राणमय कोशों से आबद्ध होता है तथा उसका सम्बन्ध सूक्ष्मशरीर के साथ रहता है। मन की वासना के अनुरूप कार्य करने के कारण इसे अन्तःप्रज्ञ भी कहते हैं। सूक्ष्मविषयों का उपभोग करने से इसको 'प्रविविक्तभुक्' भी कहा जाता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार–जाग्रत् अवस्था में इन्द्रिय, मन और बुद्धि बाह्य एवं अन्तः आलोक से आलोकित रहती हैं, जबकि स्वप्नावस्था में इन्द्रियाँ विश्राम करती हैं। सूर्य के प्रकाश का अभाव हो जाता है। उस समय एकमात्र विशुद्ध आत्मज्योतिः विद्यमान रहती है। जाग्रत अवस्था के साथ इस अवस्था का एक यह भी अन्तर है कि वहाँ बाह्यसांसारिकपदार्थ विद्यमान रहते हैं, जबकि इस अवस्था में वे सभी पदार्थ काल्पनिक होते हैं।

(स) सुषुप्ति अवस्था–इस अवस्था में जीव का सम्पर्क न तो बाह्य सांसारिकपदार्थों से होता है और न ही वह स्वप्निल संसार में विचरण करता है, अपितु इसमें वह आनन्द का भोक्ता बनकर चेतोमुख रहता है। जाग्रत् एवं स्वप्नावस्था में वह सुख-दुःख दोनों का अनुभव करता है, जबकि इस अवस्था में आनन्द का ही प्राचुर्य रहता है। इस सम्बन्ध में उपनिषद्कार का कथन है–

"सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति।"

(कैवल्योपनिषद्-13)

इस अवस्था में स्थूलशरीर (ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि आदि कुछ भी कार्य नहीं करते हैं। साथ ही प्रमाणप्रमेय का व्यवहार भी समाप्त हो जाता है। इसमें बुद्धि अविद्या में इसप्रकार स्थित रहती है जैसे, वट वृक्ष के बीज में वृक्ष। आनन्दमयकोष में आबद्ध यह अवस्था वस्तुतः मोक्ष से पूर्व की अवस्था कही जा सकती है–

ज्ञानेनानुपसंहारो बुद्धेः कारणतास्थितिः।
वट बीजे वटस्यैव सुषुप्तिरभिधीयते॥ (पञ्चीकरणवार्तिक, 42)

(द) तुरीयावस्था–इस अवस्था में सब प्रकार के प्रपञ्चों की पूर्णतया शान्ति हो जाती है। यह नित्यशुद्धचैतन्य ब्रह्म की निर्लिप्त अवस्था है। इसमें

वह शान्त, शिव एवं अद्वैतरूप में विद्यमान रहता है। इसमें उसे न स्वप्न आते हैं और न निद्रा, अपितु विपरीत ज्ञानों का क्षय होने के कारण जीवात्मा तुरीयपद को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में जीव की सभी वासनाएँ विनष्ट हो जाती हैं। सभीप्रकार के कोशों से मुक्त वह ब्रह्म हो जाता है।

(१९) सृष्टिप्रक्रिया–वेदान्तदर्शन सम्पूर्णसृष्टि का एकमात्र कारण सच्चिदानन्दस्वरूप, अवाङ्मनसगोचर अखिलाधार परमब्रह्म को स्वीकार करता है। उसके अनुसार ब्रह्म इस जगत् का उपादानकारण भी है और निमित्तकारण भी। अपने इस कथन को समझाने के लिए वह मकड़ी का उदाहरण प्रस्तुत करता है, जिसप्रकार एक मकड़ी (लूता) अपने शरीर के चेतन अंश के प्राधान्य के कारण जाले का उपादानकारण कहलाती है, ठीक उसीप्रकार वही मकड़ी अपने शरीर की प्रधानता के कारण जाले का निमित्तकारण भी बनती है।

वैसे ही अपनी अत्यन्त शक्तिसम्पन्न, स्वाभाविक एवं अनिर्वचनीय आवरण व विक्षेपशक्तिसम्पन्न माया से युक्त ब्रह्म एक से अधिक होने का संकल्प करता है। 'एकोऽहं बहुस्याम' इत्यादि श्रुति इस तथ्य में प्रमाणरूप से प्रस्तुत की जा सकती है। ब्रह्म के इस संकल्प के साथ ही वेदान्त की सृष्टिप्रक्रिया का प्रारम्भ हो जाता है। वेदान्त के अनुसार–व्यक्ति की श्वासोच्छ्वासप्रक्रिया के समान सम्पूर्णसृष्टिप्रक्रिया भी अत्यन्त स्वाभाविक है जो स्वतः उसीप्रकार होती है, जिसप्रकार किसी पुरुष के शरीर से केश, लोम आदि उत्पन्न होते हैं।

इस दर्शन की मान्यता के अनुसार–सृष्टि का क्रमिकविकास होता है, जिसे सूक्ष्मतम (कारणावस्था), सूक्ष्म तथा स्थूल तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। सृष्टि के संकल्प से युक्त ब्रह्म, जब अपनी शक्ति शुद्धसत्त्वप्रधान माया (अज्ञान) से आच्छादित होता है तो 'ईश्वर' संज्ञा प्राप्त करता है। यह ईश्वर ही वस्तुतः सृष्टि का मुख्यकारण होने से 'कारणशरीर' कहलाता है। आन्नद की प्रचुरता के कारण वही 'आनन्दमय कोष' भी है। इसके विपरीत मलिनसत्त्वप्रधान अज्ञान से आच्छन्न ब्रह्म की जीव संज्ञा होती है। यह जीव व्यष्टिरूप तथा ईश्वर समष्टिरूप कहा गया है। समष्टिव्यष्टि के अतिरिक्त इन दोनों में यहाँ मूलतः कोई विशेषभेद नहीं माना गया है।

ईश्वरसंज्ञक कारणशरीर से सर्वप्रथम सूक्ष्म आकाश उत्पन्न होता है। जो अनन्त, सूक्ष्म, लघु तथा सर्वव्यापक माना गया है। इसी क्रम में आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति मानी

गयी है। वेदान्त में माया अथवा अज्ञान को सत्त्व, रजस्, तमस् तीनों गुणों की सम अवस्था माना गया है। अतः इसके प्रभाव से उत्पन्न आकाशादि सृष्टि में इन तीनों गुणों की स्थिति की विद्यमानता को स्वीकार किया गया है। आकाशादि में जड़ता उनमें तमोगुण की प्रधानता को सिद्ध करती है। वेदान्त के अनुसार–कारणशरीर से उत्पन्न आकाशादि सूक्ष्मभूततन्मात्र या अपञ्चीकृतभूत कहलाते हैं।

यह दर्शन पञ्चीकरणप्रक्रिया द्वारा इन पाँचों सूक्ष्मतन्मात्राओं से महाभूतों की उत्पत्ति स्वीकार करता है। इसके अनुसार आकाश में शब्द, वायु में स्पर्श, अग्नि में रूप, जल में रस तथा पृथिवी में गन्ध नामक गुण विद्यमान रहते हैं, किन्तु पञ्चीकृतभूतों में इनकी स्थिति इसप्रकार रहती है–आकाश में शब्द, वायु में शब्द एवं स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श एवं रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध।

वेदान्त में स्थूलसृष्टि का चरमविकास क्रमशः ब्रह्माण्ड (चौदह भुवन) भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् इत्यादि सात ऊर्ध्वलोक तथा अतल, वितल, सुतल, तलातल रसातल, महातल और पाताल आदि सप्त अधःलोकों के रूप में होता है। साथ ही इन्हीं पञ्चीकृतमहाभूतों से ही समस्त सांसारिक भोग्यपदार्थों एवं चार प्रकार के स्थूलशरीरों की सृष्टि होती है। इसे स्थूलसृष्टि का चरमविकास कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त अपञ्चीकृत आकाशादि सूक्ष्मभूतों से यह दर्शन सत्रह अवयवों वाले सूक्ष्मशरीर की उत्पत्ति को भी स्वीकार करता है। जिनमें आकाशादि पञ्चतन्मात्राओं के सात्विक अंशों से क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। ये सभी सूक्ष्म इन्द्रियाँ क्रमशः अपने-अपने विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को ग्रहण करती हैं।

इसीप्रकार आकाशादि सूक्ष्मभूतों के रजोंऽशों से क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। जो क्रमशः वाणी, आदान-प्रदान, गमन, मलोत्सर्जन तथा सन्तति उत्पन्न करना आदि कार्यों को सम्पादित करती हैं।

ठीक इसीप्रकार आकाशादि पञ्चतन्मात्राओं के सम्मिलित रजोंऽशों से प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान इन पञ्चवायुओं की उत्पत्ति होती है। जो वस्तुतः स्थूलशरीर की शक्ति हैं तथा अणुरूप में शरीर के विभिन्न अंगों में व्याप्त हैं। साथ ही आकाशादि पञ्चतन्मात्राओं के सम्मिलित

सात्त्विक अंशों से निश्चयात्मिकाबुद्धि तथा संकल्पविकल्पकात्मक मन का उद्भव माना गया है।

पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चप्राण और मन ये सत्रह अवयव ही सूक्ष्मशरीर का निर्माण करते हैं। इस सूक्ष्मशरीर में विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय तीन कोष होते हैं। इनमें पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ और बुद्धिरूप विज्ञानमय कोष से आवृत्त हुआ चैतन्य ही समस्त व्यावहारिककार्यों को सम्पादित करता है। मन से युक्त पञ्चज्ञानेन्द्रियों से निर्मित मनोमयकोष जीव की इच्छाशक्ति का प्रतीक है। पञ्चप्राण एवं पञ्चकर्मेन्द्रियों से युक्त प्राणमयकोष में क्रियाशीलता की प्रधानता रहती है। इसप्रकार ये तीनों कोष स्थूलशरीर के माध्यम से विभिन्नकार्यों को सम्पन्न करते हैं।

जैसाकि हम पूर्व में ही उल्लेख कर चुके हैं, सृष्टिप्रक्रिया में सृष्टि का चरमविकास स्थूलशरीर है। जिसका निर्माण पञ्चीकृत महाभूतों– आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी द्वारा होता है। इस स्थूलशरीर के चार प्रकार होते हैं– जरायुज (मनुष्य, पशु आदि) अण्डज (पक्षी, सर्पादि), स्वेदज (जूँ, मच्छर आदि) तथा उद्भिज्ज (लता, वृक्षादि)।

वेदान्त के अनुसार–सृष्टि का अभिप्राय किसी नये पदार्थ का उत्पन्न होना नहीं है, अपितु यह तो मात्र अव्यक्त की स्थिति से व्यक्त दशा को प्राप्त करना है। ब्रह्म की आवरण और विक्षेप नामक दो शक्तियों द्वारा सम्पूर्ण सृष्टिप्रक्रिया सम्पादित की जाती है। इनमें आवरणशक्ति ब्रह्म के यथार्थरूप को ठीक वैसे ही आच्छादित कर देती है जैसे, सामने पड़ी हुई रस्सी अन्धकारादि के कारण रस्सी प्रतीत नहीं होती। साथ ही दूसरी विक्षेप शक्ति उस आच्छादितवस्तु ब्रह्म में नवीनवस्तु संसार की, ठीक उसीप्रकार उद्भावना करती है जैसे–रस्सी में सर्प की प्रतीति।

माया नामक शक्ति के कारण एक ही ब्रह्म में अनेकरूपात्मक जगत् की प्रतीति कैसे हो सकती है? इसके उत्तर में आचार्यों द्वारा यह दृष्टान्त दिया गया है। ठीक उसीप्रकार जैसे, तिमिररोग के कारण द्रष्टा को एक ही चन्द्रमा अनेकरूपों वाला दिखायी देता है वैसे, ही अविद्या (माया) के कारण कल्पित नामरूपादि के रूप में ब्रह्म के विभिन्न परिणाम दिखायी देते हैं।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को चित्र के माध्यम से अपेक्षाकृत अधिक सरलतापूर्वक समझा जा सकता है–

चित्र १७

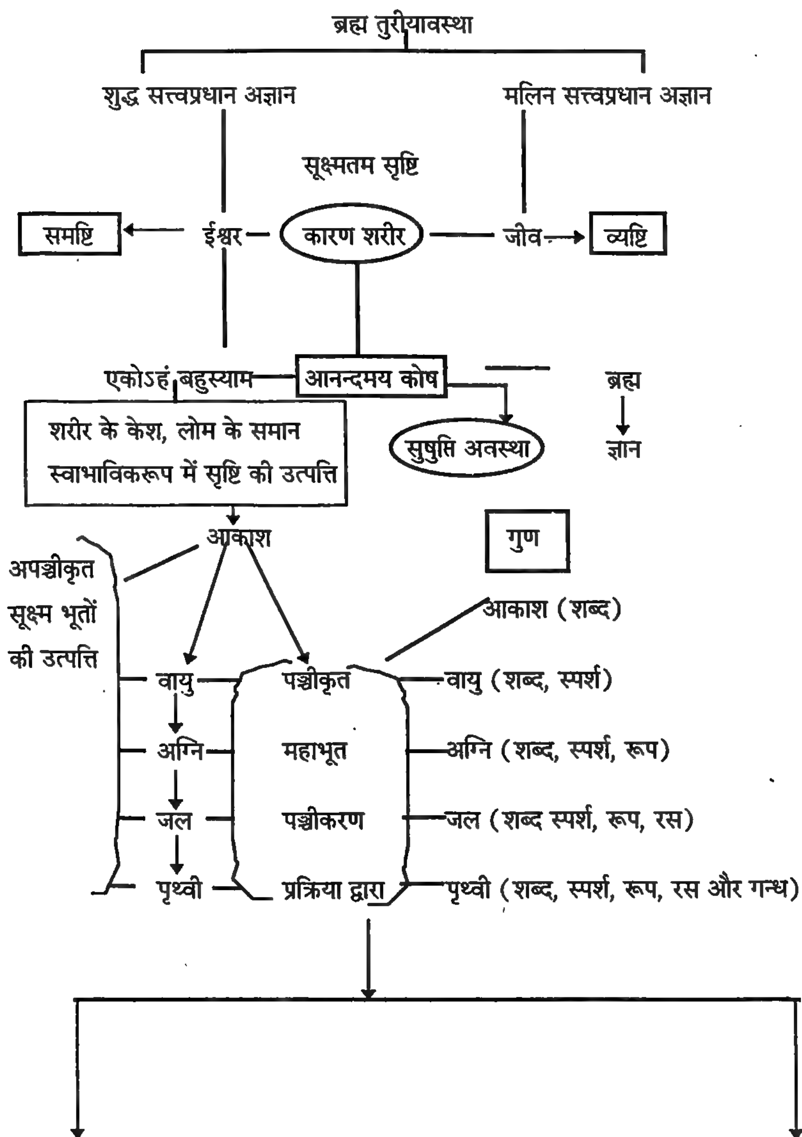
ब्रह्म तुरीयावस्था
शुद्ध सत्त्वप्रधान अज्ञान
मलिन सत्त्वप्रधान अज्ञान
सूक्ष्मतम सृष्टि
समष्टि
ईश्वर
कारण शरीर
जीव
व्यष्टि
एकोऽहं बहुस्याम
आनन्दमय कोष
ब्रह्म
ज्ञान
शरीर के केश, लोम के समान
स्वाभाविकरूप में सृष्टि की उत्पत्ति
सुषुप्ति अवस्था
आकाश
गुण
अपञ्चीकृत
सूक्ष्म भूतों
की उत्पत्ति
आकाश (शब्द)
वायु
पञ्चीकृत
वायु (शब्द, स्पर्श)
अग्नि
महाभूत
अग्नि (शब्द, स्पर्श, रूप)
जल
पञ्चीकरण
जल (शब्द स्पर्श, रूप, रस)
पृथ्वी
प्रक्रिया द्वारा
पृथ्वी (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध)

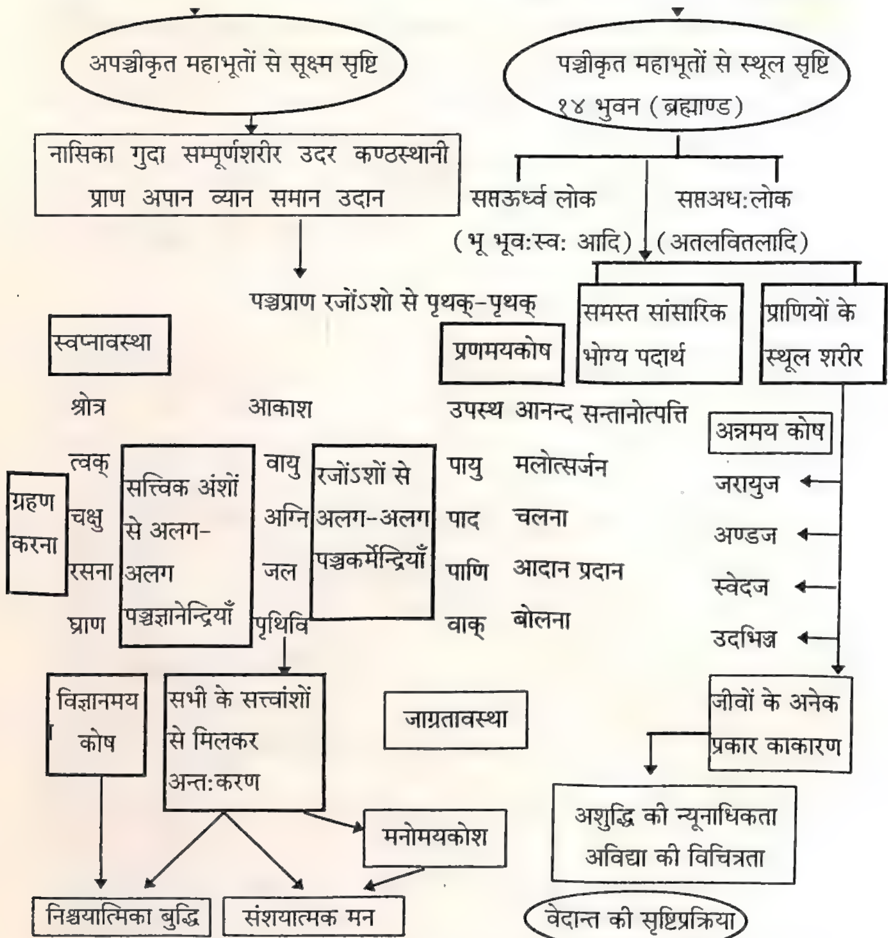

(२०) अध्यारोप-अपवाद– ये दोनों वेदान्तदर्शन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त हैं, क्योंकि यहाँ परमब्रह्म एवं जगत् पर विचार करने के ये ही मुख्य आधार हैं। अतः इस प्रसङ्ग में इनकी विवेचना आवश्यक है। अध्यारोप एवं अपवाद वस्तुतः ऐसे सिद्धान्त हैं, जिनके द्वारा प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का, ज्ञात से अज्ञात का, मूर्त से अमूर्त का बोध होता है।

इसमें प्रथम अध्यारोप द्वारा वस्तु में अवस्तु का आरोप किया जाता है, जैसे–रज्जु में सर्प का आरोप। यह आरोप वस्तुतः मिथ्याज्ञान है, जिसका बाद में 'अपवाद' विधि द्वारा निराकरण कर दिया जाता है। ऐसा करने से वस्तु के वास्तविकस्वरूप का ज्ञान हो जाता है। सम्पूर्ण वेदान्तदर्शन इन्हीं दो

सिद्धान्तों पर टिका हुआ है। आचार्य सदानन्द ने वेदान्तसार में अध्यारोप की इसप्रकार व्याख्या की है–

"असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद् वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः।

वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु।"

अर्थात् वस्तु में अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप है तथा एकमात्र सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही वस्तुतः वस्तु है। इसके अतिरिक्त अज्ञानादि सम्पूर्ण जड़समूह जिसके कारण इस मिथ्याजगत् की प्रतीति होती है, वह अवस्तु है। कुछ आचार्यों ने इसीको 'अध्यास' की संज्ञा भी प्रदान की है।

वेदान्त अध्यारोप (अध्यास) का मूलकारण अज्ञान को मानता है। इसके प्रभाव से देखने वाला व्यक्ति वस्तु के वास्तविकस्वरूप को जानने में असमर्थ रहता है तथा वस्तु में अवस्तु की परिकल्पना करके भ्रमित रहता है इस विषय में आचार्य शङ्कर का मत है–

अतस्मिंस्तद्बुद्धिः प्रभवति विमूढस्य तमसा।

विवेकाभावाद्वै स्फुरति भुजगे रज्जुधिषणा॥ (विवेकचूड़ामणि–140)

संक्षेप में अज्ञान के कारण मूढ़पुरुष किसी वस्तु में किसी अन्य वस्तु की परिकल्पना कर लेता है। जैसे, विवेक के अभाव से रज्जु को सर्प समझ लेना। इसीको यहाँ अध्यारोप या अध्यास कहा गया है। जिसप्रकार अनेकबार बादलों में सूर्य घिरा होने पर हमें वह दिखायी नहीं पड़ता है, ठीक वैसे ही माया (अज्ञान) से आवृत्त हुए ब्रह्म का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता है, अपितु उसके स्थान पर हमें माया की विक्षेप नामक शक्ति से दृश्यमान मिथ्या जगत् की प्रतीति होती है। इसप्रकार अध्यारोप के कारण जीव वस्तु के वास्तविकरूप को जानने में असमर्थ रहता है और वह सत् को असत् मान बैठता है, यही मिथ्याज्ञान उसके सांसारिकबन्धन का कारण बनता है।

बन्धन के कारण इस मिथ्याज्ञान को विनष्ट करने के लिए वेदान्तदर्शन में सद् गुरु की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है, जो अधिकारी शिष्य को 'अपवाद' पद्धति से उपदेश प्रदान करता है। जिससे शिष्य को वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है और वह ब्रह्म को ही एकमात्र वास्तविकसत्ता मान लेता है तथा सम्पूर्णजगत् का मिथ्यात्व भी उसे हस्तामलकवत् प्रतीत होने लगता है। उसकी यह कल्पना रज्जु में की गई सर्प की भ्रान्ति के पश्चात् प्रकाश से होने वाली सर्पत्व की प्रतीति की समाप्ति के समान कही जा

सकती है। जहाँ उसे रज्जु, रज्जुरूप में ही प्रतीत होती है। इसीप्रकार विवेक द्वारा ब्रह्म में मिथ्याप्रपञ्च सम्बन्धी अध्यारोप की निवृत्ति होने पर एकमात्र ब्रह्म की सत्ता ही रह जाती है। इसी प्रक्रिया को वेदान्त 'अपवाद' कहता है। आचार्य सदानन्द वेदान्तसार में इसका इसप्रकार उल्लेख करते हैं–

"अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्वाद् वस्तुविवर्तस्या-वस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्।"

(२१) सविकल्पक एवं निर्विकल्पक समाधि– मुक्ति की दिशा में जीव के लिए समाधि की उपयोगिता एवं महत्त्व को प्रायः सभी दर्शनों ने स्वीकार किया है। वेदान्तदर्शन ने भी इसका उल्लेख किया है। तदनुसार–ध्यान की उत्कृष्ट अवस्था को समाधि कहते हैं। इसके आठ अङ्ग होते हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें से समाधि साधक की उत्कृष्ट अवस्था भी मानी गई है। इसे (क) सविकल्पक (ख) निर्विकल्पक मुख्यरूप से दो भागों में विभाजित किया गया है।

सविकल्पकसमाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों की स्वतन्त्र स्थिति का ज्ञान बना रहता है। इस अवस्था में साधक को अपने अस्तित्व का भान रहता है। साथ ही उसे अद्वैतवस्तु ब्रह्म की भी प्रतीति होती रहती है तथा उस ज्ञान का भी वह दर्शन अथवा अनुभूति करता है, जिसके कारण उसे ब्रह्मतत्त्व की प्रतीति हुई है। उसकी इस स्थिति को एक उदाहरण द्वारा भलीप्रकार समझा जा सकता है–

जिसप्रकार मिट्टी का हाथी देखने वाले को हाथी की प्रतीति होने पर भी उसके मिथ्या होने का बोध बना रहता है, सत्यता वहाँ मिट्टी की ही होती है। ठीक उसीप्रकार सर्वव्यापक, अक्षर, मायातीत परमब्रह्मरूप चित्तवृत्ति से आकारित ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय की प्रतीति होने पर भी वह उसे असत्य मानता है, सत्यता केवल परमब्रह्म की स्वीकार करता है। इसी मनःस्थिति किंवा अनुभूति को दर्शन की भाषा में 'सविकल्पक समाधि' कहा गया है। आचार्य सदानन्द का इस विषय में कथन है– सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयनपेक्षयाऽद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरव-स्थानम् मृण्मयमजादिभानेऽपि मृदभानवद् द्वैतभानेऽप्यद्वैतवस्तुभासदेः

निरन्तर ध्यान करने के परिणामस्वरूप जब साधक को ज्ञाता, ज्ञान आदि विकल्पों का भान नहीं रहता है तथा उसकी चित्तवृत्ति एकमात्र अद्वितीय वस्तु ब्रह्म में ही एकीभाव को प्राप्त कर लेती है, उसे अपना व ज्ञान दोनों में से किसी का बोध नहीं रहता। उसी स्थिति को दर्शन निर्विकल्पक समाधि कहता है। यही साधक की उत्कृष्टतमस्थिति है। इसे उदाहरण द्वारा हम इसप्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं–

जिसप्रकार पानी में घुल जाने पर नमक के अस्तित्व की प्रतीति प्रत्यक्षतः नहीं होती है, जबकि उसका अस्तित्व विद्यमान रहता है। ठीक इसीप्रकार जब चित्तवृत्ति उस अद्वितीयवस्तु ब्रह्म के साथ आत्यन्तिक तादात्म्य को प्राप्त कर लेती है। उससमय चित्तवृत्ति का अस्तित्व होने पर साधक को उसकी प्रतीति नहीं होती, एकमात्र ब्रह्म का ही बोध होता है। बस यही निर्विकल्पक समाधि कहलाती है। इस विषय में विद्यारण्यस्वामी कहते हैं–

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम्।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते॥

अर्थात् जिससमय चित्त, ध्याता एवं ध्यान की प्रतीति का परित्याग करके एकमात्र ध्येय ब्रह्मतत्त्व की अनुभूति करता है, उसे समाधि कहते हैं। इस अवस्था में चित्त वायुरहित स्थान में रखे दीपक के समान पूर्णतया निश्चल हो जाता है। आचार्य सदानन्द इसका इसप्रकार उल्लेख करते हैं–

"निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तिरतितरामेकाकीभावनेनावस्थानम्"

अर्थात् ज्ञाता एवं ज्ञान आदि के भेद का लोप होकर एकमात्र अद्वैतवस्तु ब्रह्म में तदाकार आकारित चित्तवृत्ति का एकीभाव ही निर्विकल्पक समाधि अथवा ज्ञान कहलाता है।

(२२) जीवन्मुक्त का लक्षण–चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीयदर्शनों की मान्यता है कि संसार में प्रत्येक प्राणी को अपने किए हुए कर्मों का फल भोगना पड़ता है। यह फल शुभ, अशुभ अथवा शुभाशुभ किसी भी प्रकार का हो सकता है, किन्तु कोई भी साधक विवेकज्ञान द्वारा इस कर्मफल को भस्मसात् करने में समर्थ है। मुण्डकोपनिषद् का यह कथन भी इसकी पुष्टि में प्रमाण है–

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ (2/2/8)

अर्थात् परमब्रह्म के साक्षात्कार के पश्चात् साधक की अज्ञानग्रन्थि विनष्ट हो जाती है तथा उसके सभीप्रकार के कर्म क्षीण होकर सभी संशय दूर हो जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भी अग्नि द्वारा ईंधन को भस्मसात् करने का उदाहरण देते हुए ज्ञानरूपी अग्नि से सभीप्रकार के कर्मों को जला डालने की बात कही गयी है–

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा। (4/37)

फल की दृष्टि से कर्मों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है–(1) सञ्चितकर्म, (2) क्रियमाणकर्म, (3) प्रारब्धकर्म। अनादिकाल से किए गए कर्म जिनका फल अभी प्राप्त नहीं हुआ है, सञ्चितकर्म कहलाते हैं। मन, वाणी, कर्म द्वारा वर्तमानजन्म में किए जा रहे कर्म क्रियमाणकर्मों की श्रेणी में आते हैं, क्रियापूर्ण होने पर ये ही सञ्चितकर्मों की कोटि में आ जाते हैं। चिरकाल के सञ्चितकर्म जब फलोन्मुख होकर शुभाशुभ फल प्रदान करने में तत्पर हो जाते हैं, उन्हें प्रारब्धकर्म कहा जाता है।

सञ्चित, क्रियमाण तथा प्रारब्धकर्मों का चक्र व्यक्ति के जीवन में निरन्तर चलता रहता है, किन्तु इस कर्मबन्धन से छुटकारा ज्ञान के उदय या फल के भोग द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। वेदान्त ज्ञान को मुक्ति का एकमात्र साधन मानता है। शङ्कराचार्य के अनुसार–'जिसप्रकार आग के बिना भोजन नहीं पकाया जा सकता है, उसीप्रकार ज्ञान के बिना मोक्षप्राप्ति असम्भव है।' यहाँ ज्ञान से अभिप्राय ब्रह्मज्ञान से ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वेदान्त अज्ञान को अनर्थ का मूलकारण स्वीकार करता है। वेदान्त के अनुसार यह अज्ञान ही जीव में अनेकप्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न करता है, जो उसके बन्धन का कारण बनती हैं।

अज्ञान से उत्पन्न इन सभी भ्रान्तियों का निवारण सद्गुरु के मार्गदर्शन एवं उपदेश द्वारा प्रदत्त ज्ञान से सम्भव है। अज्ञान के विनष्ट होने पर जीव को आत्मबोध ठीक उसीप्रकार हो जाता है, जैसे बादलों के हट जाने पर सूर्य का प्रकाश हो जाता है, किन्तु ज्ञान का प्रकाश होने पर साधक को तुरन्त मुक्ति नहीं मिलती, क्योंकि उसे अपने पूर्वजन्मों के सञ्चितकर्मों के फल को भोगना पड़ता है।

शङ्कराचार्य के मतानुसार ब्रह्मज्ञान होने के पश्चात् भी साधक को प्रारब्ध कर्मों का फल भोगना पड़ता है। उनके अनुसार जिसप्रकार कुम्हार बर्तन बनाने वाले चक्र (कुलाल) में दण्ड द्वारा गति उत्पन्न करता है; बाद में दण्ड हटाने पर भी वह स्वतः वेगपूर्वक चलता रहता है। वह वेग की समाप्ति पर ही रुकता है। ठीक उसीप्रकार विपाक की ओर उन्मुख प्रारब्ध कर्मों का क्षय उनके भोग के बाद ही होता है, पहले नहीं।

इसी बात को उन्होंने बाण का उदाहरण देकर भी समझाया है। जिसप्रकार धनुष से छोड़ा गया बाण अपनी गति समाप्त करने पर ही रुकता है। उसीप्रकार प्रारब्धकर्मों का क्षय भी उनका उपभोग करने के बाद ही होता है। इसलिए जो गीता अथवा उपनिषद्ग्रन्थों में कर्मों के भस्मसात् होने की बात कही गयी है, वहाँ उनका अभिप्राय क्रियमाणकर्म से ही ग्रहण करना चाहिए, प्रारब्ध या सञ्चितकर्मों से नहीं।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि जीवन्मुक्त अपने शरीर एवं इन्द्रियों द्वारा पूर्व-वासनाओं के प्रभाव से कर्म करता है तथा प्रारब्धकर्मों का भोग करता है। वह ज्ञान की दृष्टि से ही समस्त कर्मफलों का उपभोग करता है, क्योंकि इस स्थिति में वह सम्पूर्ण सांसारिक व्यवहार को मिथ्याप्रपञ्च के रूप में ही देखता है, वास्तविक रूप में नहीं। इसे जादूगर (इन्द्रजालिक) के दृष्टान्त द्वारा सरलतापूर्वक समझाया जा सकता है–

मंच के ऊपर जादूगर जो भी प्रपञ्च प्रदर्शित करता है। वह वस्तुतः असत्य ही होता है, किन्तु उसके मिथ्यात्व की प्रतीति केवल जादूगर को ही होती है, अन्यों को नहीं। वहाँ उपस्थित सभी दर्शक उसके द्वारा प्रदर्शित समस्तप्रपञ्च में परमार्थ अर्थात् सत्यतत्त्व का ही दर्शन करते हैं। ठीक इसीप्रकार जीवन्मुक्त संसार के पदार्थों के मिथ्यात्व को जानने के कारण उनमें लिप्त नहीं होता है। इस कारण वह आँखों वाला होते हुए भी आँखों वाला नहीं होता तथा कानों वाला होते हुए भी कानों वाला नहीं होता है। उसकी स्थिति कमल के पत्ते पर रखी जल की बूँद के समान होती है जो संसार में रहते हुए भी उसमें लिप्त नहीं रहता है, स्वयं को पृथक् बनाए रखता है।

जीवन्मुक्त की अवस्था में साधक यद्यपि अपने शरीर को धारण किए रहता है, किन्तु वास्तव में वह देह के प्रति अभिमान का ही परित्याग कर देता है। वह सभीप्रकार के विरोधों एवं द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है। उसका

शत्रु, मित्र, मान, अपमान, लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि भावनाएँ पूर्णतया शान्त हो जाती हैं। सामान्य लोगों के व्यवहार की अपेक्षा जगत् के प्रति इसका व्यवहार विलक्षण होता है। जीवन्मुक्त के व्यवहार के सम्बन्ध में शङ्कराचार्य का कथन है-

सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति
द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः
स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः॥ (उपदेशसाहस्री-5)

यम-नियमों के अनुष्ठान द्वारा वह अशुभकर्मों का परित्याग कर शुभ कर्मों में प्रवृत्त रहता है। अष्टाङ्गयोग का अनुष्ठान साधक के लिए पुण्य सञ्चय का कार्य करता है। शुभकर्मों के प्रति प्रवृत्ति ही उसके ब्रह्म साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त करती है। उसका शरीर प्रारब्धकर्मफल भोगने पर्यन्त ही विद्यमान रहता है। प्रारब्धकर्मों के पूर्णक्षय के साथ ही उसका शरीरपात हो जाता है तथा वह पूर्णकाम, आप्तकाम और निष्काम बन जाता है। अन्ततः सभीप्रकार की इच्छाओं से मुक्त होने पर वह ब्रह्म ही बन जाता है।

जीवन्मुक्त की मोक्षावस्था के बारे में आचार्यों का कथन है कि जिसप्रकार वायु पुष्प के मध्य में स्थित गन्धकोष से गंध लेकर बहता है। उसीप्रकार सामान्यरूप से लिङ्गशरीर, मनसहित इन्द्रियों को ग्रहण करके एक शरीर का परित्याग कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, किन्तु जीवन्मुक्त का न केवल प्रारब्धकर्मों के उपभोग से स्थूलशरीर, अपितु अज्ञान के हेतु रूप में अविद्यमान होने के कारण सूक्ष्मशरीर, यहाँ तक कि ज्ञान के उदय से कारणशरीर भी विनष्ट हो जाता है। इसप्रकार इन तीनों शरीरों के समाप्त होने से साधक देहमुक्त होकर परमब्रह्म में ठीक उसीप्रकार विलीन हो जाता है, जैसे- तप्ततवे पर गिरी जल की बूँदे उसी में समा जाती हैं या समुद्र में उठने वाली लहरें उसी में विलीन हो जाती हैं। जिसप्रकार लहरों के समुद्र में समा जाने पर समुद्र और लहरों में किसीप्रकार का कोई भेद नहीं रहता है, ठीक उसीप्रकार जीवनमुक्त एवं परमब्रह्म में कोई भेद नहीं रहता है।

(२३) आत्मविषयक विभिन्न मत-आचार्य सदानन्द ने वेदान्तसार में बौद्ध, चार्वाक एवं मीमांसक आचार्यों के आत्मविषयक मतमतान्तरों को प्रस्तुत करते हुए वेदान्त की दृष्टि से यथार्थरूप में आत्मतत्त्व का प्रतिपादन

किया है। इस क्रम में इन्होंने सर्वप्रथम अत्यन्त सामान्यलोगों की दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए कहा कि–

(1) अत्यन्त साधारण लोग अपने समान ही अपने पुत्र के प्रति प्रेम होने तथा पुत्र के नष्ट-पुष्ट होने पर व्यक्ति को यह अनुभव होता है कि मैं नष्ट हो गया या मैं पुष्ट हो गया। इतना ही नहीं अनेकशः तो वह अपने से बढ़कर पुत्र को मानता है, क्योंकि स्वयं भूखा रहकर अपने पुत्रों को खिलाकर प्रसन्नता का अनुभव करता है। श्रुति को भी इस विषय में प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया गया है–"आत्मा वै जायते पुत्रः" अतः पुत्रों के प्रति व्यक्ति का अगाध प्रेम होने के कारण **पुत्र को ही आत्मा** कहना संगत है।

(2) इसके विपरीत मधुर लगने वाले वचनों का कथन करते हुए, बृहस्पतिशिष्य चार्वाकमत को स्वीकार करने वाले आचार्यों ने अन्न एवं रस से बने **इस शरीर को ही आत्मा** माना। उनके अनुसार–मनुष्य जलते हुए घर में अपने पुत्र को छोड़कर अपनी जान बचाकर स्वयं बाहर आ जाता है। इसलिए उसका पुत्र की अपेक्षा अपने शरीर के प्रति अधिक प्रेम प्रदर्शित होता है, इसकारण तथा 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' (वह पुरुष (आत्मा) अन्नरस का विकार है, इत्यादि श्रुतिवचनों से, साथ ही मैं मोटा हो गया हूँ, मैं दुर्बल हो गया हूँ इत्यादि अनुभवप्रमाण से स्थूलशरीर को ही आत्मा मानना उचित है।

(3) पुत्रात्मवाद एवं शरीरात्मवाद का खण्डन करते हुए अन्य चार्वाक आचार्यों ने तर्क प्रस्तुत करते हुए **इन्द्रियों को ही आत्मा** माना है। तदनुसार–'सुषुप्तिकाल में शरीर चेष्टाविहीन हो जाता है। अतः इस शरीर को आत्मा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि चैतन्य से होने वाली शारीरिक चेष्टा इन्द्रियों के होने पर ही होती है। उनके अभाव में शरीर चेतनाविहीन हो जाता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियों में विकृति आने पर मैं काना हूँ, मैं बहरा हूँ, इत्यादि अनुभव होता है। साथ ही 'ते ह प्राणाः प्रजापतिपितरमेत्य ब्रूयूः' इत्यादि श्रुतिवचन भी इसमें प्रमाण है। अतः इन्द्रियों को ही आत्मा मानना युक्तियुक्त है।

(4) जबकि अन्य चार्वाक आचार्यों ने **प्राणों को आत्मा** माना है। उनके मत में वस्तुतः शरीर, पुत्र अथवा इन्द्रिय आत्मा नहीं है, अपितु प्राण ही आत्मा है, क्योंकि प्राणों के नष्ट होने पर समस्त इन्द्रियाँ निश्चल हो

जाती हैं, अपने विषयों को ग्रहण करना बन्द कर देती हैं तथा प्राणों की उपस्थिति में ही अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ हो पाती हैं। साथ ही मैं भूखा हूँ, मैं प्यासा हूँ इत्यादि अनुभव प्राणों के द्वारा ही होता है। 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' इत्यादि श्रुति भी इसमें प्रमाण है। इन सभी कारणों से प्राणों को ही आत्मा कहना तर्कसंगत है।

(5) उक्त चारों मतों का खण्डन करते हुए अन्य चार्वाक आचार्य **मन को ही आत्मा कहते हैं**। उनके अनुसार–सुषुप्ति अवस्था में जब मन सो जाता है तो प्राणादि का भी अभाव देखा गया है। मन की जाग्रत अवस्था में ही प्राण, इन्द्रियाँ, शरीरादि कार्य करते हुए देखे जाते हैं। अतः मन को ही आत्मा कहना न्यायसंगत है। इसके अलावा मैं संकल्पवान् हूँ, मैं विकल्पवान् हूँ, नित्यप्रति ऐसा अनुभव होने से तथा 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' इत्यादि श्रुतिवचनों से मन को ही आत्मा मानना चाहिए।

(6) उपर्युक्त सभी चार्वाक मतों के खण्डन में बौद्ध दार्शनिकों ने बुद्धि में आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा–**वस्तुतः बुद्धि ही आत्मा** है, क्योंकि घटादि के निर्माण के लिए जिसप्रकार कुम्हार की उपस्थिति आवश्यक है, ठीक उसीप्रकार मन आदि इन्द्रियों में चेष्टा-सामर्थ्य के लिए उनके अधिष्ठातास्वरूप बुद्धि का अस्तित्व अनिवार्य है। मन को तो कुम्हार के चक्र के समान करणमात्र कहा जा सकता है, यही कुम्हाररूपी बुद्धि विद्यमान न हो तो मनरूपी चक्र घटादि का निर्माण करने में समर्थ नहीं होता है। साथ ही मैं कर्ता, मैं भोक्ता इत्यादि अनुभव एवं 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' इत्यादि श्रुतिवचन, इसमें प्रमाण है। अतः इन सब कारणों से बुद्धि को ही आत्मा कहना तर्कसंगत सिद्ध करता है।

(7) उक्त सभी मतों का निराकरण करते हुए प्रसिद्ध मीमांसक प्रभाकर भट्ट एवं नैयायिकों ने **अज्ञान में आत्मतत्त्व का** प्रतिपादन किया। उनके अनुसार–बुद्धि आदि का भी अज्ञान में लीन होना देखा गया है। मैं अज्ञानी हूँ, इसप्रकार का अनुभव भी लोगों को होता ही है तथा सुषुप्तिकाल में बुद्धि आदि का भी अज्ञानरूप आत्मा में विलय होना देखा गया है। साथ ही 'अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः' इत्यादि श्रुतिवचनों के कारण, अज्ञान को आत्मा कहना युक्तियुक्त है।

(8) उपर्युक्त मतों से भिन्नमत का प्रतिपादन करते हुए प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट एवं उनके अनुयायी आचार्यों ने **अज्ञानरूप उपाधि से युक्त**

चैतन्य को आत्मा बताया। तदनुसार—अज्ञानघन और आनन्दमय आत्मा है, क्योंकि सुषुप्तिकाल में ज्ञान एवं अज्ञान दोनों के विद्यमान होने के कारण आत्मा में भी ज्ञान एवं अज्ञान दोनों का ही अस्तित्व रहता है। सोकर उठने के बाद व्यक्ति का यह अनुभव कि 'मैं खूब अच्छीप्रकार सोया अथवा ऐसा सोया कि मुझे कुछ भी पता नहीं लगा' प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। 'प्रज्ञान घन एवानन्दमयः' इत्यादि श्रुति भी इसमें प्रमाण है।

(9) इसी क्रम में बौद्धमतावलम्बी एक अन्य मत **शून्य को आत्मा मानता** है। उनके विचार में—सुषुप्ति के समय सबका अभाव होने के कारण, अपनी सत्ता का भी भान न कराने वाली सुषुप्ति में किसी भी प्रकार की अनुभूति न होने से आत्मा का अभाव अर्थात् शून्य होना ही सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुति भी इस कथन में प्रमाणरूप में प्रस्तुत की गई है।

आत्मविषयक उपर्युक्त मतों का पूर्वपक्ष के रूप में उल्लेख करने के पश्चात् आचार्य सदानन्द कहते हैं कि—अत्यन्त सामान्य लोगों द्वारा उदाहरण रूप में कहे गए श्रुतिवचनों, युक्तियों और अनुभवों में पूर्व-पूर्व में कही गई बात का, उत्तरोत्तर कही गई बात द्वारा स्वतः ही आत्मत्वविषयक कथन का बाध हो जाने से पुत्र आदि का आत्मा न होना स्पष्ट होता है।

पुनरपि श्रुतिवाक्यों में परस्पर विरोध होने से सत्यता को जानने की जिज्ञासा अवश्य होती है, क्योंकि श्रुति वेद्वाक्य होने के कारण शङ्का का विषय नहीं है। वेदवाक्य किसी भी परिस्थिति में अप्रामाणिक नहीं हो सकता है। फिर भी इन श्रुतिवाक्यों का उद्देश्य अरुन्धतीन्याय से स्थूल से सूक्ष्म का ज्ञान कराना ही कहा जा सकता है। इस प्रसंग में अरुन्धती न्याय को समझना उचित होगा।

(२४) अरुन्धतीन्याय—अरुन्धती एक अत्यन्त सूक्ष्म तारा है। विस्तृत आकाश में उसे सहजरूप में नहीं पहचाना जा सकता है। इसके लिए विद्वानों ने एक युक्ति का कथन किया है। सबसे पहले उस व्यक्ति को चन्द्रमा की ओर संकेत करके कहा जाता है कि यही अरुन्धती है। ऐसा कहने पर उसका ध्यान पूरे आकाश से हटकर चन्द्रमा पर केन्द्रित हो जाता है। तत्पश्चात् उसे कहा जाता है कि चन्द्रमा अरुन्धती नहीं है, अपितु उसके समीप स्थित सात तारे अरुन्धती हैं, पुनः उन सातों में से अन्तिम तीन तारों की ओर संकेत करके उनके अरुन्धती होने की बात कहते हैं।

इसके बाद उन तीन तारों में से भी बीच के तारे को अरुन्धती बताकर उसके भी समीप स्थित अतिसूक्ष्म तारे की पहचान करवाते हैं। इसप्रकार इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में पाँच वाक्यों को आधार बनाते हैं– (क) चन्द्रमा (ख) सात तारे (ग) तीन तारे (घ) तीनों के बीच वाला तारा (ङ) बीच वाले के पास वाला सूक्ष्मतारा।

इसप्रकार ज्ञाता को समझाने की दृष्टि से उसके बुद्धिस्तर को ध्यान में रखते हुए सीढ़ी के समान पूर्व-पूर्व का परित्याग करके सूक्ष्मतम अरुन्धती की पहचान कराना सरलकार्य हो जाता है। ठीक उसीप्रकार पुत्र आत्मा है, इत्यादि परस्परविरुद्ध अर्थों का प्रतिपादन करने वाले श्रुतिवाक्य कहे गए हैं, किन्तु इसमें जिज्ञासु की सामर्थ्य के अनुसार पूर्व-पूर्व का क्रमशः परित्याग करके उत्तरोत्तर सूक्ष्मब्रह्म का प्रतिपादन करना ही अभीष्ट है। अतः यहाँ परस्परविरोध की प्रतीति का लेशमात्र भी औचित्य नहीं है। इसलिए नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं सत्यस्वभाव वाला आन्तरिक चैतन्य ही आत्मा है, अन्य कोई नहीं तथा वही यथार्थ है, ऐसा वेदान्तियों का मत है।

(२५) महावाक्य– जीव और ब्रह्म में ऐक्य प्रतिपादन वेदान्तदर्शन का मुख्य विषय है। इसके अनुसार अज्ञान से ग्रस्त जीव अपने आपको ब्रह्म से अलग समझने लगता है। इसी अज्ञान के कारण उसे बार-बार संसार में जन्म लेना पड़ता है। आवागमन के इन असह्य कष्टों से मुक्ति पाने के लिए वह सद्गुरु की शरण में जाता है, जो उसे तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यों के रूप में उपदेश प्रदान करता है। गुरु के उपदेश द्वारा जीव का अज्ञानरूपी अन्धकार विनष्ट हो जाता है और वह अपने आपको 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस अनुभववाक्य के रूप में पहचान लेता है।

वेदान्तदर्शनविषयक ग्रन्थों में यद्यपि 12 महावाक्यों का उल्लेख किया गया है– तत्त्वमसि,[1] अहं ब्रह्मास्मि,[2] अयमात्माब्रह्म[3] एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः,[4] स यश्चायम्,[5] पुरुषे यश्चासौ,[6] आदित्ये स एकः,[7]

---

1. छान्दोपनिषद्–6/8/7
2. बृहदारण्यकोपनिषद्–1/4/10
3. वही, 1/5/19
4. वही, 3/7/3
5. तैत्तिरीयोपनिषद्–2/8/1
6. वही, 3/2/8
7. वही, 2/8/1

प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्मविज्ञानमानन्दं ब्रह्म,[1] सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,[2] स एवमेव पुरुषो ब्रह्म,[3] सर्वं खल्विदं ब्रह्म,[4] एकमेवाद्वितीयम्।[5]

इन महाकाव्यों में से प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि तथा अयमात्मा ब्रह्म इन चार को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि ये चारों महावाक्य चार वेदों का प्रतिनिधित्व भी करते हैं, किन्तु आचार्य सदानन्द ने अपने वेदान्तसार में केवल दो महावाक्यों का निरूपण किया है (क) तत्त्वमसि (ख) अहं ब्रह्मास्मि। अतः हम यहाँ इन्हीं दोनों महावाक्यों का ही विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

(क) तत्त्वमसि– (उपदेशवाक्य) अर्थात् वह शुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्म तुम हो। यह उपदेशवाक्य सद्गुरु अधिकारीशिष्य से कहता है। इस वाक्य में जीव और ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादन किया गया है, किन्तु इस सम्बन्ध में एक शंका होती है कि वेदान्त के अनुसार जीव अल्पज्ञ है और ब्रह्म को सर्वज्ञ बताया गया है तो फिर 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य द्वारा इन दोनों में ऐक्य का प्रतिपादन कैसे किया जा सकता है?

जिसके लिए आचार्य सदानन्द ने तीन प्रकार के सम्बन्धों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है (1) समानाधिकरण्यसम्बन्ध (2) विशेषण विशेष्यभावसम्बन्ध तथा (3) लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध। इन त्रिविध सम्बन्धों द्वारा तत्त्वमसि वाक्य जीव और ब्रह्म के अखण्ड अर्थ का बोध कराता है। इस विषय में आचार्य सुरेश्वर भी कहते हैं–

सामानाधिकरण्यञ्च विशेषणविशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्। (नैष्कर्म्यसिद्धि 3/3)

(१) समानाधिकरण्यसम्बन्ध–आचार्य सदानन्द इस सम्बन्ध की व्याख्या दो उदाहरण देकर प्रस्तुत करते हैं– सोऽयं देवदत्तः तथा तत्त्वमसि। इन दोनों वाक्यों का उद्देश्य एकत्व की प्रतीति करना है। 'यह वही देवदत्त है' इत्यादि प्रथम वाक्य किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा कहा गया है जिसने कुछ

---

1. ऐतरेयोपनिषद्- 5/3
2. तैत्तिरीयोपनिषद्-2/1/1
3. ऐतरेयोपनिषद्- 3/13
4. छान्दोपनिषद्-3/19/1
5. वही, 6/2/1

समय पूर्व देवदत्त को अन्यत्र किसी स्थान पर देखा था। उसी देवदत्त को अपने सामने पाकर वह व्यक्ति पहले देखे गए देवदत्त को याद करके अनायास ही कह उठता है–'अरे! यह तो वही देवदत्त है' (सोऽयं देवदत्तः)

इस वाक्य में प्रयुक्त 'सः' शब्द तत्काल एवं तद्देशविशिष्ट देवदत्त का बोध कराने वाला है, जबकि 'अयम्' शब्द से एतत्काल, एतद्देशविशिष्ट देवदत्त का बोध होता है। यद्यपि सामान्यदृष्टि से हमें इस वाक्य में उस समय एवं उस स्थान तथा इस समय और इस स्थान के कारण काल तथा देशगत विरोध की प्रतीति होती है, तथापि सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही देवदत्तरूप पिण्डविशेष में पर्यवसित हो जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस सम्बन्ध द्वारा ये दोनों पद (सः और अयम्) एक ही देवदत्त का बोध कराते हैं।

ठीक इसीप्रकार 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में प्रयुक्त 'तत्' शब्द परोक्षत्व एवं सर्वज्ञत्व आदि गुणों से विशिष्टचैतन्य का कथन करता है तथा 'त्वम्' पद प्रत्यक्षत्व एवं अल्पज्ञत्व आदि गुणों से विशिष्ट चैतन्य अर्थात् जीव का वाचक है। पूर्ववाक्य 'सोऽयं देवदत्तः' के अनुसार ही यद्यपि यहाँ भी तत् एवं त्वम् पदों के अर्थों में परोक्षत्व एवं प्रत्यक्षत्व तथा सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व के कारण प्रथमदृष्टि में विरोध की प्रतीति होती है, किन्तु यहाँ प्रतीत होने वाला विरोध वास्तविक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'तत्' पद द्वारा जिस चैतन्य की तथा 'त्वम्' पद द्वारा जिस चैतन्य की यहाँ प्रतीति हो रही है, उन दोनों में कोई भेद नहीं है। वस्तुतः इन दोनों में भी पूर्ववत् सामानाधिकरण्य सम्बन्ध द्वारा एक चैतन्य में समानरूप से तात्पर्य परिलक्षित होने से इन दोनों में अभेद का बोध कराया जा रहा है।

(२) विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध–जो शब्द अपने विशेष्य को अन्य शब्दों द्वारा विशेषरूप से अलग कर देता है, विशेषण तथा जो विशेषरूप से अलग होता है, वह विशेष्य कहलाता है। जैसे–'नीलोत्पलम्' इत्यादि वाक्य में 'नील' पद विशेषण तथा 'उत्पल' विशेष्य है। यहाँ विशेषण 'नील' पद विशेष्य उत्पल अर्थात् कमल को नीले रंग से भिन्न सभी लाल, पीले, श्वेत आदि रंगों से अलग कर देता है। इसप्रकार यहाँ प्रयुक्त विशेषण न केवल विशेष्य की विशेषता प्रदर्शित करता है, अपितु उसके विरोधीधर्मों से भी उसकी भिन्नता बताकर विरोधी धर्मों का व्यावर्तन कर देता है। ठीक इसीप्रकार 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में 'सः' और 'अयम्' ये दोनों पद

आपस में विशेषणविशेष्य बनकर विरोधी अंशों का व्यावर्तन करके देवदत्त में एकत्व की प्रतीति कराते हैं।

इसलिए इस वाक्य द्वारा विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध से एक देवदत्त का ही बोध होता है। इस सम्बन्ध के आधार पर 'सः' पद 'अयम्' का विशेषण तथा 'अयम्' को 'सः' का विशेष्य मान लिया जाता है तथा तत्कालविशिष्ट एतत् कालविशिष्ट में प्रतीत होने वाले विरोध का व्यावर्तन होने से अयम् पद सः का विशेषण बन जाता है। इसप्रकार दोनों पद परस्परभेद के व्यावर्तक होने से देवदत्त पिण्ड अर्थात् व्यक्ति में एकत्व का बोध कराते हैं।

ठीक इसीप्रकार विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध से 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में भी जीव और ब्रह्म में ऐक्य की सिद्धि की जाती है। इस स्थिति में 'तत्' पद से सामान्यतया परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य तथा 'त्वम्' पद से अपरोक्षत्वादि विशिष्टचैतन्यरूप अर्थ के कारण भेद की प्रतीति होती है, किन्तु इनके परस्पर प्रतीत होने वाले इस भेद को विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध द्वारा दूर कर दिया जाता है। इस व्यावर्तन के परिणामस्वरूप दोनों पदों से विशुद्ध चैतन्यमात्ररूप अर्थ की प्रतीति होती है।

(३) **लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध**–सामान्यरूप से अभिधा शब्दशक्ति पदों के साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराती है, किन्तु मुख्यार्थ के बाध होने पर रुढ़ि अथवा प्रयोजनवश उससे सम्बन्धित अर्थ की प्रतीति लक्षणा शब्द शक्ति द्वारा करायी जाती है। जैसे–'सोऽयं देवदत्तः' यहाँ प्रयुक्त 'सः' पद का मुख्यार्थ भूतकालविशिष्ट देवदत्त तथा 'अयम्' का वाच्यार्थ एतत्काल विशिष्ट देवदत्त होगा। तत्काल्विशिष्ट और एतत्कालविशिष्ट में यहाँ प्रत्यक्षतः विरोध प्रतीत हो रहा है, किन्तु प्रतीत होने वाले इस विरोध का परित्याग करके अविरुद्ध अंश देवदत्त में अर्थग्रहण करने के लिए यहाँ लक्षणा का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। जिसके द्वारा यह अर्थावबोध कराया गया है। वस्तुतः यह लक्षणा सामान्यलक्षणा से भिन्न 'जहदजहल्लक्षणा' मानी गई है, क्योंकि उक्त वाक्य में 'सः' और 'अयम्' पदों द्वारा प्रदर्शित वाच्यार्थों के विरुद्धांशों को त्यागकर केवल अविरुद्ध तत्त्व देवदत्त में ही अभिप्राय ग्रहण किया गया है। अतः थोड़ा-सा छोड़ देने

(जहत्) तथा थोड़ा सा ग्रहण कर लेने (अजहत्) के कारण इसे सामान्य लक्षणा से भिन्न जहदजहल्लक्षणा कहा गया है। इसीको 'भागलक्षणा' भी कहते हैं।

तत्त्वमसि वाक्य में भी इसी भागलक्षणा द्वारा 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ में स्थित विरुद्धांशों का परित्याग करके उनमें स्थित अविरुद्धांश अखण्डचैतन्य को ग्रहण करके ही वाक्यार्थ का बोध कराया जाता है। यहाँ तत् एवं त्वम् पदों का विरुद्धांशरहित वाच्यार्थ लक्षक कहा जाएगा तथा अखण्डचैतन्यरूप अर्थ लक्ष्य होगा। उस स्थिति में लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध तथा भागलक्षणा द्वारा विरुद्ध अंश (परोक्षत्वादि विशिष्ट-अपरोक्षत्वादि विशिष्ट) का परित्याग करके अविरुद्ध अंश का ग्रहण करने पर अखण्ड चैतन्य का बोध होगा।

इसप्रकार उपर्युक्त तीनों सम्बन्धों के द्वारा अधिकारीशिष्य गुरु की अनुकम्पा से 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के अखण्ड, एकरसचैतन्यरूप अर्थ के साथ-साथ जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य को भी जानने में समर्थ हो जाते हैं।

(ख) अहं ब्रह्मास्मि (अनुभववाक्य)- यहाँ तक हमने तत्त्वमसि उपदेशवाक्य तथा उसके अभिप्राय को ग्रहण करने में प्रयुक्त सम्बन्धत्रय का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया। अब हम आचार्य सदानन्द द्वारा वेदान्तसार में वर्णित द्वितीय महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' का विवेचन प्रस्तुत करेंगे। वस्तुतः इन दोनों वाक्यों में परस्पर अत्यन्त घनिष्ठसम्बन्ध है, क्योंकि परमकृपालु गुरु से उपदेशवाक्य को सुनकर ही साधक ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए प्रत्यनशील हो जाता है। वैराग्य आदि साधन-चतुष्टय से सम्पन्न अधिकारी शिष्य की चित्तवृत्ति सच्चिदानन्दघनपरम ब्रह्म के आकार से आकारित होकर प्रकाशित हो उठती है। चित् प्रतिबिम्ब को धारण कर यह चित्तवृत्ति परमब्रह्म को विषय बनाकर ब्रह्मविषयक अज्ञान को विनष्ट कर देती है तथा अज्ञान के नष्ट होने पर वह (चित्तवृत्ति) स्वयं भी नष्ट हो जाती है।

इस सम्पूर्णप्रक्रिया की वेदान्त के ग्रन्थों में 'कतक रजोन्याय' के माध्यम से व्याख्या की गई है। जल को स्वच्छ करने वाला कतक चूर्ण जल की मलिनता को दूर करके जिसप्रकार स्वयं भी उसी जल में विलीन हो जाता

है। ठीक उसीप्रकार ब्रह्मविषयक अज्ञान को विनष्ट करके य ह चित्तवृत्ति भी समाप्त हो जाती है–

अज्ञानकलुषं जीव ज्ञानाभ्यासाद्धि निर्मलम्।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येत् जलं कतकरेणुवत्॥

इस विषय में ध्यातव्य है कि चैतन्यविषयक अज्ञानरूपी आवरण के विनष्ट होने के साथ-साथ ही साधक को 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति होने लगती है। इसप्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अनुभव में चित्तवृत्ति का ब्रह्म के आकार से आकारित होना, अज्ञान का विनाश तथा उसी के साथ सकल प्रपञ्च एवं चित्तवृत्ति का भी विलीन होना प्रमुख है। जिससमय साधक को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तो तत्त्वज्ञान के परिणामस्वरूप उसका द्वैतभाव भी समाप्त हो जाता है अर्थात् इस अवस्था में अद्वैतभाव की सिद्धि हो जाती है। अतः ब्रह्म को जानने वाला वस्तुतः ब्रह्म ही हो जाता है। यही 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अनुभव का परमफल कहा जा सकता है।

वेदान्तसारः

अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये॥१॥

अन्वय–सत्-चित्-आनन्दम्, अवाङ्मनसगोचरम्, अखिल-आधारम् अखण्डम्, आत्मानम् अभीष्टसिद्धये आश्रये।

अनुवाद–(ग्रन्थ की निर्विघ्नसमाप्ति अथवा त्रिविधदु:ख की आत्यन्तिक-निवृत्ति के लिए सत्य, ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप, मन, वाणी तथा इन्द्रियों के अविषय, सम्पूर्ण स्थावरजङ्गमरूप प्रपञ्च के आधारस्वरूप, अखण्ड परमात्मा का अभीष्ट (मनोरथ) की सिद्धि के लिए (मैं सदानन्द) आश्रय ग्रहण करता हूँ।

'चन्द्रिका'– किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व मंगलाचरण की भारतीयपरम्परा का निर्वाह करते हुए आचार्य सदानन्द वेदान्तदर्शन के प्रकरणग्रन्थ वेदान्तसार की निर्विघ्नसमाप्ति के लिए परमात्मा का स्मरण करते हुए कहते हैं कि मैं अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए सच्चिदानन्द, अवाङ्मनसगोचर, सम्पूर्णसृष्टि के आधार स्वरूप, अखण्ड, परमपिता परमात्मा का आश्रय लेता हूँ।

प्रस्तुत मङ्गलाचरण में प्रयुक्त प्रत्येक पद विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा रखता है, क्योंकि गम्भीर अभिप्राय को लिए हुए ये सभी शब्द ग्रन्थकार ने साभिप्राय प्रयुक्त किए हैं। वेदान्तदर्शन एकमात्र परमब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करता है, साथ ही आत्मा एवं ब्रह्म की एकता का भी प्रतिपादन करता है। इसीलिए आचार्य सदानन्द ने यहाँ आत्मा शब्द का प्रयोग परमात्मा अथवा ब्रह्म के अर्थ में किया है। वेदान्त के अनुसार मानवजीवन का एकमात्रलक्ष्य परमब्रह्म का सायुज्य प्राप्त करना है। अत: प्रस्तुत श्लोक द्वारा इस ग्रन्थ के प्रयोजन की ओर भी ग्रन्थकार ने सङ्केत किया है।

यहाँ आत्मा के चार विशेषणों का प्रयोग किया गया है, जिनमें उसकी सभी विशेषताओं का समावेश हो जाता है। अत: हम यहाँ उनकी क्रमश: व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं।

(क) **सच्चिदानन्दम्**–सभी वेदान्तग्रन्थों में ब्रह्म के लिए इस विशेषण का प्रयोग किया गया है, जो इसकी तीन विशेषताओं की ओर संकेत करता है सत्, चित् और आनन्द। सत् शब्द अस् भुवि धातु से शतृ प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। इसका अभिप्राय है सत्तावान्। यहाँ प्रयुक्त सत् शब्द भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में उसकी विद्यमानता का कथन करता है, क्योंकि वेदान्तदर्शन के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र ऐसी वस्तु है जो तीनों कालों में यहाँ तक कि प्रलय के उपरान्त भी विद्यमान रहती है। यह न केवल सृष्टि के आरम्भ में विद्यमान थी, अपितु वर्तमान में भी है तथा आगे भी रहेगी। अतः यह कालातीत यथार्थसत्ता है।

चिती संज्ञाने धातु से क्विप् प्रत्यय करके निष्पन्न 'चित्' शब्द ज्ञान का वाचक है। ब्रह्म को चित् कहकर उसके ज्ञानस्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् कहता है–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (2/1/1) बृहदारण्यकोपनिषद् उसे विज्ञान कहता है– विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (3/9/28)। अतः ब्रह्म विज्ञानमय है। विज्ञान का सामान्य अर्थ है– विशिष्टज्ञान अथवा विशुद्ध ज्ञान। यहाँ ब्रह्म को विज्ञान इसलिए कहा गया है, क्योंकि इसके द्वारा सभी पदार्थ जाने जाते हैं, वह ज्ञानस्वरूप है।

चित् शब्द का एक अन्य अर्थ चैतन्य भी है, अर्थात् सभी प्राणियों, वनस्पतिजगत् आदि में जो चैतन्य प्रतीत होता है, वह उनमें ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करता है। वाचस्पतिमिश्र ने 'चित्' का अर्थ 'स्वप्रकाशत्व' किया है–स्वप्रकाशत्वं चित्वम् (ब्रह्मसूत्र भामतीटीका 1/1/1)। यहाँ स्वयंप्रकाश का अभिप्राय है– किसी अन्य से प्रकाशित न होना, अपितु अपने प्रकाश से सभी को प्रकाशित करना। यही विशेषता वेदान्त के ब्रह्म में विद्यमान है। वह स्वयं प्रकाश है तथा सूर्य आदि तेज–पुञ्जों का भी प्रकाशक है– इस सम्बन्ध में मुण्डकोपनिषद् ब्रह्म को ज्योतिषां ज्योतिः कहता है–

हिरण्यमये परे कोशे विरज ब्रह्म निष्फलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥ (2/2/9)

इसप्रकार यहाँ प्रयुक्त 'चित्' शब्द विज्ञान, ज्ञान, चैतन्य एवं स्वप्रकाशत्व आदि अर्थों की प्रतीति कराता है, जो ब्रह्म अथवा आत्मा के वैशिष्ट्य का कथन करते हैं।

सभी उपनिषद् एवं वेदान्तग्रन्थ ब्रह्म के लिए आनन्द का प्रयोग करते हैं। इस सम्बन्ध में तैत्तिरीयोपनिषद् कहता है कि–सभी प्राणी आनन्द से उत्पन्न होते हैं, आनन्द में स्थित हैं तथा अन्त में आनन्द में ही उनका लय भी हो जाता है–

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति (तैत्तिरीयोपनिषद्–3/6)

ब्रह्म वस्तुतः आनन्दस्वरूप है (अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः)। यह सभी के अन्तरतम में विद्यमान रहता है। इसप्रकार यहाँ प्रयुक्त सत्, चित् और आनन्द ये तीनों पद ब्रह्म की अनेक विशेषताओं का कथन करते हुए उसकी महिमा को कहते हैं।

(ख) अवाङ्मनसगोचरम्–यह आत्मतत्त्व ज्ञानेन्द्रियों के प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं है। यहाँ तक कि सर्वत्र गतिवाला मन भी उस तक पहुँचने में समर्थ नहीं है और यदि कोई साधक उसे योग आदि क्रियाओं द्वारा जान भी लेता है तो उसकी वाणी उसका कथन करने में समर्थ नहीं है। इसीलिए उसे गूँगे का गुड़ कहा गया है। जिसप्रकार गूँगा व्यक्ति गुड़ के स्वाद को कहने में असमर्थ रहता है, वह उसका केवल अनुभव कर सकता है। ठीक उसीप्रकार उस परमब्रह्म का दर्शन करने पर भी साधक उसका वर्णन करने में असमर्थ रहता है। इसी अभिप्राय को केनोपनिषद् इसप्रकार प्रदर्शित करता है–

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनः।
न विद्मो न जानीमो यथैतदनुशिष्यात्॥ (केनो॰–3)

अर्थात् ब्रह्म अविज्ञेय है, किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं लेना चाहिए कि उसकी सत्ता नहीं है, अपितु उसकी सत्ता अवश्य है। योगविद्या एवं सद्गुरु के उपदेश से उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। वह केवल अनुभव का विषय है। सम्भवतः इसीकारण उपनिषदों में 'नेति नेति' कहकर उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इस विषय में बृहदारण्यकोपनिषद् कहता है– 'स एष नेति नेत्यात्मा (3/9/26)। यहाँ नेति नेति का अभिप्राय 'ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है', यह ग्रहण करना चाहिए। वस्तुतः इस विशेषण द्वारा ब्रह्म को अविज्ञेय एवं अकथनीय कहा गया है।

(ग) अखिलाधारम्—यह ब्रह्म सम्पूर्ण चराचरप्रपञ्च का मूल आधार है। वह आकाश आदि मूलकारणों का भी कारण है। यदि हम उसका भी कारण मानें तो फिर उसका भी कारण, इसप्रकार बार-बार सोचने पर अनवस्था दोष होगा। इसलिए एकमात्र ब्रह्म को ही वेदान्त में सम्पूर्ण चराचर जगत् का कारण माना गया है तथा उसका कोई कारण नहीं है।

वह सम्पूर्णसृष्टि की रचना करने में पूर्णतया समर्थ है। इसके लिए उसे किसी अन्य बाह्यसत्ता की आवश्यकता नहीं है। सृष्टिरूपी कार्य के लिए वही उपादानकारण भी है और निमित्तकारण भी। इस विषय में यहाँ मकड़ी का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि वह अपने जाले के निर्माण में उपादान और निमित्तकारण दोनों होती है। जिसप्रकार मनुष्य के केश एवं लोम स्वाभाविकरूप में उत्पन्न होते हैं। उसमें श्वसनप्रक्रिया स्वाभाविकरूप से होती है। ठीक उसीप्रकार अक्षरब्रह्म से यह सृष्टि उत्पन्न होती है। अतः एकमात्र वही इस सम्पूर्ण सृष्टि का आधार अर्थात् एकमात्र कारण है।

वही ब्रह्म इस समस्तसृष्टि का सञ्चालक, पालक आदि भी है। इसकी सृष्टि, स्थिति एवं विनाश उसी की इच्छा पर निर्भर है। इसलिए जब वह चाहता है तो सम्पूर्णप्रपञ्च को अपने में ही सिमेटकर अकेला विद्यमान रहता है।

(घ) अखण्डम्—समस्त श्रुतियाँ ब्रह्म को एकमेवाद्वितीयम् कहकर वर्णित करती हैं। अद्वैतवेदान्त के अनुसार इस सम्पूर्ण चराचरजगत् में एक ही यथार्थसत्ता है और वह है ब्रह्म। किसी भी वस्तु के एकत्व अनेकत्व का निर्णय भेद के आधार पर किया जाता है, जिसे तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—स्वगत, स्वजातिगत तथा विजातीय भेद।

वृक्ष का शाखाओं एवं पत्तों में स्वगतभेद होता है। आम्र और केले के वृक्षों में सजातीयभेद विद्यमान है, उनकी जाति वृक्षत्व एक होते हुए भी वे व्यक्तिशः भिन्न हैं तथा वृक्ष का पत्थर से विजातीयभेद होता है। ब्रह्म एक है, अतः अद्वितीय है वह उपर्युक्त तीनों प्रकार के भेदों से रहित है। इसीलिए उसे एकमेवाद्वितीयम् कहा गया है। जिसे ग्रन्थकार ने अखण्डम् विशेषण द्वारा अभिव्यक्त किया है। ब्रह्म की इस विशेषता को उपनिषदों में इसप्रकार कहा गया है—

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

(ङ) अभीष्टसिद्धये–यहाँ प्रयुक्त अभीष्ट शब्द भी विशेषव्याख्या की अपेक्षा रखता है, क्योंकि अभीष्ट शब्द यहाँ अनेकार्थक है, इस प्रसंग में इस शब्द के चार अर्थ किए जा सकते हैं– प्रथम, ग्रन्थ की निर्विघ्न-समाप्ति रूपकार्य की सिद्धि के लिए ग्रन्थकार अपने इष्ट ब्रह्म अथवा आत्मा की शरण में जाता है। द्वितीय, वेदान्तदर्शन का अत्यन्त सरलशैली में प्रकरणग्रन्थ का प्रणयन करना ग्रन्थकार का अभिप्रेत है, इस उद्देश्य की सिद्धि में आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए वह अपने आराध्य अथवा विवेच्य आत्मतत्त्व की शरण ग्रहण करता है।

तृतीय, इस संसार में प्रत्येक प्राणी आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक त्रिविध दुःखों से पीड़ित है तथा ब्रह्मज्ञान इन्हें दूर करने में समर्थ है। अतः ग्रन्थकार अपने तथा अपने पाठकों के त्रिविध दुःख की आत्यन्तिकनिवृत्ति को अपना अभीष्ट मानकर, उसकी सिद्धिहेतु आराध्य का शरणागत होता है।

इसके अतिरिक्त मानवजीवन का चरमलक्ष्य मोक्षप्राप्ति, ग्रन्थकार का लक्ष्य है, ग्रन्थ के माध्यम से ब्रह्मज्ञान, यथार्थज्ञान की चर्चा करके जिसके लिए वह प्रयत्नशील है। इसी अभीष्ट अर्थात् मोक्षप्राप्ति के लिए वह आत्मा अर्थात् परमात्मा का आश्रय ग्रहण करता है। प्रस्तुत मंगलाचरण के भाव को हम इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र-१८

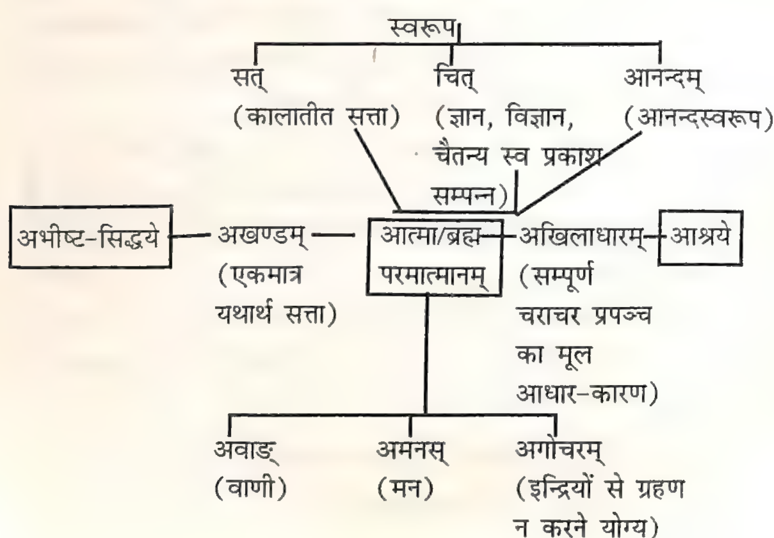

विशेष–(1) प्रस्तुत कारिका की भाषा सरल, प्रसादगुणयुक्त, भावबोधगम्य, किन्तु अर्थगाम्भीर्य से युक्त प्रयुक्त हुई है।

(2) ग्रन्थकार की अभिव्यक्तिसामर्थ्य एवं शब्द सौष्ठव की अभिव्यक्ति हुई है।

(3) आत्मा शब्द का प्रयोग ब्रह्म अथवा परमात्मा के लिए किया गया है।

(4) प्रस्तुत प्रकरणग्रन्थ वेदान्तसार का प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व रहा है, ऐसा अभिप्राय भी अभिव्यक्त हो रहा है।

(5) आत्मा के सभी विशेषण साभिप्राय प्रयुक्त हुए हैं, जो उसकी लगभग सभी महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का कथन करते हैं।

(6) ग्रन्थकार के विनम्रभाव की भी अभिव्यक्ति हुई है। अपने इष्ट के प्रति विनम्रभाव, समर्पितभाव सदैव मोक्षप्राप्ति का साधक होता है।

अवतरणिका–मङ्गलाचरण में अपने आराध्य के स्मरण के पश्चात् प्रस्तुत श्लोक में आचार्य सदानन्द अपने गुरु अद्वयानन्द को नमन करके वेदान्तसार के कथन की प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं–

अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीतद्वैतभानतः।
गुरुनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामतिः॥२॥

अन्वय–अतीतद्वैतभानतः अर्थतः अपि अद्वयानन्दान् गुरून् आराध्य यथामतिः वेदान्तसारम् वक्ष्ये।

अनुवाद– जिनकी द्वैतभावना दूर हो गई है, यथार्थरूप से भी अखण्ड आनन्दस्वरूप (अद्वयानन्द नामक) गुरु की आराधना करके (मैं सदानन्द अपनी) बुद्धि के अनुसार वेदान्तसार को कहूँगा।

'चन्द्रिका'– ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपने इष्टदेव आत्मारूप परमात्मा का स्मरण करने के बाद ग्रन्थकार अपने पूज्यपाद गुरु को नमन करना अपना पुनीतकर्तव्य मानते हैं। साथ ही वे अपने गुरु की दो विशेषताओं का कथन करते हैं–

(क) अतीतद्वैतभानतः–उनके गुरु का लौकिक नाम वस्तुतः अद्वयानन्द है। उनकी विशेषता है कि उन्होंने अपनी कठोरसाधना द्वारा ब्रह्म एवं जगत् के पार्थक्य को जान लिया है। आत्मा के दर्शन होने से उनकी द्वैतभावना दूर हो गयी है अर्थात् उनका अज्ञानरूप आवरण दूर हो गया है। अब उनकी

स्थिति वस्तुतः जीवन्मुक्त के समान है, जो अपने प्रारब्धकर्मों के कारण स्थूलशरीर को धारण किए हुए हैं। वे वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप ही हैं। ऐसे गुरु अद्वयानन्द के श्रीचरणों में बैठकर आचार्य सदानन्द ने वेदान्त की शिक्षा ग्रहण की है। अतः वेदान्तसार का उपदेश करने से पूर्व ग्रन्थकार उच्चकोटि के साधक परमगुरु को नमन करते हुए उनका आराधन करते हैं।

(ख) अद्वयानन्दान्–यद्यपि ग्रन्थकार सदानन्द योगीन्द्र का सांसारिक नाम भी अद्वयानन्द है तथापि उन्होंने योगियों के लिए भी अगम्य आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है, जिसके कारण उनकी द्वैतभावना पूर्णतया विनष्ट हो चुकी है। सच्चिदानन्दस्वरूप परमब्रह्म में ही उन्हें सदैव आनन्द की अनुभूति होती रहती है। वे सांसारिकता से पूर्णतया ऊपर उठ चुके हैं। इस दृष्टि से वे सच्चे अर्थों में यथानाम तथा गुण वाले हो गए हैं। इसप्रकार की विशेषता वाले सार्थनामा गुरु को ग्रन्थकार अपनी प्रणामाञ्जलि प्रस्तुत करने के बाद ही अपने नूतन प्रकरणग्रन्थ वेदान्तसार का उपदेश करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

(ग) यथामति–इस शब्द द्वारा ग्रन्थकार अपनी विनम्रता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि वेदान्तदर्शन अत्यन्त गूढ़विषय है। ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् आदि अनेकग्रन्थों में आचार्यों ने अत्यन्त विस्तार से इसका विवेचन किया है। इस सम्पूर्णविवेचन के कारण यह दर्शन अत्यधिक जटिल हो गया है तथा सामान्यव्यक्ति की बुद्धि के लिए इसे ग्रहण करना कठिन हो गया है। अतः मैंने ऐसा अनुभव किया कि वेदान्तदर्शन के सिद्धान्तों को समझाने वाला एक संक्षिप्त एवं सरलग्रन्थ बनाया जाए। इस संकल्प को लेकर मैंने गुरुकृपा एवं भगवत्कृपा से जो कुछ भी सीखा है। उसको अपनी बुद्धि सामर्थ्य से सरलरूप में प्रस्तुत करने का मैं यह विनम्र प्रयास कर रहा हूँ। परमात्मा इस कार्य में मुझे सफलता प्रदान करे।

(घ) वेदान्तसार–जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है (वेदान्तस्य सारः, इति वेदान्तसारः) वेदान्तदर्शन का सार। वेद शब्द से अभिप्राय संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों से लिया जाता है। संहिताग्रन्थों में प्रतिपादित ज्ञान की व्याख्या उत्तरोत्तर वैदिकसाहित्य में की गई तथा इसकी पराकाष्ठा हमें उपनिषद्ग्रन्थों में देखने को मिलती है। इसलिए इनमें प्रतिपादित सिद्धान्त अथवा दर्शन का नाम ही वेदान्त रखा गया। उन्हीं सब सिद्धान्तों को सार-संक्षेपरूप में प्रस्तावितग्रन्थ में प्रतिपादित करने की प्रतिज्ञा

आचार्य सदानन्द द्वारा प्रस्तुत कारिका में करते हुए उसका सार्थक नामकरण किया गया है।

(ङ) वक्ष्ये–ब्रू धातु से आसन्नवर्ती भविष्य के अर्थ में लृट् लकार का प्रयोग ग्रन्थकार ने साभिप्राय किया है, क्योंकि इस प्रतिज्ञा के तुरन्त पश्चात् आचार्य सदानन्द अनुबन्धचतुष्टय का कथन करते हुए ग्रन्थ का आरम्भ कर देते हैं।

प्रस्तुत श्लोक के अभिप्राय को इसप्रकार भी समझ सकते हैं–

चित्र-१९

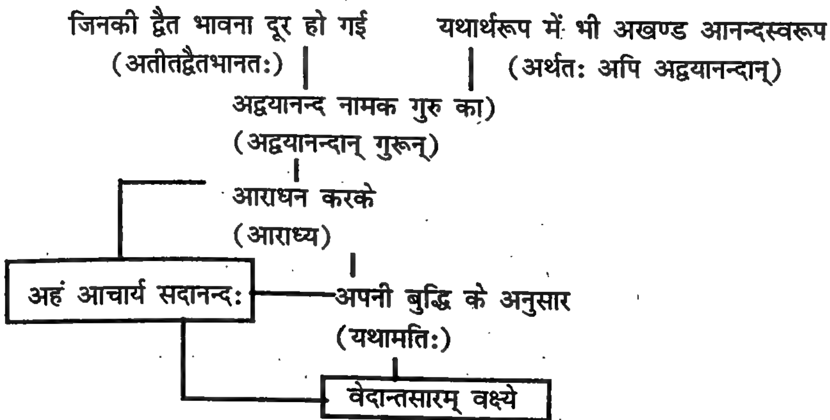

विशेष–(1) "देवमिवाचार्यमुपासीत" देवता के समान ही आचार्य अर्थात् गुरु की भी उपासना करनी चाहिए, इत्यादि भारतीयमान्यता की पालना की गई है।

(2) अद्वयानन्द शब्द में श्लेष अलंकार का प्रयोग हुआ है, क्योंकि इसका एक अर्थ आचार्य सदानन्द के गुरु का सांसारिक नाम, द्वितीय ब्रह्म तथा तृतीय अर्थ अद्वयानन्द का विशेषण है।

(3) यहाँ प्रयुक्त आराध्य शब्द ग्रन्थकार के श्रद्धाभक्तिपूर्वक गुरु के प्रति नमन की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है।

(4) गुरु की महत्ता की अभिव्यक्ति हुई है। शास्त्रकारों ने भी कहा है–

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।

(5) वेदान्तसार वेदान्तदर्शन का प्रकरणग्रन्थ है। प्रकरणग्रन्थ की शास्त्रों में इसप्रकार परिभाषा प्रस्तुत की गई है–

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।

आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥

अवतरणिका–वेदान्तसार के उपदेश की प्रतिज्ञा करने के उपरान्त 'वेदान्त' शब्द की व्याख्या करके अनुबन्धचतुष्टय का उल्लेख करते हुए सदानन्द योगीन्द्र कहते हैं–

वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च। अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात्तदीयैरेवानुबन्धैस्तद्वत्तासिद्धेर्न ते पृथगालोचनीयाः। तत्रानुबन्धो नामाधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि॥३॥

पदच्छेद–वेदान्तः नाम उपनिषद् प्रमाणम्, तत् उपकारीणि शारीरक सूत्रादीनि च। अस्य वेदान्त-प्रकरणत्वात् तदीयैः एव अनुबन्धैः तद्वत्ता-सिद्धेः, न ते पृथक् आलोचनीयाः। तत्र अनुबन्धः नाम अधिकारी-विषय-सम्बन्ध-प्रयोजनानि॥

अनुवाद–उपनिषद् को प्रमाण मानकर चलने वाला शास्त्र वस्तुतः वेदान्त कहा गया है और ब्रह्मसूत्र (शारीरकसूत्र) आदि उनके उपकारक (व्याख्या) ग्रन्थ हैं। इस (वेदान्तसार) के वेदान्तदर्शन का प्रकरणग्रन्थ होने से, उसके अनुबन्धों के साथ ही इसकी भी अनुबन्धवत्ता सिद्ध होने के कारण, उन्हें अलग मानना उचित नहीं है।

'चन्द्रिका'–प्रस्तुत खण्ड में ग्रन्थकार ने मुख्यरूप से चार बातों की ओर संकेत किया है। प्रथम, वेदान्त की परिभाषा देते हुए उसे उपनिषदों को आधार मानकर चलने वाला शास्त्र बताना। द्वितीय, ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्-गीता आदि ग्रन्थों को वेदान्त के ही उपकारक अर्थात् व्याख्याग्रन्थ प्रतिपादित करना। तृतीय, प्रस्तावित वेदान्तसार वेदान्तदर्शन का प्रकरणग्रन्थ होने, वेदान्त के सभी अनुबन्ध प्रस्तुतग्रन्थ पर भी लागू होने से उनको पृथक् मानने का निषेध तथा अन्त में अनुबन्ध चतुष्टय-अधिकारी, विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन का नामोल्लेख किया गया है।

अब हम इन चार बातों को ध्यान में रखकर ही इस खण्ड की व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

(क) वेदानाम् अन्तः, इति वेदान्तः इस व्याख्या के अनुसार–वेदों के अन्तिमभाग अर्थात् उपनिषद् ही वेदान्त हैं। अतः इनमें प्रतिपादित सिद्धान्त

अथवा दर्शन का नाम भी वेदान्त हुआ, किन्तु विद्वानों ने वेदान्त शब्द की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं–

(1) वेद शब्द से संहिताग्रन्थ, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक एवं उपनिषद्ग्रन्थों तक अभिप्राय लिया जाता है। इन सभी में उपनिषदों की रचना सबसे अन्त में होने के कारण उपनिषद्ग्रन्थों को 'वेदान्त' कहा गया।

(2) प्राचीनसमय में लेखन तकनीक के विकास के अभाव में वेदों को मौखिकरूप में ही कण्ठस्थ करके सुरक्षित रखने की परम्परा रही। यह परम्परा ज्ञान को गुरुमुख से शिष्यों द्वारा श्रवण करके सुरक्षित रखी गयी। इस क्रम में गुरुजन उपनिषदों का अध्यापन अपने शिष्यों को अन्त में कराते थे। इसलिए उपनिषदों को वेदान्त कहा गया। उपनिषदों को अन्त में पढ़ाने के पीछे उनका दृष्टिकोण यही था कि इनमें प्रतिपादित यज्ञादि के रहस्य एवं दार्शनिकविचार अत्यन्त जटिल थे, उनका आरम्भ में ज्ञान कराना अत्यन्त कठिन था।

(3) इसके अतिरिक्त अध्यापनक्रम में उत्तरोत्तरज्ञान कराने की दृष्टि से भी उपनिषदों को अन्तिमस्थान सर्वसम्मति से दिया गया था, क्योंकि आचार्यों ने इसे पुण्य प्रदान करने वाली उचित विधि माना था। अतः उपनिषदों को वेदान्त-संज्ञा प्राप्त हुई।

(4) कुछ अन्य आचार्यों ने उपनिषदों में ज्ञान की पराकाष्ठा को इनके 'वेदान्त' कहे जाने के हेतुरूप में स्वीकार किया, क्योंकि इन ग्रन्थों में हमें ज्ञान की उत्कृष्टतम स्थिति अर्थात् चरमसीमा देखने को मिलती है। इसलिए इनका 'वेदान्त' नामकरण उचित है।

(ख) उपनिषदों के लिए प्रयुक्त वेदान्त शब्द की उपर्युक्त चारों ही व्याख्याएँ हमें युक्तिसंगत प्रतीत होती हैं। अतः उपनिषद् ही वस्तुतः वेदान्त हैं। इसलिए उनमें प्रतिपादित सिद्धान्त अथवा दर्शन का नाम भी आचार्यों द्वारा 'वेदान्त' ही रखा गया। वेदान्तदर्शन में स्थल-स्थल पर उपनिषद्वाक्यों को श्रुतिवचन के रूप में प्रस्तुत करते हुए प्रमाण भी माना गया है।

इसके अतिरिक्त यहाँ प्रयुक्त उप एवं नि उपसर्गपूर्वक सद् धातु से क्विप् प्रत्यय करके निष्पन्न 'उपनिषद्' शब्द की भी आचार्यों ने विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। क्योंकि 'षदॢविशरणगत्यवसादनेषु' के अनुसार 'सद्' धातु के विशरण (नष्ट होना), गति (जाना) एवं अवसादन (शिथिल करना) इन तीन अर्थों के आधार पर उपनिषद् के भी तीन अर्थ किए जा सकते हैं।

(1) इन ग्रन्थों के अध्ययन से मोक्ष के इच्छुक साधकों की संसार की कारणरूप अविद्या नष्ट (विशरण) हो जाती है एवं उनका मोक्षमार्ग प्रशस्त होता है।

(2) इनके अध्ययनपूर्वक चिन्तन से ब्रह्म की प्राप्ति अथवा ज्ञान होता है। इसलिए इन्हें उपनिषद् कहते हैं (गति)।

(3) इन ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा व्यक्ति के आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक तीन प्रकार के दु:ख शिथिल होते हैं। (अवसादन) इसलिए इन्हें उपनिषद् कहा जाता है।

शङ्कराचार्य ने उपनिषद् का मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या तथा अप्रधान अर्थ 'ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करने वाला विशेषग्रन्थ' किया है–

तस्माद् विद्यायां मुख्यया वृत्या उपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्या...

वस्तुत: नि उपसर्गपूर्वक सद् धातु का एक अर्थ बैठना भी है तथा यहाँ प्रयुक्त 'उप' उपसर्ग 'समीप' अर्थ का द्योतक है। अत: यज्ञ की दृष्टि से अग्नि के समीप बैठना, ज्ञान की दृष्टि से गुरु के समीप बैठना, तपस्या अथवा ध्यान की दृष्टि से निश्चल होकर ब्रह्म के समीप बैठना इत्यादि अर्थ भी इस शब्द के किए जा सकते हैं। जो उपनिषद्ग्रन्थों के विविध अभिप्रायों को अभिव्यक्त करते हैं।

इसप्रकार की विशेषताओं से सम्पन्न ज्ञानराशि के अथाह आगार उपनिषद्ग्रन्थों को प्रमाणरूप में मानकर चलने वाला दर्शन 'वेदान्त' कहा गया। शारीरकसूत्र आदि ग्रन्थ इन्हीं उपनिषद् एवं वेदान्त की व्याख्या करने के कारण इनका उपकार करने वाले हैं। शारीरकसूत्र से यहाँ अभिप्राय महर्षि व्यास विरचित ब्रह्मसूत्र से है तथा 'आदि' शब्द श्रीमद्भगवद्गीता के लिए प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीता एवं ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थ इसी वेदान्त की सरलतम व्याख्या के लिए लिखे गए हैं। यहाँ प्रयुक्त 'शारीरक सूत्र' शब्द भी व्याख्या की अपेक्षा रखता है–

(ग) शारीरकसूत्रादीनि–"शरीरमेव शरीरकं तत्र भवो जीव: शारीरक: स सूत्र्यते यथातथ्येन निरुप्यते यैस्तानि शारीरकसूत्राणि अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यादीनि" अर्थात् शरीर शब्द से 'कुत्सा' अर्थ में 'क' प्रत्यय करने पर शरीरक शब्द निष्पन्न होता है। तत्पश्चात् 'तत्र भव:' इस अभिप्राय की अभिव्यक्ति के लिए 'अण्' प्रत्यय करने पर आदिवृद्धि होकर शारीरक

शब्द बनता है। इसका अर्थ है– 'कुत्सित शरीर में निवास करने वाला–जीवात्मा।' जिन सूत्रों में उस जीवात्मा के यथार्थस्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, उन्हें शारीरकसूत्र नाम दिया गया। इन सूत्रों की रचना महर्षि व्यास द्वारा की गयी है। इन्हीं का दूसरा नाम ब्रह्मसूत्र भी है।

सूत्रादीनि में प्रयुक्त आदि शब्द से अभिप्राय श्रीमद्भगवद्गीता एवं इसीप्रकार के अन्यग्रन्थों से लिया जाना चाहिए। जिनमें आत्म–तत्त्व का विवेचन किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता आत्मतत्त्व विवेचन करने वाला उत्कृष्टग्रन्थ माना गया है। इसमें वेदान्तस्वरूप उपनिषद् में प्रतिपादित दर्शन की ही पुष्टि एवं व्याख्या की गयी है। इस दृष्टि से इसे भी उपनिषदों का उपकारक कहा गया है। इसलिए वेदान्तदर्शन को भलीप्रकार समझने के लिए ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता आदि वेदान्तसिद्धान्त के प्रतिपादक ग्रन्थों का जिज्ञासु अथवा साधक को अवश्य अध्ययन करना चाहिए। ऐसा ग्रन्थकार का अभिप्राय स्वीकार किया जा सकता है।

(घ) उपर्युक्त खण्ड के तृतीय अंश में ग्रन्थकार प्रस्तावित 'वेदान्तसार' को वेदान्तदर्शन का प्रकरणग्रन्थ बताते हुए वेदान्त के सभी अनुबन्ध चतुष्टय को प्रस्तुतग्रन्थ पर भी लागू होने की बात कहते हुए, उन्हें पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं। इस प्रसङ्ग में प्रकरण एवं अनुबन्ध दो शब्द विशेष व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं–

(१) **प्रकरणग्रन्थ**–यदि किसी ग्रन्थ में शास्त्रविशेष के किसी एक भाग अथवा सिद्धान्त का विस्तृतविवेचन सरलतम रीति से प्रस्तुत किया जाता है तो वह ग्रन्थ उस शास्त्र का प्रकरणग्रन्थ कहलाता है। जैसे– नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों का सरलतम ढंग से प्रतिपादन करने वाला आचार्य धनञ्जय विरचित दशरूपकम् नामक ग्रन्थ। ठीक इसीप्रकार प्रस्तुत वेदान्तसार में भी वेदान्तदर्शन के सिद्धान्तों को सरलरूप में प्रतिपादित किया गया है। अतः इसे भी 'वेदान्त' का प्रकरणग्रन्थ कहा गया है।

(२) **अनुबन्ध**– कोई भी व्यक्ति ग्रन्थविशेष को देखने के पश्चात् इसप्रकार विचार करता है–(क) यह किस विषय का ग्रन्थ है? अर्थात् इसमें किस विषय का प्रतिपादन किया गया है। (ख) क्या मैं इस ग्रन्थ को पढ़ सकता हूँ अथवा क्या इसे पढ़ने का मैं अधिकारी हूँ, क्योंकि कोई भी व्यक्ति प्रत्येक विषय को पढ़ने तथा समझने में समर्थ नहीं हो सकता। (ग) इस पुस्तक में प्रतिपादितविषय तथा पुस्तक के नामकरण में क्या कोई

सम्बन्ध है अर्थात् क्या इस पुस्तक के नामकरण तथा इसमें प्रतिपादित विषय में कोई सीधा सम्बन्ध है? (घ) इस ग्रन्थ का अध्ययन करने से क्या मुझे कोई लाभ होगा? कहीं इस पुस्तक के अध्ययन से मेरा समय और शक्ति व्यर्थ तो नहीं होंगे?

इन चार बातों को ध्यान में रखकर ही कोई भी व्यक्ति किसी ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्त होता है। मनोनुकूलता होने पर ही वह ग्रन्थ को प्रारम्भ से अन्त तक रुचिपूर्वक पढ़ता है, उस पर चिन्तन करता है। इसीलिए कोई भी ग्रन्थकार ग्रन्थ के प्रारम्भ में इन चारों बातों का उल्लेख अवश्य करता है। इसीको शास्त्रीयभाषा में अनुबन्ध-चतुष्टय कहा जाता है। इसी बात को विद्वानों ने इसप्रकार प्रतिपादित किया है–

ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः।। (वाचस्पत्यम्)

वेदान्तदर्शन के मुख्यग्रन्थ ब्रह्मसूत्र आदि में अनुबन्धचतुष्टय का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है तथा प्रस्तुत 'वेदान्तसार' वेदान्तदर्शन का ही एक प्रकरणग्रन्थ है। इसलिए इनकी आपस में अनुबन्धवत्ता स्वतः सिद्ध होती है अर्थात् ब्रह्मसूत्र एवं वेदान्तसार के अनुबन्धचतुष्टय में लेशमात्र भी भेद नहीं है। ब्रह्मसूत्र के अनुबन्ध वेदान्तसार पर भी लागू होते हैं। अतः इनको पृथक्-पृथक् मानने का औचित्य नहीं है।

प्रस्तुतखण्ड के अन्तिम अंश में ग्रन्थकार अनुबन्धचतुष्टय का अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन के रूप में नामोल्लेख करके, अग्रिम खण्ड में उसे स्पष्ट करते हैं। जिसका विस्तृत विवेचन हम अग्रिम खण्ड की व्याख्या करते समय ही करेंगे।

विशेष– (1) 'वेदान्त' शब्द वेदान्तदर्शन के लिए प्रयुक्त हुआ है।

(2) 'उपकारक' से अभिप्राय व्याख्या करने वाले ग्रन्थों से ग्रहण करना चाहिए।

(3) ब्रह्मसूत्र वेदान्तदर्शन का उत्कृष्टग्रन्थ माना गया है जिसकी संरचना महर्षि व्यास ने की। इसी का अन्य नाम 'शारीरकसूत्र' भी है।

(4) वेदान्तसार की रचना आचार्य सदानन्द ने गद्यखण्डों के रूप में की है। सम्पूर्णग्रन्थ में कुल 37 गद्यखण्डों का प्रयोग हुआ है।

(5) अपने कथन की पुष्टि में ग्रन्थकार ने पदे-पदे श्रुतिवचनों (उपनिषद्वाक्यों) को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है। प्राचीनसमय में विषय प्रतिपादन की यही शैली रही है।

(6) प्रस्तुतखण्ड के तृतीय अंश में प्रयुक्त 'न ते पृथक् आलोचनीयाः' का अभिप्राय 'उन्हें अलग नहीं समझना चाहिए' करना उचित है, किन्तु कुछ विद्वानो ने 'उनकी अलग से व्याख्या उचित नहीं है' ऐसा अर्थ भी किया है।

(7) प्रस्तुत अंश के अन्तिमचरण में प्रयुक्त 'तत्र' पद के व्याख्याकारों में विद्वन्मनोरञ्जिनीकार ने इसका वेदान्तशास्त्र अर्थ किया है, जबकि कुछ अन्य विद्वान् इसे 'अनुबन्ध के सम्बन्ध में' प्रयुक्त मानते हैं।

(8) यहाँ प्रयुक्त 'नाम' पद 'वस्तुतः' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है।

(9) उपर्युक्त खण्ड के अभिप्राय को हम इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र-२०

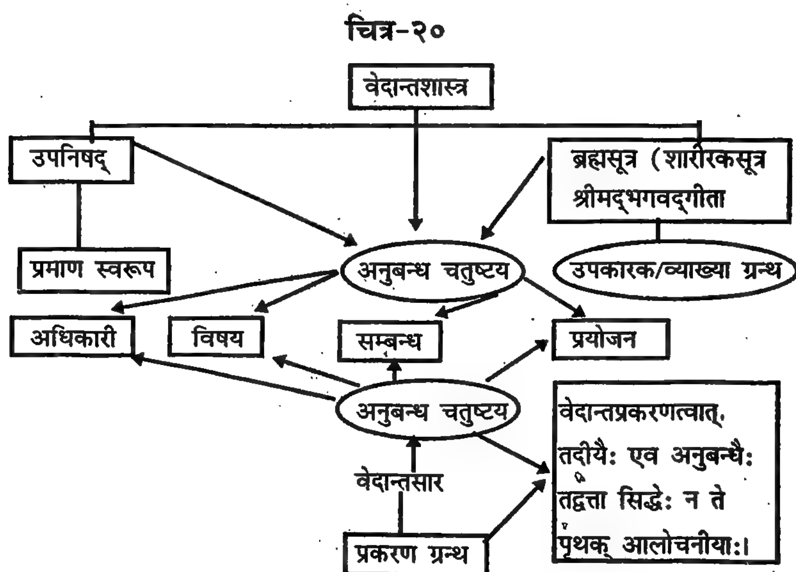

अवतरणिका–वेदान्तसार एवं वेदान्तशास्त्र के अनुबन्ध-चतुष्टय के ऐक्य प्रतिपादनपूर्वक आचार्य सदानन्द, अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन इस अनुबन्ध का नाम संकीर्तन करने के बाद प्रस्तुतखण्ड में प्रथम अनुबन्ध अधिकारी की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं–

अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिल-वेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्य-

नैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्त-निर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता।

पदच्छेद–अधिकारी तु विधिवत्-अधीन-वेद-वेदाङ्गत्वेन आपातत: अधिगत अखिल वेदार्थ:, अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा, काम्य-निषिद्ध-वर्जन पुर:सरम्, नित्य-नैमित्तिक- प्रायश्चित्त-उपासना-अनुष्ठानेन, निर्गत-निखिल कल्मषतया, नितान्त-निर्मल-स्व-अन्त:, साधन-चतुष्टय-सम्पन्न: प्रमाता।

अनुवाद– अधिकारी तो वस्तुत: (वह) जिज्ञासु (प्रमाता) है, जिसने वेद-वेदाङ्गों का विधिपूर्वक अध्ययन करके सम्पूर्णवेदों के अभिप्राय को भलीप्रकार जान लिया है। इस जन्म में अथवा पूर्वजन्म में, कामनाओं को पूर्ण करने वाले काम्यकर्म तथा शास्त्रों द्वारा निषेध किए गए कर्मों को छोड़ने के साथ-साथ, नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त और उपासनाकर्मों के अनुष्ठान से, सम्पूर्णपापों (कल्मषता) से मुक्त, अत्यधिक निर्मल अन्त:करण वाला होकर साधन-चतुष्टय को अपना लिया है।

'चन्द्रिका'– वस्तुत: वेदान्तशास्त्र का अध्ययन करने का अधिकारी केवल वही जिज्ञासु व्यक्ति हो सकता है जिसने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदादि संहिता ग्रन्थों तथा इनके ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों का गहन अध्ययन करने के साथ-साथ, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष इन छ: वेदाङ्गों का गुरुमुख से विधिवत् ज्ञान प्राप्त किया हो। परिणामस्वरूप वेदों में प्रतिपादित अभिप्राय को हृदयंगम कर लिया हो। इसप्रकार वेदों का विस्तृत एवं गहन अध्ययन सम्भव है, व्यक्ति एक जन्म में पूर्णरूप से न कर सके अथवा अधिकारी बनने की योग्यता के लिए यदि व्यक्ति के लिए एक जन्म पर्याप्त न हो तो यह कार्य वह अनेकजन्मों में भी निष्पादित कर सकता है।

इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि इस वर्तमान जन्म में अथवा पूर्व जन्मों में जिस साधक ने अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के साधनस्वरूप जितने भी काम्यकर्म हैं तथा हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि एवं आचार्यों द्वारा लिखे गए शास्त्रों में जिन कर्मों का निषेध किया गया है अर्थात् जिन्हें करने से पाप अथवा नरक की प्राप्ति होती है, ब्रह्महत्या आदि ऐसे निषिद्धकर्मों का भी जिसने परित्याग कर दिया हो, ऐसा प्रमाता ही वेदान्तशास्त्र के अध्ययन का अधिकारी हो सकता है।

ग्रन्थकार ने यहाँ तक प्रमाता के लिए दो बातों पर अधिक जोर दिया प्रथम, वेद-वेदाङ्गों का गुरुमुख से विधिपूर्वक गहन अध्ययन, द्वितीय, काम्य

एवं निषिद्धकर्मों का परित्याग। तत्पश्चात् उसके द्वारा किए जाने वाले उन कर्मों का उल्लेख करते हैं जिनके करने से उस जिज्ञासु का अन्तःकरण पूर्णतया पापरहित होकर नितान्तनिर्मल हो जाता है। इस क्रम में नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त और उपासन चार कर्मों के करने का प्रावधान किया गया है।

(१) **नित्यकर्म–** वे कहलाते हैं जिनके करने से विशेष पुण्य की प्राप्ति न हो, किन्तु न करने से हानि अवश्य होती हो। जैसे–दन्तधावन, स्नान करने या घर में झाड़ू लगाने से कोई विशेष पुण्य नहीं होता है, किन्तु इनके न करने से घर में कूड़ा बढ़ने, शरीर पर मैल की वृद्धि होने से स्वास्थ्य विषयक हानि अवश्य होती है। इसीप्रकार व्यक्ति दिनभर जाने-अन्जाने अनेक पापकर्म करता है, वे एकत्रित होकर हानिकर न हों, इसके लिए किए गए सन्ध्यावन्दन आदि कर्म भी नित्यकर्मों की श्रेणी में ही परिगणित हैं।

(2) किसी निमित्तविशेष को मानकर किए गए कर्म **नैमित्तिक** कहलाते हैं। जैसे–पुत्र आदि के उत्पन्न होने पर किए गए जातेष्टियज्ञ अथवा ग्रहण आदि के अवसर पर किया गया स्नान, नैमित्तिककर्म की कोटि में आता है।

(3) जाने अन्जाने किए गए पापों के प्रक्षालन के लिए प्रायश्चित्त स्वरूप किए गए कर्म चान्द्रायण व्रतादि **प्रायश्चित्त** कर्मों की श्रेणी में माने गए हैं। शास्त्रों की ऐसी मान्यता है कि इन कर्मों को करने से व्यक्ति पापमुक्त हो जाता है।

(4) सम्पूर्ण चराचरजगत् को उस परमब्रह्म परमात्मा का स्वरूप मानकर चित्त की एकाग्रता के लिए अत्यन्त आदरभाव से जो प्रयास किए जाते हैं, उन्हें दार्शनिकभाषा में **उपासनकर्म** कहते हैं। इस क्रम में साधक वस्तुतः अपने आराध्यदेव का सगुणरूप में चिन्तन करते हुए इधर-उधर भटकते हुए अपने मन को एक स्थान पर लगाता है। छान्दोग्योपनिषद् में आचार्य शाण्डिल्य ने इस विद्या का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। इसीकारण इस विद्या को उनके नाम से "शाण्डिल्य-विद्या" के रूप में जाना जाता है।

नित्य, नैमित्तिक एवं प्रायश्चित्तकर्मों द्वारा साधक की बुद्धि की शुद्धि होती है तथा उपासनकर्मों से चित्त की एकाग्रता में वृद्धि होती है। इसलिए साधक को अनिवार्यरूप से इन कर्मों को करना चाहिए, तभी वह इस शास्त्र के अध्ययन का अधिकारी होता है। यद्यपि नित्य, नैमित्तिक एवं उपासन-कर्मों द्वारा पितृलोक तथा सत्यलोकादि की प्राप्ति भी होती है तथापि इनका

मुख्य अभिप्राय यहाँ बुद्धि की शुद्धि तथा चित्त की एकाग्रता ही माना गया है।

प्रस्तुत खण्ड के अन्त में ग्रन्थकार अधिकारी के लिए अन्तिम शर्त 'साधनचतुष्टयसम्पन्न होना' की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हैं। यहाँ 'साधनचतुष्टय' से अभिप्राय (1) नित्य अनित्यवस्तुविवेक (2) ऐहिक एवं पारलौकिक फलों के प्रति वैराग्यभावना (3) शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा आदि छः प्रकार की सम्पत्ति तथा (4) मोक्षप्राप्ति के लिए प्रबल इच्छा से है। इन चार प्रकार के साधनों से सम्पन्न प्रमाता ही इस शास्त्र के अध्ययन का अधिकारी हो सकता है, ऐसा आचार्य सदानन्द प्रतिपादित करते हैं।

इनमें प्रथम, **नित्य-अनित्य वस्तुविवेक** से अभिप्राय उस निश्चयात्मक चिन्तन से है, जिसमें प्रमाता एकमात्र परमब्रह्म को नित्य सत्ता वाला तथा उसके अतिरिक्त समस्त दृश्यमानपदार्थों को अनित्य मानता है। द्वितीय, **विराग**–इस संसार में कर्म द्वारा प्राप्त होने वाली भोग-विलास विषयक सामग्री, जिनमें हम असीम आनन्द का अनुभव करते हैं, कर्मजन्य होने से अनित्य हैं, क्योंकि जो वस्तु हमें आज दिखायी दे रही है, वही कल नष्ट हो जाती है। इसीप्रकार यज्ञादिकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले स्वर्ग आदि भी अनित्य ही हैं, क्योंकि पुण्य के विद्यमान रहने तक ही व्यक्ति स्वर्ग में रह सकता है। उसके बाद उसे पुनः पृथ्वीलोक पर ही जन्म लेना पड़ता है (क्षीणे पुण्ये निवर्तते मृत्युलोके)। इस दृष्टि से इहलौकिक एवं पारलौकिकसुखों के प्रति वैराग्य की भावना रखना श्रेयष्कर है।

तृतीय–शमादि षटकसम्पत्ति में **शम** से अभिप्राय है जिसप्रकार भूख-प्यास से व्याकुल व्यक्ति का मन बार-बार अन्न एवं जल की ओर जाता है। ठीक उसीप्रकार श्रवण, मनन इत्यादि को छोड़कर अन्य सांसारिक विषयों की ओर बार-बार दौड़कर जाते हुए मन को विशेषप्रकार की अन्तःकरणवृत्ति द्वारा रोका जाना ही 'शम' है। **दम**– चक्षुश्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को ब्रह्मसाक्षात्कार के साधनस्वरूप श्रवण-मनन आदि से व्यतिरिक्त विषयों में जाने से रोकना ही दम है। दूसरे शब्दों में बाह्य इन्द्रियों को सांसारिकविषयों की ओर जाने से नियन्त्रित करना ही दम है।

इसीप्रकार शास्त्रों द्वारा बताए गए नित्य, नैमित्तिक कर्मों का शास्त्रोक्त विधि द्वारा परित्याग करना **उपरति** है। शरीर का धर्म समझकर सर्दी-गर्मी

को सहन कर लेना **तितिक्षा** कहलाता है। वश में किए हुए मन को ब्रह्म साक्षात्कार के साधनस्वरूप श्रवण, मनन आदि को उसके अनुरूप विषयों में लगाना ही **समाधि** है। साथ ही गुरु द्वारा उपदिष्टवाक्यों में अगाध विश्वास रखना ही **श्रद्धा** माना गया है। इसके बिना ब्रह्मप्राप्ति लगभग असम्भव ही है। इस छः प्रकार की सम्पत्ति से सम्पन्न प्रमाता ही इस शास्त्र के अध्ययन का अधिकारी हो सकता है।

उपर्युक्त साधनत्रय के अतिरिक्त एक अन्य साधन मोक्ष की प्राप्ति के प्रति प्रबल इच्छा होना, भी ग्रन्थकार ने अधिकारी के लिए आवश्यक माना है, क्योंकि मोक्षेच्छा के अभाव में व्यक्ति की इस शास्त्र में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। ब्रह्मज्ञान उसके लिए व्यर्थ होगा। इसप्रकार वेदवेदाङ्गों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने वाला प्रमाता, काम्य एवं निषिद्धकर्मों का परित्याग करके नित्य, नैमित्तिक आदि कर्मों के अनुष्ठान द्वारा, पूर्णतया पवित्र, निर्मलचित्त सम्पन्न होकर नित्य-अनित्य वस्तुविवेक आदि साधन-चतुष्टय से समृद्ध होकर ही इस शास्त्र के अध्ययन का अधिकारी हो सकता है।

विशेष-(1) प्रस्तुत खण्ड में ग्रन्थकार ने अनुबन्धचतुष्टय के प्रथम अनुबन्ध 'अधिकारी' होने के लिए अनिवार्य योग्यताओं का उल्लेख अत्यन्त संक्षेप में किया है।

(2) ग्रन्थकार ने यहाँ वेदवेदाङ्गों के 'विधिवत्' गुरुमुख से अध्ययन करने पर विशेषबल दिया है। उसके अभाव में वेदों के ज्ञान को प्राप्त करना असम्भव है, ऐसी व्यञ्जना से प्रतीति हो रही है।

(3) प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने 'अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा' कहकर पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की है। इस सम्बन्ध में शूद्रादासी के गर्भ से उत्पन्न महात्मा विदुर को उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, जिन्होंने पूर्वजन्म के सञ्चितकर्मों के फलस्वरूप तत्त्वदर्शी ज्ञानी के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की।

(4) निर्गतानि निखिलानि कल्मषानि यस्य सः, निर्गतनिखिल कल्मषः तस्य भावः (भावे तल्) निर्गत निखिल कल्मषता तया। तृतीया विभक्ति, एकवचन,

(5) तत्त्वज्ञान के लिए चित्त की निर्मलता की अनिवार्य आवश्यकता प्रतिपादित की गई है। रागद्वेष आदि वासनारूपी कल्मष के निकलने पर ही व्यक्ति का चित्त शुद्ध होता है।

(6) प्रस्तुत गद्यांश में ग्रन्थकार ने उनके समय में विद्यमान कर्मकाण्ड एवं भक्तिकाण्ड के अनुनायियों में समन्वय करने का श्लाघनीय प्रयास किया है।

(7) साधनचतुष्टयसम्पन्नः– साधनानां चतुष्टयं इति साधनचतुष्टयं तेन सम्पन्नः।

(8) साधन चतुष्टय से अभिप्राय– नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थ-फलभोगविराग, शमादिषट्कसम्पत्ति तथा मुमुक्षत्व इत्यादि चार साधनों से है, जिनकी ग्रन्थकार ने आगे विस्तृत व्याख्या की है।

(9) वेदान्त के अधिकारी के लिए साधनचतुष्टयसम्पन्न होने की अनिवार्यता प्रतिपादित की गई है।

(10) यहाँ प्रयुक्त 'जन्मान्तरे' से पूर्वजन्म और आगे आने वाला जन्म दोनों अर्थों का ग्रहण किया जा सकता है।

(11) प्रस्तुत गद्यखण्ड के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

चित्र–२१

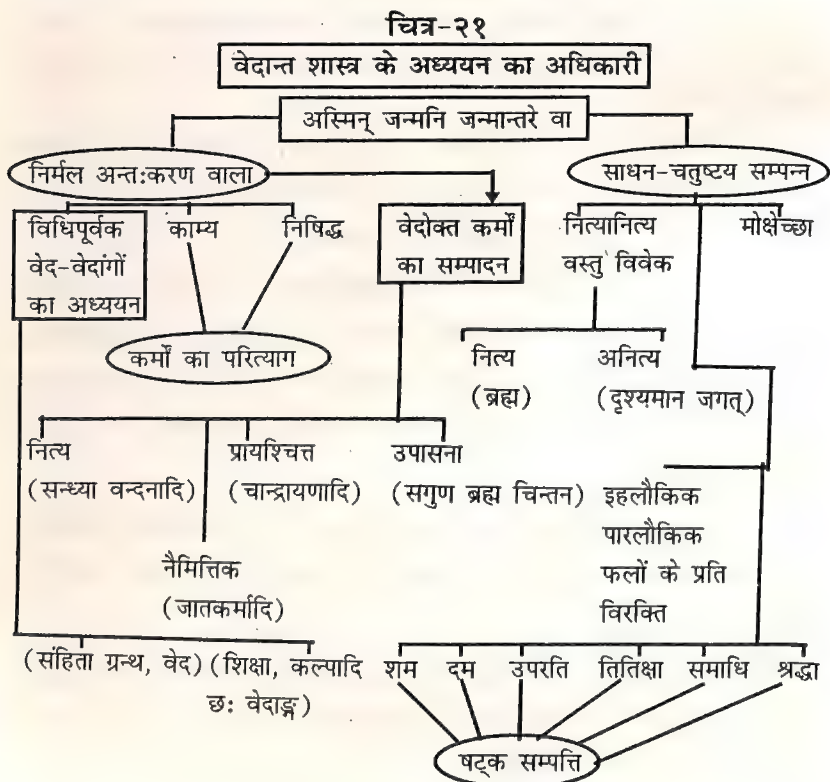

अवतरणिका– तत्पश्चात् काम्य, निषिद्ध, नित्य-नैमित्तिक आदि कर्मों की सोदाहरण व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार क्रमशः इन कर्मों के परित्याग एवं आचरण के मुख्य एवं गौण फलों का कथन करते हैं–

काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि। निषिद्धानि नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि। नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि। नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि। प्रायश्चित्तानि पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि। उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि। एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परं प्रयोजनमुपासनानां तु चित्तैकाग्र्यं "तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादिश्रुतेः "तपसा कल्मषं हन्ति" इत्यादि स्मृतेश्च। नित्यनैमित्तिक-प्रायश्चित्तोपासनानां त्ववान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः "कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक" इत्यादि-श्रुतेः।

पदच्छेद–काम्यानि-स्वर्गादि इष्टसाधनानि, ज्योतिष्टोम-आदीनि। निषिद्धा-नि नरकादि अनिष्टसाधनानि, ब्राह्मणहनन-आदीनि। **नित्यानि**-अकरणे प्रत्यवायसाधनानि, सन्ध्यावन्दन-आदीनि। **नैमित्तिकानि** पुत्र जन्मादि अनुबन्धीनि, जातेष्टि-आदीनि। **प्रायश्चित्तानि**-पाप-क्षय साधनानि चान्द्रायण-आदीनि। **उपासनानि**-सगुणब्रह्मविषय-मानस-व्यापाररूपाणि, शाण्डिल्यविद्या-आदीनि।

एतेषां नित्यादीनाम्-बुद्धि-शुद्धिः परम् प्रयोजनम्। उपासनानाम्-तु चित्त-एकाग्र्यम्। "तम् एतम् आत्मानम् वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादि श्रुतेः।[1] "तपसा कल्मषम् हन्ति" इत्यादि स्मृतेः च।[2]

नित्य-नैमित्तिक-प्रायश्चित्त उपासनानाम् तु अवान्तर-फलम् पितृलोक-सत्यलोक-प्राप्तिः "कर्मणा पितृलोकः विद्यया देवलोकः" इत्यादि-श्रुतेः।[3]

अनुवाद–स्वर्ग आदि कामनाओं के साधनस्वरूप ज्योतिष्टोमयाग आदि काम्यकर्म हैं। नरक आदि अनिष्ट के साधनरूप ब्राह्मणहनन आदि निषिद्धकर्म हैं। जिनके न करने पर भविष्य में दुःख की सम्भावना हो,

1. बृहदारण्यकोपनिषद्- 4.4.22
2. मनुस्मृति-12.104
3. बृहदा. 1.5.16

सन्ध्यावन्दन आदि नित्यकर्म हैं। पुत्रजन्म के अवसर पर किए जाने वाले जातेष्टियज्ञ आदि नैमित्तिककर्म हैं। पाप के प्रक्षालन हेतु किए जाने वाले चान्द्रायणव्रत आदि प्रायश्चित्तकर्म हैं। (इसीप्रकार) मन की वृत्ति को स्थिर करने के लिए सगुण ब्रह्मविषयक मानसिकव्यापाररूप शाण्डिल्यविद्या आदि उपासनकर्म हैं।

इन कर्मों में नित्य आदि कर्मों के अनुष्ठान का मुख्यप्रयोजन बुद्धि की शुद्धि करना है, जबकि उपासनकर्मों का (परम प्रयोजन) चित्त को एकाग्र करना है। 'उस इस आत्मा को ब्राह्मण लोग वेदों में प्रतिपादित वचनों एवं यज्ञ द्वारा जानने की इच्छा करते हैं', इत्यादि श्रुतिवचन तथा "तप द्वारा पाप को विनष्ट करता है" इत्यादि स्मृतिवचन (इस सम्बन्ध में) प्रमाण हैं।

नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त एवं उपासनकर्मों का गौणफल तो (उनके द्वारा) पितृलोक एवं सत्यलोक की प्राप्ति ही है। 'कर्म द्वारा पितृलोक एवं विद्या (उपासन) द्वारा सत्यलोक की प्राप्ति होती है" इत्यादि श्रुतिवचन भी हैं।

'चन्द्रिका'– (१) काम्यकर्म–फलविशेष की प्राप्ति की कामना से किया गया कर्म 'काम्य' कहलाता है। यह कामना अथवा इच्छा दो प्रकार की होती है। इस पृथ्वीलोक पर प्राप्त होने वाली उपभोगसामग्री को प्राप्त करने की इच्छा तथा स्वर्ग आदि परलोकविषयक सुखों को प्राप्त करने की इच्छा अथवा कामना, किन्तु यहाँ ग्रन्थकार ने लौकिकसुख-सामग्री की प्राप्ति की बात न करके स्वर्गादि कामनाओं के साधनरूप ज्योतिष्टोमयाग आदि को काम्यकर्म के रूप में प्रतिपादित करके वेदान्त के अधिकारी के लिए उन्हें भी न करने का निषेध किया है, क्योंकि जहाँ एक ओर लौकिक सुख साधनों को प्राप्त करने के लिए किए गए काम्यकर्म मोक्षप्राप्ति में बाधक होने से त्याज्य हैं। वहीं दूसरी ओर स्वर्गादि प्रदान करने वाले ज्योतिष्टोम-यागादि काम्यकर्म भी मोक्षप्राप्ति के मार्ग में बाधक होने से हेय हैं। अतः त्याग करने योग्य हैं, क्योंकि ज्योतिष्टोमयागादि के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला पुण्य समाप्त होने पर व्यक्ति को पुनः इसी मृत्युलोक में आना पड़ता है। अतः निषिद्धकर्मों के समान ही वे भी बन्धन का कारण होने से वेदान्त-विद्या के अधिकारी होने में वर्ज्य हैं।

(२) निषिद्ध-कर्म–अनेकबार मनुष्य अपने जीवन में स्वार्थवश अथवा अज्ञानवश ऐसे कर्म करता है, जो उसे नरक जैसी अनिष्ट स्थितियों में

डालने वाले होते है। इसप्रकार के कर्मों को शास्त्रों में निषिद्धकर्म कहा गया है। जैसे–गोहत्या, ब्राह्मणहत्या आदि। धर्मशास्त्रों में सुरापान को भी महापातक होने से निषिद्धकर्मों में परिगणित किया गया है। ग्रन्थकार के अनुसार वेदान्त के अधिकारी को निषिद्धकर्मों से सदैव दूर रहना चाहिए।

इसप्रकार काम्य एवं निषिद्धकर्मों को परिभाषित करने के पश्चात् आचार्य सदानन्द वेदान्त के अधिकारी द्वारा करने योग्य नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त एवं उपासनकर्मों की क्रमशः सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

(क) नित्य-कर्म–ऐसे कार्य जिनके करने से विशेषपुण्य भले ही प्राप्त न हो, किन्तु न करने पर हानि अवश्य हो, नित्यकर्म कहलाते हैं। जैसे–संध्यावन्दन, दन्तधावन, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ एवं पितृयज्ञ पञ्चमहायज्ञ आदि, प्रतिदिन स्नान, शौच, दन्तधावन, घर साफ करना आदि भी नित्यकर्म की श्रेणी में माने गए हैं। वेदान्त के अधिकारी के लिए इन्हें प्रतिदिन करने की अनिवार्यता प्रतिपादित की गई है।

(ख) नैमित्तिक-कर्म– विद्वन्मनोरञ्जिनीकार के अनुसार–"निमित्तमात्र-मासाद्यावश्यकर्त्तव्यतया विहितानि नैमित्तिकानि।" अर्थात् किसी कारणविशेष को प्राप्त कर 'इसे तो अवश्य ही करना होगा' इस भावना से शास्त्रों द्वारा अनुमोदितकर्म ही नैमित्तिककर्म कहलाते हैं। जिसप्रकार पुत्रादि की उत्पत्ति के अवसर पर शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट जातेष्टियज्ञ आदि। वेदान्त के अधिकारी के लिए नैमित्तिककर्मों का करना भी आवश्यक बताया गया है।

(ग) प्रायश्चित्त-कर्म–व्यक्ति अनेकशः स्वार्थवश जानबूझकर अथवा अज्ञानवश परिस्थितिविशेष में शास्त्रों द्वारा बताए गए कार्यों को नहीं कर पाता है या शास्त्रों द्वारा निषिद्धकार्यों को कर बैठता है, जिससे उसे पाप का भागी होना पड़ता है। उस पाप से छुटकारा प्राप्त करने के लिए शास्त्रों ने चान्द्रायणव्रत आदि प्रायश्चित्तकर्मों का विधान किया है। जिनका उल्लेख ग्रन्थकार ने 'पाप-क्षय साधनानि 'कहकर किया है। विद्वन्मनोरञ्जिनीकार ने इन्हें इसप्रकार परिभाषित किया है–

"विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवारूपनिमित्तविशेषानुबन्धीनि प्रायश्चित्तानि"

(घ) उपासन-कर्म–बार-बार सांसारिकविषयों में भटकने वाले मन को अपने आराध्यदेव सगुणब्रह्म में चिन्तनपूर्वक स्थिर करना ही उपासनकर्म कहलाता है। आचार्य शाण्डिल्य ने इस विधा पर विस्तारपूर्वक छान्दोग्योपनिषद् में विवेचन किया है। अतः इसे उन्हीं के नाम से जाना

जाता है। इसीकारण आचार्य सदानन्द ने उपासनकर्म के उदाहरणरूप में 'शाण्डिल्यविद्या' का विशेषरूप से उल्लेख किया है।

यहाँ तक अकरणीय-करणीय कर्मों का उल्लेख करने के पश्चात् श्रुति स्मृतिवचनों को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार नित्य आदि कर्मों के अनुष्ठान के मुख्यप्रयोजन का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि–

उपर्युक्त नित्य, नैमित्तिक एवं प्रायश्चित्तकर्मों के अनुष्ठान का मुख्य प्रयोजन बुद्धि की शुद्धि है, अर्थात् करणीय इन तीन प्रकार के कर्मों के करने से साधक की बुद्धि निर्मल होती है। इससे उसके मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। जबकि उपासनकर्म का मुख्यप्रयोजन ब्रह्म का सायुज्य प्राप्त करने के लिए चित्त को एकाग्र करना है। अपनी बात की पुष्टि के लिए ग्रन्थकार ने बृहदारण्यकोपनिषद् एवं मनुस्मृति के वचनों को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है।

उपनिषद्कार का कथन है कि इस आत्मतत्त्व को ब्रह्मवेत्ता एवं जिज्ञासु वेदों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का अध्ययन, मनन एवं चिन्तन करके तथा यज्ञ विषयक क्रियाओं को विधिवत् निष्पादित करके, जानने की इच्छा करते रहते हैं। इसीप्रकार प्रसिद्ध स्मृतिकार आचार्य मनु ने कहा कि–

''तप का आचरण करने से व्यक्ति के कल्मष अर्थात् पाप विनष्ट हो जाते हैं। पापों से सर्वथा मुक्त होकर साधक आत्म-सायुज्य को प्राप्त करने का अधिकारी होता है। जो उसकी उत्कृष्टस्थिति का परिचायक है।''

प्रस्तुत अंश के अन्तिम चरण में ग्रन्थकार ने नित्य-नैमित्तिक-प्रायश्चित्त कर्मों का गौणप्रयोजन, उनके द्वारा पितृलोक की प्राप्ति तथा उपासनकर्मों के गौणप्रयोजन के रूप में सत्यलोकों की प्राप्ति का कथन करते हुए उपनिषद्कार के वचनों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है–"कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक" अर्थात् व्यक्ति कर्म द्वारा पितृलोक तथा विद्या द्वारा देवलोकों को प्राप्त करता है। यहाँ विद्या का अभिप्राय उपासनकर्म से ही ग्रहण करना चाहिए। इन लोकों की प्राप्ति से तात्पर्य साधक की आत्मिक उन्नति से ही लेना चाहिए।

विशेष–(१) ज्योतिष्टोमयाग–'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रुतिवचन के अनुसार यह याग स्वर्ग प्रदान करने वाला माना गया है। ज्योतिस्+स्तोम शब्द का अभिप्राय है–अग्नि की स्तुति।

(2) वेदान्त साधक के लिए स्वर्ग को भी हेय मानता है, क्योंकि स्वर्गप्राप्ति जीव का मोक्ष नहीं है। स्वर्ग में व्यक्ति पुण्यों के विद्यमान रहने

तक ही रह सकता है, उनके क्षीण होने पर उसे पुनः पृथ्वी पर ही जन्म लेना पड़ता है।

(3) उत्तरवेदान्ती नित्यकर्मों द्वारा व्यक्ति के पूर्व पापों का क्षय स्वीकार करते हैं।

(4) जातेष्टियज्ञ से अभिप्राय पुत्र जन्म के अवसर पर पिता द्वारा किए गए जातकर्म संस्कार से हैं।

(5) चान्द्रायण—एक उपवास को कहा गया है, जिसमें चन्द्रमा की वृद्धि एवं क्षय के अनुसार भोजन की मात्रा (ग्रास) को बढ़ाया घटाया जाता है।

(6) परमं प्रयोजनम् में 'परम' विशेषण का प्रयोग अन्य प्रयोजन की अपेक्षा इसकी महत्ता प्रदर्शित करने के लिए इसकी मुख्यता प्रतिपादित करने के लिए किया गया है।

(7) विविदिषन्ति—वेत्तुं इच्छन्ति इति। √विद्+सन्+लट्, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

(8) सत्यलोक— भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः एवं सत्यम्। इन सात उर्ध्वलोकों में सर्वोपरि स्थित लोक, किन्तु इससे मोक्ष अभिप्राय ग्रहण नहीं करना चाहिए।

(9) साधक नित्य, नैमित्तिक एवं प्रायश्चित्तकर्मों द्वारा पितृलोक तथा उपासनकर्म द्वारा सत्यलोक को प्राप्त करता है।

(10) उपासनकर्म में साधक सगुणब्रह्म का चिन्तन करते हुए अपने चित्त को एकाग्र करता है।

(11) शाण्डिल्यविद्या—छान्दोग्योपनिषद् 3.14 में आया हुआ प्रकरण विशेष, जिसमें सगुणोपासना का विस्तृत वर्णन हुआ है।

(12) अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को दबाकर परमब्रह्म परमात्मा की आकृति, विशेष की परिकल्पना करते हुए, उसका ध्यान करना ही उपासना है।

(13) प्रधान और गौणभाव को उदाहरण द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं। एक वृक्ष को लगाने का प्रधान प्रयोजन फलप्राप्ति, किन्तु गौणप्रयोजन छाया एवं काष्ठ आदि भी प्राप्त करना होता है।

(14) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है—

चित्र-२२

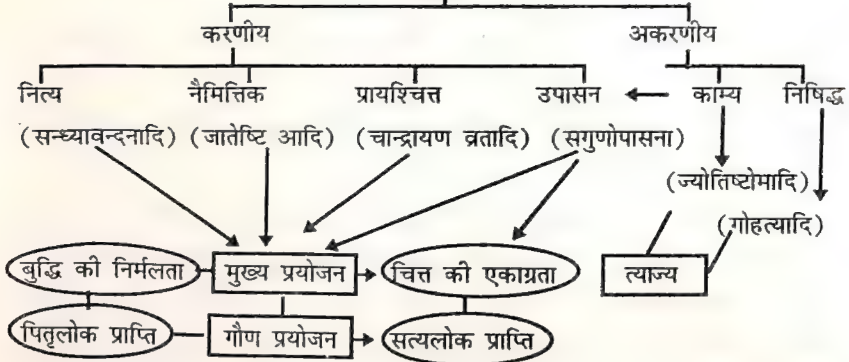

अवतरणिका– अधिकारी प्रमाता के लिए करणीय अकरणीय कार्यों का उल्लेख करने के बाद आचार्य सदानन्द उसके लिए साधन-चतुष्टय का नाम संकीर्तन करके प्रथम दो साधन-नित्य-अनित्यवस्तुविवेक' तथा इह 'अमुत्रार्थफलभोगविराग' की व्याख्या करते हुए कहते हैं–

साधनानि नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविरागशमादिषट्क-सम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि। नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद्ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यद- खिलमनित्यमिति विवेचनम्। ऐहिकानां स्रक्चन्दन-वनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतयाऽनित्यत्ववदामुष्मिकाणामप्यमृतादि-विषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिरिहामुत्रार्थफलभोगविरागः।

पदच्छेद– साधनानि नित्य-अनित्यवस्तुविवेक-इह-अमुत्रार्थ-फलभोग-विराग-**शमादि**-षट्क-सम्पत्ति-**मुमुक्षुत्वानि**। नित्य-अनित्य-वस्तुविवेकः तावत्-ब्रह्म-एव नित्यम् वस्तु, ततः अन्यत् अखिलम् अनित्यम्, इति विवेचनम्।

ऐहिकानाम् स्रक्-चन्दन-वनिता-आदि-विषयभोगानाम् कर्मजन्यतया अनित्यवत्, आमुष्मिकाणाम् अपि अमृतादि विषय-भोगानाम् अनित्यतया, तेभ्यः नितराम् विरतिः, इह-अमुत्रार्थ-फलभोगविरागः।

अनुवाद–नित्य एवं अनित्यवस्तु का विवेक, इहलौकिक एवं पारलौकिक फल को भोगने के प्रति वैराग्य, शम (दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा) आदि छः प्रकार की सम्पत्ति तथा मोक्षप्राप्ति के प्रति इच्छा ये (चार) साधन हैं। (इनमें एकमात्र)–'ब्रह्म ही नित्य वस्तु है, उसके

अतिरिक्त अन्य सभी कुछ अनित्य है; इसप्रकार समझना ही नित्य-अनित्य वस्तुविवेक है।

इस लोक की माला, चन्दन, सुन्दरी आदि (सम्पूर्ण) भोगविलास-विषयक सामग्री कर्म द्वारा उत्पन्न होने के कारण अनित्य के समान हैं। इसीप्रकार पारलौकिक स्वर्ग आदि विषयभोगों के कर्मजन्य होने से अनित्य होने के कारण उनके प्रति भी नितान्त वैराग्यभाव ही 'इहामुत्रार्थफलभोग विराग' है।

'चन्द्रिका'–काम्य और निषिद्धकर्मों का परित्याग करके नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त और उपासनकर्मों के अनुष्ठानपूर्वक बुद्धि की शुद्धि तथा चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करते हुए साधक निर्मल अन्तःकरण द्वारा चार साधनों के माध्यम से वेदान्त के अध्ययन का पूर्ण अधिकारी बन जाता है। सर्वप्रथम ग्रन्थकार उन चार साधनों का उल्लेख करते हैं–

(1) नित्य-अनित्य वस्तु का विवेक

(2) इस लोक एवं परलोकविषयक भोगों के फल को भोगने के प्रति वैराग्यभाव।

(3) शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा इन छः प्रकार की सम्पत्ति से सम्पन्न होना।

(4) मोक्ष की प्रबल इच्छा का होना।

इन्हीं चारों को वेदान्तदर्शन में साधन-चतुष्टय के नाम से भी जाना जाता है। तत्पश्चात् ग्रन्थकार इनमें से प्रथम दो की व्याख्या करते हैं–

(१) नित्य-अनित्यवस्तुविवेक– निर्मलबुद्धि साधक अपने विवेक द्वारा इस निश्चयात्मकज्ञान को प्राप्त करता है कि स्थान एवं समय आदि की सीमाओं में आबद्ध होने वाला, प्रलयकाल में भी सदैव विद्यमान रहने वाला 'ब्रह्म' ही एकमात्र नित्यतत्त्व है। इस बात की पुष्टि में उसे अनेक श्रुतिवाक्य देखने को मिलते हैं। जैसे– मुण्डकोपनिषद् का यह कथन–'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्।'[1] कठोपनिषद् में उद्धृत यह उक्ति–'अजो नित्यः शाश्वतः।[2] इसीप्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् का यह वाक्य–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'।[3]

---

1. मुण्कोपनिषद्–1.1.6
2. कठोपनिषद्–2.18
3. तैत्तिरीयोपनिषद्–2.1

अत: इन सभी प्रमाणों के आधार पर प्रमाता यह निश्चय कर लेता है कि एकमात्र परमब्रह्म ही नित्य है। उस एकमात्र नित्यवस्तु के अतिरिक्त जो भी दिखायी देने वाले अथवा न दिखायी देने वाले जगत् के पदार्थ हैं, वे सभी काल एवं स्थान की सीमाओं में आबद्ध होने के कारण अर्थात् जन्म लेने एवं विनष्ट होने के कारण अनित्य हैं। अपने इस चिन्तन की पुष्टि में भी उसे अनेक श्रुतिप्रमाण उपलब्ध होते हैं। जैसे– ऐतरेयोपनिषद् का यह कथन–'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किञ्चनमिषत्'[1] इसीप्रकार छान्दोग्योपनिषद् में यह उक्ति–'यो वै भूमा तदमृतम्, यदल्पं तन्मर्त्यम्।[2]

इसप्रकार नित्य-अनित्यवस्तुविषयक दृढ़निश्चयात्मक यह ज्ञान होना उस प्रमाता के लिए प्रथम साधन है, क्योंकि इस निश्चय के पश्चात् ही वह अग्रिम सीढ़ी, इसलोक एवं परलोकविषयक फल के भोगने के प्रति वैराग्य की भावना धारण करने में समर्थ हो पाता है।

(२) इहामुत्रार्थफलभोग विराग–यहाँ प्रयुक्त 'इह' से अभिप्राय इस समस्त दृश्यमानजगत् अर्थात् पृथ्वीलोक से है। इस पृथ्वीलोक में कर्म करने के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले माला, चन्दन, स्त्री आदि सुन्दर एवं सुगन्धितपदार्थ, जिनमें सामान्यरूप से सांसारिकव्यक्ति आनन्द एवं गर्व का अनुभव करता है। सुन्दरभवन, मोटर-गाड़ी, नौकर-चाकर आदि में सुख की अनुभूति करता है। उन सब इहलौकिक पदार्थों के प्रति अनित्यता की भावना को धारण करके, प्रमाता द्वारा वैराग्य ग्रहण करना ही 'इहफलभोगविराग' कहलाता है।

ठीक इसीप्रकार यहाँ प्रयुक्त 'अमुत्र' से अभिप्राय 'स्वर्गादि परलोक' से ग्रहण करना चाहिए। व्यक्ति सोमयाग आदि उत्कृष्टकर्मों को करके, स्वर्गादि श्रेष्ठलोकों को प्राप्त कर लेता है। पौराणिकमान्यता के अनुसार स्वर्ग में दु:ख का पूर्णतया अभाव है तथा वहाँ जाकर व्यक्ति अप्सराओं के नृत्य, गीत, संगीत में ही चरम आनन्द का अनुभव करता है, किन्तु इस सुख की प्राप्ति उसे पुण्य रहने तक ही होती है। पुण्य के क्षीण होने पर उसे पुन: पृथ्वीलोक पर जन्म ग्रहण करना पड़ता है। वेदान्त के अधिकारी के लिए जहाँ इस लोक में उपलब्ध अनित्य भोगसामग्री के प्रति वैराग्यभावना

---

1. तैत्तिरीयोपनिषद्–1/1/11
2. वही, 7.24.1

आवश्यक है, वहीं उसके लिए परलोक स्वर्गादि में विद्यमान सामग्री के प्रति भी अनित्यता की भावना धारण करते हुए वैराग्य अनिवार्य है।

इसलोक एवं परलोकविषयक भोगसामग्री के प्रति वैराग्य, साधक को केवल उसी स्थिति में सम्भव है, जब वह यह विचार करता है कि इस दृश्यमानजगत् की समस्त भोगविलासविषयक सामग्री, क्योंकि कर्म द्वारा प्राप्त होती है, अतः अनित्य है, क्योंकि 'यत् यत् कर्मजन्यं तत्तत् अनित्यं' यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। इसी सिद्धान्त के कारण कर्मजन्ययज्ञ आदि से प्राप्त होने वाले स्वर्ग आदि भी अनित्य हैं। यह निश्चय करके उस समस्त भोग-सामग्री के प्रति घृणा का भाव रखना, उनमें लेशमात्र भी रुचि न लेना ही विराग अर्थात् वैराग्य है। यही वेदान्तदर्शन में अधिकारी के लिए द्वितीय साधन 'इहामुत्रार्थफलभोग विराग' है।

विशेष–(१) साधनानि–यहाँ बताए गए साधनों में पूर्व-पूर्व साधन को क्रमशः उत्तरोत्तरसाधन की प्राप्ति का हेतु मानना चाहिए, क्योंकि अनित्य नित्यवस्तु के विवेक के उपरान्त ही उसे इसलोक एवं परलोकविषयक भोगसामग्री के प्रति वैराग्यभाव उत्पन्न हो सकेगा। इसीप्रकार आगे भी समझना चाहिए।

(2) 'विराग' से अभिप्राय अरुचि, उदासीनता, घृणा, उपेक्षा आदि वैराग्यभाव से ग्रहण करना चाहिए।

(3) छान्दोग्योपनिषद् (8.1.6) में कर्मजन्य होने के कारण इसलोक एवं परलोक की समस्त भोगसामग्री को स्पष्टरूप से अनित्य प्रतिपादित किया गया है–'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयत"।

(4) प्रस्तुत गद्यखण्ड में प्रयुक्त 'अमृतादि' से अभिप्राय स्वर्ग में विद्यमान सुख प्रदान करने वाले अप्सराओं के नृत्य, गीत, संगीत एवं अन्य भोगपदार्थों से ग्रहण करना चाहिए।

(5) इहलोक एवं परलोकविषयक भोगसामग्री की अनित्यता में उनका 'कर्मजन्य' होना मुख्यहेतु बताया गया है। जिसे इसप्रकार भी समझा जा सकता है– 'यत्-यत् कर्मजन्यं तत् तत् कार्यम्। यत्यत् कार्यं तत्तत् अनित्यम्'। अर्थात् जो-जो कर्म से उत्पन्न होता है, वह-वह कार्य है तथा जो- जो कार्य है वह सब अनित्य है।

(6) प्रस्तुत खण्ड के अभिप्राय को हम इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र-२३

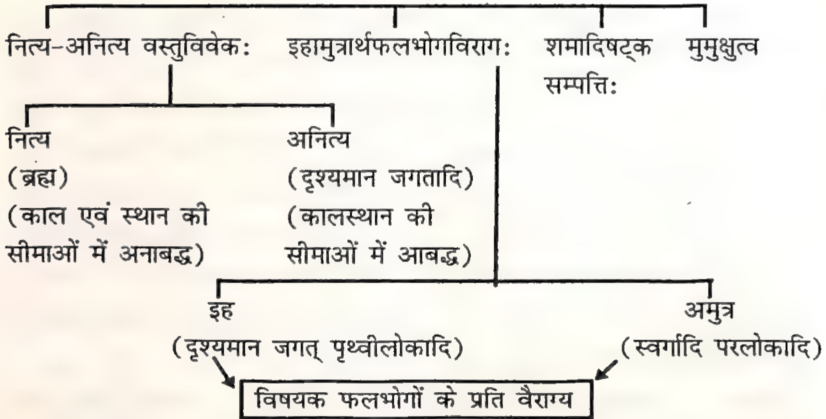

अवतरणिका–पूर्वोक्त साधनचतुष्टय में से शेष दो साधन शमादि षट्क सम्पत्ति एवं मुमुक्षुत्व की व्याख्या करते हुए आचार्य सदानन्द कहते हैं कि–

शमादयस्तु शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः। शमस्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः। दमो बाह्येन्द्रियाणां तव्द्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्। निवर्तितानामेतेषां तव्द्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणमुपरतिरथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः। तितिक्षा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता। निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा। मुमुक्षुत्वं मोक्षेच्छा। एवम्भूतः प्रमाताधिकारी "शान्तो दान्त" इत्यादिश्रुतेः।

पदच्छेद–शम-आदयः तु, शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धा-आख्याः। **शमः**-तावत् श्रवण-आदिव्यतिरिक्तविषयेभ्यः मनसः निग्रहः। **दमः**-बाह्य-इन्द्रियाणाम् तद् व्यतिरिक्तविषयेभ्यः निवर्तनम्। निवर्तितानाम् एतेषाम् तद् व्यतिरिक्तविषयेभ्यः उपरमणम्-**उपरतिः**, अथवा विहितानाम् कर्मणाम् विधिना परित्यागः। **तितिक्षा**-शीतोष्ण-आदि द्वन्द्व-सहिष्णुता। निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तद् अनुगुणविषये च-समाधि-**समाधानम्**। गुरु-उपदिष्ट-वेदान्तवाक्येषु विश्वासः **श्रद्धा**।

मुमुक्षुत्वम्-मोक्षेच्छा। एवंभूतः प्रमाता-अधिकारी ''शान्तो दान्तः'' इत्यादि श्रुतेः॥

अनुवाद–शम आदि तो (वस्तुतः) शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा नाम वाले हैं। शम–श्रवण आदि से अतिरिक्त (सांसारिक) विषयों से मन को रोकना ही शम है। बाह्य इन्द्रियों का उन (श्रवणादि) से अतिरिक्त विषयों से रोकना दम है। (बाह्यविषयों से) रोकी गयी इन (इन्द्रियों) को उस (ब्रह्मादि) से अतिरिक्त विषयों से पूर्णतया अवरुद्ध करना ही उपरति है अथवा शास्त्रोक्त (नित्यादि) कर्मों का (सन्यासाश्रम में) विधिपूर्वक परित्याग (ही उपरति है)। सर्दी–गर्मी (सुख–दुःख) आदि द्वन्द्वों को सहन करना ही तितिक्षा है। पूर्णतया नियन्त्रितमन को श्रवण आदि तथा उनके अनुकूल विषयों में भलीप्रकार लगाना ही समाधि है। गुरु द्वारा उपदिष्ट वेदान्त के वाक्यों में विश्वास श्रद्धा है।

मोक्ष की इच्छा ही मुमुक्षुत्व है। इसप्रकार की विशेषताओं से युक्त हुआ प्रमाता अधिकारी है। 'जितेन्द्रिय ही शान्तचित्त रहता है' इत्यादि श्रुतिवचन भी है।

'चन्द्रिका'– ग्रन्थकार ने साधनचतुष्टय का उल्लेख करते समय शमादि षट्कसम्पत्ति कहकर तृतीय साधन का संकेतमात्र किया था। प्रस्तुत अंश में उन सभी का नामोल्लेख करते हुए उन्हें परिभाषित करते हैं।

शमादि से यहाँ क्रमशः शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा इन छः से अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए। इन छः को ग्रन्थकार ने सम्पत्ति इसलिए कहा क्योंकि ये ब्रह्मज्ञान के मार्ग को प्रशस्त करते हैं। अतः तत्त्वज्ञान अथवा मोक्षप्राप्तिरूप कार्य में ये छहों सम्पत्तिस्वरूप हैं। तत्पश्चात् क्रमशः इनकी व्याख्या करते हैं–

(१) शम–जिसप्रकार भूखा व्यक्ति अपनी भूख शान्त करने हेतु उसके साधनस्वरूप अन्न को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। उसीप्रकार तत्त्वज्ञान के साधन जो श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि हैं, उन्हें छोड़कर दूसरे सांसारिकविषयों में बार–बार दौड़कर जाते हुए मन को एक विशेष प्रकार की अन्तःकरण की वृत्ति नियन्त्रित करती है। इसी रोकने वाली वृत्ति को दर्शन की भाषा में शम कहते हैं। संक्षेप में–अन्तरिन्द्रिय मन को बाह्य सांसारिकविषयों से हटाकर तत्त्वज्ञान के साधनस्वरूप वेदों के श्रवण, मनन आदि में लगाना ही शम है। इसप्रकार शम हमारे अन्दर स्थित मन नामक इन्द्रिय का वह व्यापार है जो उसे सांसारिक भौतिकसुखों की ओर जाने से रोकता है।

(२) दम–चक्षुः, श्रोत्र, रसना, घ्राण एवं त्वक् नामक पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने के लिए लालायित रहती हैं। जैसे–नेत्रेन्द्रिय सुन्दरवस्तु को देखने के लिए व्याकुल रहती है तो श्रोत्रेन्द्रिय मधुरध्वनि सुनने के लिए; इसीप्रकार रसनेन्द्रिय स्वादिष्ट व्यञ्जन खाने के लिए बेचैन रहती है। इन सभी को इन सांसारिक भोगसामग्रियों से बलपूर्वक रोककर ब्रह्मसाक्षात्कार के साधनभूत 'श्रवण-मनन' आदि में लगाना 'दम' कहलाता है।

इसप्रकार 'शम' और 'दम' में केवल इतना ही अन्तर है कि वहाँ अन्तरिन्द्रिय मन को बाह्य सांसारिकविषयों से हटाकर श्रवण, मनन आदि ब्रह्मज्ञान के साधन में लगाया जाता है, जबकि 'दम' में पञ्चज्ञानेन्द्रियों को उन-उनके विषयों से रोकते हुए ब्रह्मसाक्षात्कार के साधन श्रवण-मननादि में लगाया जाता है। यद्यपि ज्ञानेन्द्रियों पर भी 'मन' का नियन्त्रण होने के कारण प्रबलता 'शम' की ही माननी होगी।

(३) उपरति–ब्रह्मसाक्षात्कार के साधनस्वरूप श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के अतिरिक्त सांसारिकविषयों से हटायी हुई इन्द्रियाँ पुनः उन विषयों में न जा सकें, यह जिस वृत्ति द्वारा किया जाता है, उसे 'उपरति' कहते हैं। इसप्रकार 'उपरति' मन का वह कार्यव्यापार है, जो नियन्त्रित की गयी इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर पुनः जाने से रोकता है। इसप्रकार उपरति, शम एवं दम में अत्यन्तसूक्ष्म अन्तर रहता है।

इसी प्रसङ्ग में ग्रन्थकार 'उपरति' की दूसरी परिभाषा भी प्रस्तुत करते हैं–संध्यावन्दन, अग्निहोत्र आदि जो नित्यनैमित्तिककार्य शास्त्रों में गृहस्थादिकों के करने के लिए बताए गए हैं, संन्यास आश्रम को स्वीकार करके शास्त्रोक्तरीति से उनका परित्याग करना भी 'उपरति' कहलाता है।

दर्शनशास्त्र, शमादि के समान ही संन्यास को भी आत्मज्ञान का महत्त्वपूर्ण साधन स्वीकार करता है, क्योंकि यज्ञादिकार्यों में लगे रहने के कारण तथा ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व विषयक विरोधी भावनाओं के बने रहने से साधक वेदान्त के तत्त्वों पर भलीभाँति विचार करने में समर्थ ही नहीं हो पाता है। इसलिए मुमुक्षु के लिए 'संन्यास' की अनिवार्यता प्रतिपादित की गयी है तथा विधिपूर्वक त्याग से अभिप्राय है–सर्ववेदस् यज्ञादि करने के बाद साधक संन्यास की दीक्षा ग्रहण करता है तथा इसीसमय शास्त्रोक्त रीति से वह नित्यनैमित्तिककर्मों के परित्याग का भी संकल्प लेता है, नित्यादि

कर्मों का यह परित्याग वह आलस्य, अविश्वास अथवा प्रमाद के कारण नहीं करता, अपितु इसके परित्याग में शास्त्रोक्तरीति का अनुकरण करता है। आचार्य मनु का भी इस विषय में कथन है–

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदस दक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्।। (मनु. 6.38)

(४) **तितिक्षा**–सर्दी-गर्मी, मान-अपमान तथा इनसे अनुभव किए जाने वाले सुख-दुःख आदि को प्रायः सभी प्राणी अनुभव करते हैं, किन्तु जो व्यक्ति यह मानते हुए कि सर्दी-गर्मी, सुखःदुःख आदि तो केवल शरीर के धर्म हैं। आत्मा के ऊपर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इसप्रकार से विवेकपूर्वक इन्हें सहन करना ही 'तितिक्षा' माना गया है। महाभारत में गीताकार ने भी इसी अभिप्राय को व्यक्त किया है–

"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदा।
आगमापायिनोऽनित्यास्तान् तितिक्षस्व भारत।। (गीता 2/14)

(५) **समाधान**–वश में किए हुए मन को श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि द्वारा एकाग्र करना, निरन्तर इन्हीं का चिन्तन करना ही समाधि है तथा इसीको 'समाधान' भी कहा गया है। इसी प्रसङ्ग में ग्रन्थकार ने 'तदनुगुणविषय' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अभिप्राय है, मन को बाह्यविषयों से रोककर गुरु के प्रति भक्ति, सेवा-शुश्रूषा तथा उसके प्रति विनयपूर्वक आचरण करते हुए वेदान्तग्रन्थों का अध्ययन एवं चिन्तन करे। ऐसी स्थिति में जहाँ एक ओर साधक का मन इधर-उधर भटकना बन्द कर देता है, वहीं दूसरी ओर वह विनम्रता की मानो साक्षात्मूर्ति ही बन जाता है। अभिमान उसको स्पर्श तक नहीं कर पाता है। कुछ विद्वानों ने समाधान का अभिप्राय अपरिग्रह किया है–'दण्डं आच्छादनं कौपीनं परिगृहेत् शेषं विसृजेत्।"

(६) **श्रद्धा**–गुरु को न केवल भारतीयसंस्कृति अपितु सम्पूर्णदर्शन साहित्य में अत्युच्च स्थान प्राप्त हुआ है। इसीकारण 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुःदेवो महेश्वरः गुरुः साक्षात्, परमब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः' कहकर उसे परमब्रह्म की कोटि में रखा गया है। इसी गुरु द्वारा कहे गए वेदान्त-वचनों 'तत्त्वमसि', 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि के प्रति आस्था, अगाधविश्वास धारण करना ही 'श्रद्धा' कहा गया है। गीताकार ने भी तत्त्वज्ञान के लिए श्रद्धा की अनिवार्यता प्रतिपादित की है–

"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः"

यहाँ तक षट्कसम्पत्तिरूप तृतीय साधन की व्याख्या करने के बाद ग्रन्थकार ने मुमुक्षुत्व नाम चतुर्थ एवं अन्तिम साधन का उल्लेख किया है। 'मुमुक्षु' का अभिप्राय है–'मोक्ष की इच्छा वाला'। इसलिए मुमुक्षुत्व का अर्थ होगा 'मोक्ष की इच्छा का भाव'। पूर्व में बताए गए तीन साधनों से सम्पन्न साधक जब मोक्ष की प्रबल इच्छा वाला होता है, तभी वह अपने गुरु से आध्यात्मिकज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी बन पाता है।

इस प्रसङ्ग में यह उल्लेखनीय है कि दर्शनशास्त्र इच्छा अथवा कामना को बन्धन का कारण मानते आये हैं, फिर यह मोक्षेच्छा प्रशस्य क्यों? वस्तुतः यह प्रशंसनीय इसलिए है, क्योंकि आत्मा से भिन्न वस्तु की कामना करना ही 'काम' है। आत्मा के सम्बन्ध में होने के कारण मोक्ष के प्रति इच्छा तो 'अकाम' ही माना जाएगा, अर्थात् उसकी गणना काम की श्रेणी में नहीं होगी। वस्तुतः आत्मा की कामना करने वाले को पूर्णकाम होने पर भी सभीप्रकार की कामनाओं से मुक्त ही मानना होगा।

ऊपर बताए गए शमदमादि गुणों से सम्पन्न, नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि साधनचतुष्टय से समृद्ध व्यक्ति ही वस्तुतः प्रस्तुत प्रकरणग्रन्थ वेदान्तसार के अध्ययन करने का अधिकारी है। अपनी बात की पुष्टि के लिए ग्रन्थकार 'शान्तो दान्तः' इत्यादि श्रुति को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हैं। यह श्रुतिवचन काण्वशाखा की बृहदारण्यकोपनिषद् में इसप्रकार उद्धृत किया गया है। यहाँ भी प्रायः उपर्युक्त षट्कसम्पत्ति की ओर ही संकेत किया गया है–

"शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति"

विशेष– (1) प्रस्तुत श्रुति ग्रन्थकार द्वारा पूर्व प्रतिपादित षट्कसम्पत्ति को शास्त्रसम्मत प्रतिपादित करने के लिए ही उद्धृत की गयी है।

(2) उपर्युक्त अंश में ग्रन्थकार ने उपरति को दो प्रकार से परिभाषित किया है। द्वितीय परिभाषा संन्यास अथवा कर्मसंन्यास को प्रमुखता प्रदान करने के लिए की गयी है।

(3) इस दृष्टि से संन्यासी ही मोक्ष का, वेदान्त का अधिकारी हो सकता है, यह अभिप्राय भी ग्रहण किया जा सकता है।

(4) आत्मा को देखने की इच्छा अथवा आत्मज्ञान को वेदान्ती 'काम' की श्रेणी में नहीं मानते हैं।

(5) गीताकार ने भी ब्रह्मज्ञान के लिए 'शम' की आवश्यकता प्रतिपादित की है–

'योगारूढस्य शमः कारणमुच्यते' (6/3)

(6) यहाँ प्रयुक्त श्रवणादि से अभिप्राय वेदशास्त्रों के अध्ययन, मनन, चिन्तन, श्रवण तथा आचरण से ग्रहण करना चाहिए।

(7) 'दम' को भगवान् श्रीकृष्ण ने कछुए के उदाहरण द्वारा अत्यन्त सुन्दर ढंग से इसप्रकार समझाया है–

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (गीता–2/58)

(8) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

चित्र–२४

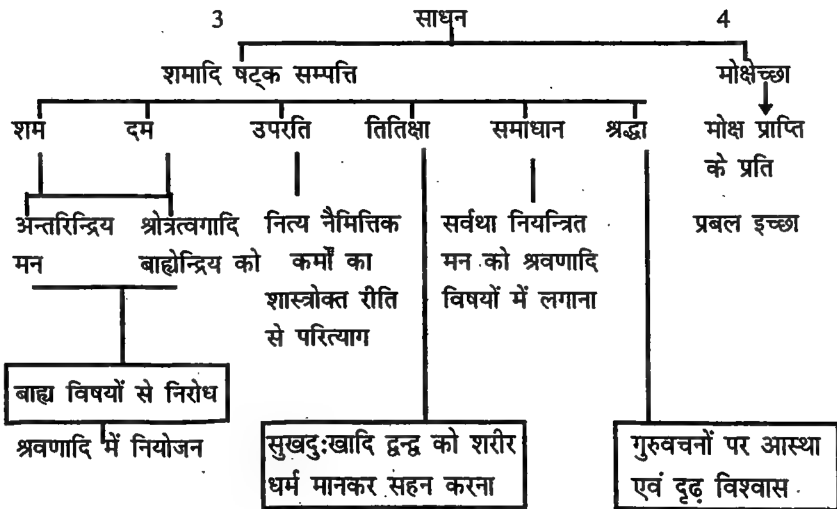

अवतरणिका–'अनुबन्धचतुष्टय' में से इसप्रकार प्रथम अनुबन्ध 'अधिकारी' की व्याख्या करने के पश्चात् ग्रन्थकार अपनी बात की पुष्टि में आचार्य शङ्कर द्वारा विरचित 'उपदेशसाहस्री' में प्रयुक्त कारिका को उद्धृत करते हैं–

उक्तं च–

"प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षव" इति।।

अन्वय–प्रशान्तचित्ताय, जितेन्द्रियाय, प्रहीणदोषाय, यथोक्त-कारिणे, गुणान्विताय, च अनुगताय मुमुक्षवे सर्वदा एतत् सकलम् (ज्ञानम्) प्रदेयम्।। इति।।

अनुवाद– अत्यन्त शान्तचित्त, इन्द्रियों को वश में करने वाले, निर्मल अन्तःकरण वाले, पूर्वोक्त बातों का पालन करने वाले, (विवेकादि) गुणों से सम्पन्न, गुरु की आज्ञा का पालन करने वाले (उसके वाक्यों में श्रद्धा रखने वाले) मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति को ही हमेशा यह सम्पूर्ण वेदान्त का ज्ञान प्रदान करना चाहिए।

'चन्द्रिका'– जिस व्यक्ति का मन सांसारिक भोगविलासविषयक सामग्री की ओर से विरक्त होकर एकमात्र आत्मतत्त्व के चिन्तन अथवा ब्रह्मज्ञान के साधनभूतश्रवण मननादि में स्थिर होकर शान्तभाव को प्राप्त हो गया हो। जिसने अपनी बाह्य इन्द्रियों श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण आदि को पूर्णतया अपने वश में कर लिया हो तथा जिसकी ये सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर न जाकर श्रवणमननादि ब्रह्मसाक्षात्कार के साधनों के प्रति ही आकृष्ट होती हों। जिसने काम्य एवं निषिद्धकर्मों का पूर्णतया परित्याग करके नित्य-नैमित्तिक-प्रायश्चित्त एवं उपासन आदि कर्मों द्वारा अपने अन्तःकरण को पूर्णतया निर्मल बना लिया हो।

साथ ही जिसमें नित्य-अनित्यवस्तुओं के सम्बन्ध में विवेक ने स्थान बना लिया हो तथा जिसे इस लोक एवं परलोकविषयक फलभोगसामग्री के प्रति वैराग्य हो गया हो। इसके अतिरिक्त जो अभिमानरहित अत्यन्त विनम्र-भाव से गुरु की सेवा एवं उनकी आज्ञापालन में आनन्द का अनुभव करता हो। जो गुरु की प्रत्येक आज्ञा को माला के समान अपने मस्तक पर धारण करते हुए, उनके प्रत्येक वचन के प्रति अगाधश्रद्धा एवं आस्था धारण करे। मोक्ष के प्रति प्रबल इच्छा रखने वाले इसप्रकार के अधिकारी व्यक्ति को ही आत्मविषयक ज्ञान प्रदान करना चाहिए।

विशेष–(1) प्रस्तुत कारिका वस्तुतः यहाँ तक विवेचन किए गए अधिकारी के गुणों का अत्यन्त संक्षिप्तरूप कहा जा सकता है।

(2) ग्रन्थकार ने इसे अपनी बात की पुष्टि में प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है।

(3) कारिका में प्रयुक्त 'गुणान्विताय' को विद्वानों ने सद्-असद् विवेक, त्याग तथा क्षमारूप गुणों से युक्त अर्थ में भी प्रयुक्त माना है।

अवतरणिका—अनुबन्धचतुष्टय के प्रथम अनुबन्ध अधिकारी की विस्तृत व्याख्या करने के बाद ग्रन्थकार उसके शेष तीन अनुबन्धों—विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

विषयो जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्। सम्बन्धस्तु तदैक्यप्रमेयस्य तत्प्रतिपादकोपनिषत्प्रमाणस्य च बोध्यबोधकभावः। प्रयोजनं तु तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्च "तरति शोकमात्मवित्" इत्यादिश्रुतेः "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इत्यादि श्रुतेश्च॥४॥

पदच्छेद— **विषयः**-जीव-ब्रह्म-ऐक्यम् शुद्धचैतन्यम् प्रमेयम् तत्रैव वेदान्तानाम् तात्पर्यात्। **सम्बन्धः**—तु तद् ऐक्य प्रमेयस्य तत् प्रतिपादक-उपनिषत् प्रमाणस्य च बोध्यबोधकभावः। **प्रयोजनम्**-तु तद् ऐक्य प्रमेयगत-अज्ञाननिवृत्तिः स्व-स्वरूप-आनन्द-अवाप्तिः च। "तरति शोकम् आत्मवित्" इत्यादि श्रुतेः। "ब्रह्मवित् ब्रह्म एव भवति" इत्यादि श्रुतेः च॥4॥

अनुवाद— (वेदान्त का प्रतिपाद्य) विषय-जीव और ब्रह्म की एकता है। शुद्धचैतन्य (ही यहाँ) प्रमा (ज्ञान) का विषय है, क्योंकि समस्त वेदान्त वाक्यों का अभिप्राय उसी (शुद्धचैतन्य) के प्रतिपादन में निहित है।

ज्ञान के विषय उन जीव और ब्रह्म का ऐक्य एवं उनका प्रतिपादन करने वाले उपनिषद्रूप प्रमाणवाक्यों का (परस्पर) बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध है।

जबकि उस जीव एवं ब्रह्म के ऐक्यविषयक ज्ञान के साथ अज्ञान की निवृत्तिपूर्वक अपने स्वरूप का परिचय होने से चरम आनन्द की प्राप्ति ही (इस शास्त्र का) मुख्य प्रयोजन है।

"आत्मज्ञानी शोक से तर जाता है" इत्यादि तथा "ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही हो जाता है" इत्यादि श्रुति का (कथन यहाँ प्रमाण है)।

'चन्द्रिका'—ग्रन्थ के आरम्भ में ग्रन्थकार ने प्रस्तुत प्रकरणग्रन्थ वेदान्तसार के अधिकारी, विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन इस 'अनुबन्धचतुष्टय' का उल्लेख करने के पश्चात् अधिकारी पद की विस्तृत व्याख्या की। पुनः प्रस्तुत गद्यखण्ड में शेष तीन अनुबन्धों—'विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन' की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

(१) विषय—प्रस्तुत वेदान्तसार में जीव और ब्रह्म दोनों की एकता प्रतिपादित की गयी है और यही इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्यविषय भी है। यहाँ जीव से अभिप्राय सामान्यप्राणी से है, जिसको हम प्रतिदिन अपनी

आंखों से देखते हैं। वेदान्त के अनुसार यह जीव वस्तुतः शुद्धचैतन्यरूप ब्रह्म का ही मलिनसत्त्वप्रधान अज्ञान से आच्छादित रूप है। सम्पूर्ण वेदान्त-दर्शन में इन्हीं दोनों तत्त्वों जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य को सिद्ध करने का ही प्रयास किया गया है।

समर्थ गुरु, अधिकारी साधक को 'अध्यारोप-अपवाद' न्याय का सहारा लेकर अज्ञान/अविद्या अथवा माया एवं उस नित्यशुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्म के अन्तर को समझाते हुए ज्ञान का विषय एकमात्र शुद्धचैतन्य को ही बताता है। जिसके परिणामस्वरूप साधक को मोक्ष-प्राप्ति होती है। वस्तुतः इस ग्रन्थ में भी सर्वत्र विभिन्नशैलियों से उसी शुद्धचैतन्य का ही प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि वही शुद्धचैतन्य मुख्यरूप से ज्ञान का विषय है। अतः यही इसका मुख्य वर्ण्यविषय भी है।

प्रत्यक्षतः दिखायी देने पर हमें जीव में अल्पज्ञता आदि गुण देखने को मिलते हैं, जबकि ब्रह्म सर्वज्ञत्व आदि गुणों से युक्त है। फिर भला ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं? ऐसी शङ्का करना उचित नहीं है, क्योंकि अज्ञान से आच्छादित होना ही जीव के अल्पज्ञत्व का कारण है, किन्तु गुरुकृपा द्वारा अज्ञान के दूर होने से सर्वज्ञत्व आदि गुणों से युक्त शुद्धचैतन्य ही शेष रहता है। वस्तुतः जीव का अल्पज्ञत्व माया/अज्ञान द्वारा आरोपित है, वास्तविक नहीं है। इसीलिए ब्रह्म एवं जीव में अभेद प्रतिपादित किया गया है।

(२) सम्बन्ध– तत्पश्चात् जीव और ब्रह्म का ऐक्य जो वस्तुतः इस दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य है, इस ग्रन्थ में भी प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि वेदान्त के अनुबन्ध प्रस्तुत ग्रन्थ पर भी अक्षरशः लागू होते हैं। साथ ही जीव एवं ब्रह्म के एकतारूपी विषय ही वस्तुतः प्रमा अर्थात् ज्ञान के विषय हैं तथा इस ग्रन्थ में उद्धृत किए गए उपनिषद्वाक्यरूप प्रमाण इन दोनों का बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध है, क्योंकि जीव एवं ब्रह्म का ऐक्य यह बोध्य अर्थात् जानने योग्य विषय है तथा 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिवाक्य उसका बोध अर्थात् ज्ञान कराने से 'बोधकवाक्य' हैं।

इस प्रसङ्ग में यह उल्लेखनीय है कि शुद्धचैतन्य के अस्तित्व को प्रत्यक्षरूप से प्रमाणित न कर सकने से अनुमानप्रमाण एवं शब्दप्रमाण का सहारा लेकर उस शुद्धचैतन्य को प्रमाणित करके यहाँ उसकी व्याख्या की गयी है। इसलिए जीव-ब्रह्म की एकता नामक विषय एवं प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपादक वाक्यों में परस्पर बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध ही सिद्ध होता है।

(३) **प्रयोजन**—जैसा कि पूर्व में बताया गया कि जीव और ब्रह्म के ऐक्यविषयक ज्ञान के साथ अज्ञान की निवृत्ति होने से दिखायी देने वाला यह अज्ञानजन्य सकलप्रपञ्च भी ज्ञानी की दृष्टि में ठीक उसीप्रकार समाप्त हो जाता है। जैसे—सीपी में चाँदी देखने वाले अज्ञानी को ज्ञान होने पर चाँदीविषयक धारणा समाप्त हो जाती है। साथ ही अपने स्वरूप (आत्मस्वरूप) से परिचय हो जाने के कारण उसे अद्‌भुत आनन्द की ठीक उसीप्रकार अनुभूति होती है, जैसे—कोई व्यक्ति अपनी खोई हुई अमूल्य वस्तु के अकस्मात् मिलने से चरम आनन्द का अनुभव करता है। इसप्रकार आत्मस्वरूप का दर्शन अथवा परिचय होने से अखण्ड आनन्द की प्राप्ति ही वेदान्तशास्त्र का मुख्यप्रयोजन है।

अपने इस कथ्य की पुष्टि में ग्रन्थकार दो श्रुतिवाक्यों को उद्‌धृत करते हैं– 'आत्मज्ञानी संसारबन्धनरूप शोक से तर जाता है' अर्थात् जीव-ब्रह्म के ऐक्य का ज्ञान होने से ज्ञानीव्यक्ति संसार के जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर ब्रह्मसायुज्य (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है। ऐसा श्रुतिवचन इस सम्बन्ध में प्रमाण है।

ठीक इसीप्रकार अन्य श्रुतिवाक्य 'ब्रह्म को जानने वाला व्यक्ति वस्तुतः स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है' क्योंकि तात्त्विकदृष्टि से ब्रह्म और ब्रह्मज्ञानी में कोई भेद नहीं रहता है। भेदकतत्त्व वस्तुतः पञ्चतत्त्वों से निर्मित यह शरीर होता है, जिसके 'पात' होने पर ब्रह्मज्ञानी का आत्मा 'ब्रह्म' नामक चैतन्यांश में मिलकर एकाकार हो जाता है।

विशेष– (1) प्रस्तुत अंश के प्रारम्भ में प्रयुक्त 'जीवब्रह्मैक्यम्' के पश्चात् 'शुद्धचैतन्यम्' कहने का अभिप्राय है कि वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय जीव और ब्रह्म की एकता है, किन्तु यह ऐक्य शुद्धचैतन्य का ही है।

(2) क्योंकि जीव का अल्पज्ञत्व तथा ब्रह्म का सर्वज्ञत्व दोनों विरुद्ध धर्म हैं, किन्तु उन दोनों का परित्याग कर देने पर शुद्धचैतन्य दोनों में विद्यमान रहता है। जो सम्पूर्ण वेदान्तवाक्यों का प्रतिपाद्य है।

(3) इस प्रसङ्ग में यह उल्लेखनीय है कि जीव और ब्रह्म की एकता दूध एवं जल के समान अलग-अलग तथा एक-दूसरे से मिल जाने पर होने वाली तद्रूप एकता के समान न होकर भिन्न होती है।

(4) प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन इन तीन अनुबन्धों को सूत्रात्मकशैली में स्पष्ट किया है।

(5) उक्त गद्यखण्ड के अभिप्राय को हम इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र–२५

अनुबन्ध–चतुष्टय

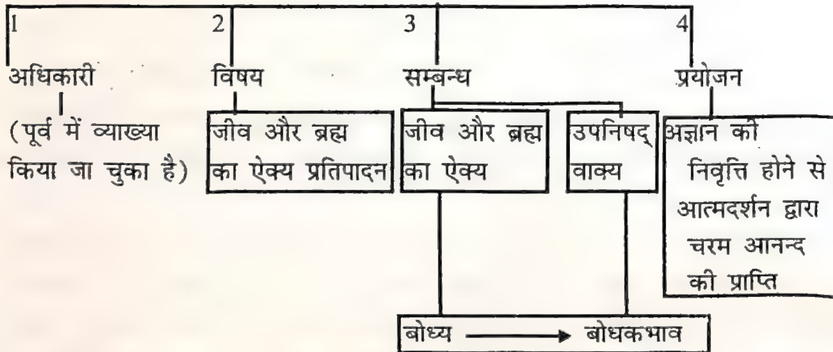

अवतरणिका–अनुबन्धचतुष्टय का उल्लेख करने के बाद ग्रन्थकार 'अधिकारी' के आचरण एवं तत्पश्चात् गुरु के व्यवहार का कथन करते हुए कहते हैं–

अयमधिकारी जननमरणादिसंसारानलसन्तप्तो प्रदीप्तशिरोजलराशिमिवोपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति "समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं" इत्यादिश्रुतेः। स परमकृपयाध्यारोपापवादन्यायेनैनमुपदिशति "तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह" इत्यादिश्रुतेः॥५॥

पदच्छेद–अयम् अधिकारी जनन-मरण-आदि संसार-अनल-संतप्तः दीप्तशिरः जलराशिम् इव उपहारपाणिः श्रोत्रियम् ब्रह्मनिष्ठम् गुरुम् उपसृत्य तम् अनुसरति। 'समित् पाणिः श्रोत्रियम् ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादि श्रुते।

सः (गुरुः) परमकृपया 'अध्यारोप-अपवाद, न्यायेन एनम् उपदिशति। 'तस्मै सः विद्वान् उपसन्नाय प्राह' इत्यादि श्रुतेः॥5॥

अनुवाद–जिसप्रकार भयानकगर्मी से अत्यधिक तप्त हुआ व्यक्ति अपनी तपनरूपी व्याकुलता को दूर करने के लिए जलराशि के पास जाता है। उसीप्रकार यह (वेदान्त का) अधिकारी जन्म, मरण आदि संसाररूप कष्टाग्नि से संतप्त होकर हाथ में उपहार ग्रहण करके, वेदों का अध्ययन करने वाले, ब्रह्म में अगाधनिष्ठा रखने वाले आचार्य के पास जाकर उसका अनुसरण करता है। 'समिधा हाथ में लिए हुए (शिष्य) वेदों का अध्ययन

करने वाले ब्रह्मनिष्ठ (गुरु के पास जाता है) इत्यादि श्रुतिवाक्य (इसमें प्रमाण हैं)

वह (गुरु) अत्यन्त कृपापूर्वक 'अध्यारोप-अपवाद-न्याय द्वारा इसे (परम रहस्य) का उपदेश प्रदान करता है। 'समीप आए हुए उस जिज्ञासु के लिए वह (ब्रह्मनिष्ठ) विद्वान् उपदेश देता है' इत्यादि श्रुतिवचन भी हैं।

'चन्द्रिका'– सूर्य की प्रचण्ड गर्मीरूपी अग्नि में जिसका अंग-अंग जला जा रहा है, ऐसा व्यक्ति जिसप्रकार अपनी तपनरूप व्याकुलता को, बैचेनी को दूर करने के लिए अपने आसपास स्थित तालाब, सरोवर आदि जलराशि को देखकर जिस तड़पन के साथ उसकी ओर दौड़ता है तथा उसमें स्नान कर अथवा आकण्ठ डूबकर जिस शान्ति एवं सुख को प्राप्त करता है। सभी वेद-वेदाङ्गों का अध्ययन करने वाला काम्य एवं निषिद्धकर्मों का परित्याग करने वाला, नित्यनैमित्तिक, प्रायश्चित्त, उपासनकर्मों का अनुष्ठान करके निर्मलबुद्धि, नित्य-अनित्यवस्तु-विवेकादि साधन-चतुष्टय-सम्पन्न प्रमाता अर्थात् अधिकारी जन्म, मरण, वृद्धावस्था एवं रोगादि संसार के विभिन्न संतापों से ठीक वैसी ही अत्यधिक व्याकुलता का अनुभव करता है।

जिसे दूर करने के लिए वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार पत्रपुष्पादि उपहार अपने हाथों में लेकर वेदों का गहन अध्ययन, चिन्तन और मननकर उनके अगाधज्ञान को हृदयंगम करने वाले, एकमात्र ब्रह्मतत्त्व में श्रद्धा रखने वाले, ब्रह्मज्ञानी गुरु के समीप जाता है तथा विनम्रभाव से उपहारस्वरूप भेंट, उनके चरणों में रखकर उनसे ब्रह्मज्ञान के उपदेश का निवेदन करता है। उसकी विनम्रता आदि के कारण आचार्य द्वारा उसे स्वीकार करने पर, वह उनके उपदेशों को श्रद्धापूर्वक सुनता है एवं पूर्णतया विनम्रभाव से उपदेश के अनुसार आचरण करता हुआ मन-वचन और कर्म से गुरु की सेवा करता है। यहाँ आकर उसे ठीक उसीप्रकार असीमशान्ति का अनुभव होता है, जैसे–गर्मी से संतप्त व्यक्ति जल के निकट आकर शान्ति का अनुभव करता है। 'समित्पाणि' इत्यादि श्रुति उक्त कथन में प्रमाण है।

सांसारिकदु:खों से छुटकारा पाने तथा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को वेदों के ज्ञान से सम्पन्न, ब्रह्मज्ञानी गुरु की शरण में अपनी सामर्थ्य के अनुसार समिधादि लेकर ही जाना चाहिए। यहाँ प्रयुक्त 'समित्' शब्द को उपलक्षण मानना चाहिए। इसका अभिप्राय है कि यदि व्यक्ति इतना निर्धन हो कि वह गुरु को देने के लिए कोई वस्तु ले जाने में सक्षम न हो तो वह पत्र-पुष्प अथवा यज्ञहेतु समिधाएँ ही अपने हाथों में लेकर

गुरु के पास जाए, क्योंकि ऐसी मान्यता है कि देवता, गुरु और राजा इनके पास कभी भी खाली हाथ नहीं जाना चाहिए–

"रिक्तपाणिर्न सेवेत राजानं देवतां गुरुम्"

इसप्रकार श्रुतिसम्मत अधिकारी शिष्य के आचरण का उल्लेख करने के पश्चात् ग्रन्थकार करुणहृदय गुरु के व्यवहार के विषय में प्रमाणस्वरूप श्रुतिवाक्य प्रस्तुत करते हुए कहते हैं–

उसकी दयनीयस्थिति एवं ब्रह्मज्ञान के लिए विकलता को देखकर श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ वह आचार्य अत्यन्त कृपापूर्वक 'अध्यारोप' 'अपवाद' न्याय से उसे ब्रह्मरूप रहस्य का उपदेश प्रदान करता है। इस क्रम में भी ग्रन्थकार ने 'तस्मै स' इत्यादि श्रुतिवाक्य को प्रमाणरूप में उद्‌धृत करते हुए अपने कथन की पुष्टि की है। यहाँ प्रयुक्त 'अध्यारोप-अपवादन्याय' विशेष व्याख्या की अपेक्षा रखता है।

अध्यारोप-अपवादन्याय–अज्ञानवश वस्तु में अवस्तु का भ्रम होना ही अध्यारोप है। जैसे–सीप में चाँदी तथा रस्सी में सर्प की प्रतीति। इसीप्रकार अज्ञान के कारण भ्रमवश परमब्रह्म में संसार की प्रतीति होना ही अध्यारोप कहलाता है।

इसीप्रकार प्रकाश आदि के कारण भ्रम के दूर होने पर वस्तु के वास्तविकस्वरूप का ज्ञान होना ही अपवाद है। जैसे–वहीं सीपी में प्रतीत होने वाली चांदी के स्थान पर उसके सीपीस्वरूप का वास्तविकज्ञान होना तथा रस्सी में प्रतीत होने वाले सर्प के स्थान पर रस्सी का स्वरूप भासित होना ही अपवाद है। विद्वान् आचार्य भी अधिकारी शिष्य को 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्म के वास्तविकस्वरूप का ज्ञान कराता है। इसी सम्पूर्णप्रक्रिया को यहाँ ग्रन्थकार ने 'अध्यारोप-अपवाद-न्याय' कहा है।

विशेष–(1) प्रस्तुत खण्ड के आरम्भ में प्रयुक्त 'जनन-मरणादि' के 'आदि' शब्द से अभिप्राय वृद्धावस्था एवं रोगादि शारीरिकदुःखों से ग्रहण करना चाहिए।

(2) 'संसारानल'–संसाररूपी अग्नि अर्थ करने पर रूपक अलंकार। यहाँ संसार को अग्नि बताकर उनमें अभेद का आरोप किया गया है–

"तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः"

(3) श्रोत्रिय से अभिप्राय वेद-वेदाङ्ग में पूर्णतया निष्णात व्यक्ति से लेना चाहिए।

(4) बृहदारण्यकोपनिषद् में श्रोत्रिय को निष्काम एवं पापरहित अर्थ में प्रयुक्त माना है– 'यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः"

(5) ब्रह्मनिष्ठं–'ब्रह्मणि निष्ठा यस्य तम्'। आचार्य शङ्कर ने इसको जपनिष्ठ एवं तपोनिष्ठ अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त माना है।

(6) 'अनुसरण' का अभिप्राय केवल पीछे-पीछे चलने से नहीं लेना चाहिए, अपितु इसका 'मनसा, वाचा और कर्मणा श्रद्धापूर्वक गुरु की सेवा' अर्थ करना उचित है।

(7) आचार्य की कृपा प्राप्त करके ही अधिकारी ब्रह्मज्ञान को गुरु से प्राप्त करने में सक्षम है। इसी भाव की अभिव्यक्ति 'परमकृपया' द्वारा हो रही है।

(8) प्रथम गद्यखण्ड में अधिकारी की तुलना गर्मी से संतप्त व्यक्ति से करने के कारण उपमालंकार का प्रयोग द्रष्टव्य है–'प्रस्फुटं सुन्दरं साम्यमुपमेत्यभिधीयते'।

(9) प्रस्तुत खण्ड के अर्थ को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

चित्र-२६

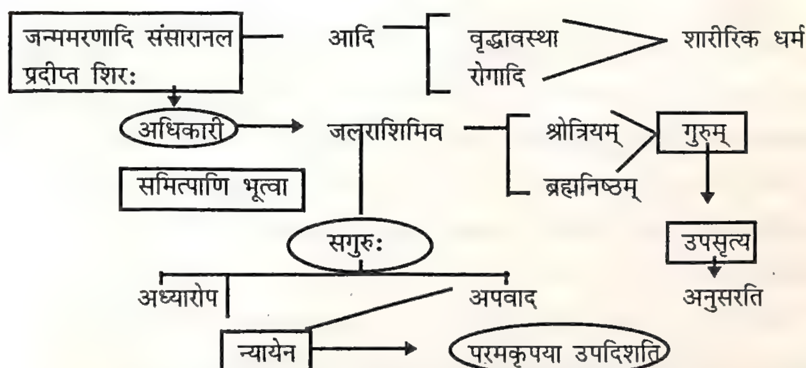

अवतरणिका–अधिकारी एवं आचार्य के आचरण, व्यवहार का कथन करने के पश्चात् अध्यारोप एवं अज्ञान के स्वरूप का कथन करते हैं–

असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः। वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु। अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात् "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" इत्यादिश्रुतेश्च॥६॥

पदच्छेद– असर्पभूतायाम् रज्जौ सर्प-आरोपवद् वस्तुनि अवस्तु-आरोपः **अध्यारोपः**। वस्तु-सत्-चित्-आनन्द-अनन्त-अद्वयम् ब्रह्म। अज्ञान-आदि सकल जड़समूहः अवस्तु।

अज्ञानम्-तु सद्-असद्भ्याम् अनिर्वचनीयम् त्रिगुणात्मकम् ज्ञानविरोधि भावरूपम् यत्किञ्चिद् इति वदन्ति। 'अहम् अज्ञः' इत्यादि अनुभवात्। "देवात्मशक्तिम् स्वगुणैः निगूढाम्" इत्यादि श्रुतेः च।।6।।

अनुवाद– सर्प की सत्ता से रहित रस्सी में सर्प के आरोप के समान, वस्तु में अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप है। सच्चिदानन्द, अनन्त और अद्वैत ब्रह्म वस्तु है तथा अज्ञान आदि से लेकर सम्पूर्ण जड़प्रपञ्च अवस्तु है।

अज्ञान को तो सत् और असत् दोनों से विलक्षण होने से अनिवर्चनीय, त्रिगुणात्मक, ज्ञान का विरोधी तथा भावरूप होने से 'यत्किञ्चित्' ऐसा कहते हैं। मैं अज्ञानी हूँ, इत्यादि अनुभव से तथा 'परमात्मा की शक्ति अपने गुणों से आच्छन्न है' इत्यादि श्रुतिवचन से (इसके अस्तित्व की पुष्टि होती है।)

'चन्द्रिका'– प्रस्तुत गद्यखण्ड में ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम 'अध्यारोप' को सोदाहरण परिभाषित करते हुए कहा कि-- "किसी वस्तु में अज्ञान आदि के कारण उसी के समान अन्य वस्तु के आरोप को अध्यारोप कहते हैं। जैसे–मार्ग में पड़ी हुई रस्सी को यदि कोई व्यक्ति अंधकार आदि के कारण सर्प मान बैठता है। उस स्थिति में देखने वाले का रस्सी-विषयक अज्ञान सर्प के आकार में परिणत हो जाता है। परिणामस्वरूप वह भयभीत होकर वहाँ से दूर भागता है इत्यादि।

किन्तु बाद में जब वह टॉर्च आदि से प्रकाश करके उसको पास जाकर भलीभांति देखता है तो उसका रस्सी-विषयक अज्ञान दूर हो जाता है और वह निश्चय कर लेता है कि यह वस्तुतः सांप नहीं है, अपितु रस्सी है। इसी बात को सीपी और चांदी के उदाहरण द्वारा इसप्रकार समझा सकते हैं–

एक व्यक्ति कुछ दूर पर पड़ी हुई चमचमाती हुई वस्तु को चाँदी मानकर उसके पास जाकर उसे उठाने का प्रयास करता है। आरम्भ से लेकर अन्त तक की यह प्रक्रिया 'अध्यारोप' कहलाएगी, क्योंकि चमकती हुई वह वस्तु वास्तव में चांदी न होकर सीप थी, जो चांदी के समान चमक रही थी। इसप्रकार यहाँ भी वस्तु सीप में अवस्तु चांदी का आरोप होने से यह भी वेदान्तदर्शन की परिभाषा के अनुसार 'अध्यारोप' ही कहलाएगा।

ठीक इसीप्रकार सच्चिदानन्दस्वरूप, अनन्त तथा अद्वैत आदि विशेषताओं से सम्पन्न एकमात्र ब्रह्म ही वस्तु है, जो काल एवं स्थान की सीमाओं से परे नित्य है। जबकि स्वयंप्रकाश, अनन्त ब्रह्मरूप इस वस्तु में अज्ञान अथवा माया के कारण दृश्यमान सम्पूर्ण चराचरजगत् रूप अवस्तु भासित होती रहती है। इसप्रकार ब्रह्मरूप वास्तविकवस्तु में अज्ञान के कारण चराचरजगत् की प्रतीति होना, वेदान्त की भाषा में अध्यारोप माना जाएगा।

इसप्रकार यह सम्पूर्ण चराचरजगत् रूप प्रपञ्च वस्तुतः अज्ञान का ही परिणाम है। इसलिए यहाँ अज्ञान को ही अवस्तु कहा गया है। ब्रह्म के सभी विशेषणों की व्याख्या विस्तारपूर्वक हम भूमिका में कर चुके हैं। (पृ॰ 43) अतः पुनरावृत्ति-भय से उनका यहाँ फिर से उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

विशेष – (1) प्रस्तुत अंश में ग्रन्थकार ने 'अध्यारोप' को पारिभाषित किया है।

(2) 'अध्यारोप' वेदान्तदर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, जिसपर वेदान्तदर्शनरूपी भवन टिका हुआ है।

(3) वेदान्तदर्शन के अनुसार 'ब्रह्म' ही एकमात्र वस्तु है तथा शेष सम्पूर्ण चराचरप्रपञ्च अवस्तु बताया गया है।

(4) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र-२७

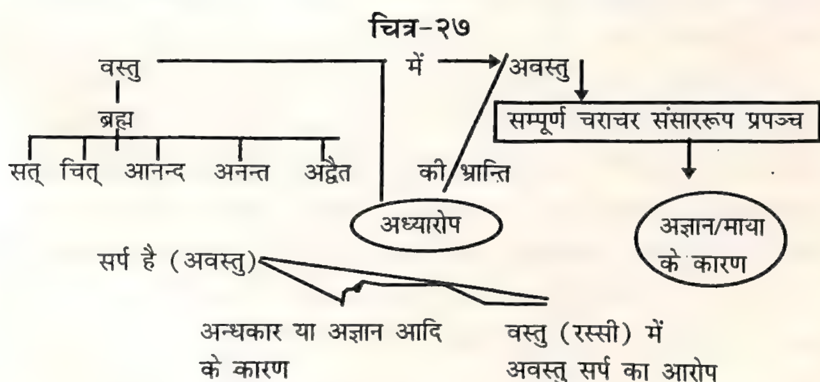

अज्ञान का स्वरूप–उपर्युक्त गद्यखण्ड के द्वितीय अंश में ग्रन्थकार ने अज्ञान के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए इसके, सत्, असत् से भिन्न अर्थात् अनिवर्चनीय, सत्व, रजस्, तमस् गुणों से युक्त होने के कारण त्रिगुणात्मक, ज्ञान का विरोधी होने से ज्ञानविरोधी, भावरूप एवं यत्किञ्चित्

आदि पाँच विशेषणों का उल्लेख किया है। जिनकी हम यहाँ विस्तारपूर्वक व्याख्या कर रहे हैं–

(१) सदसदभ्यामनिर्वचनीयम्–इसी प्रसङ्ग में अज्ञानरूप अवस्तु की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने इसे सत् एवं असत् से भिन्न होने के कारण अनिर्वचनीय कहा है, क्योंकि अज्ञान यदि सत्‌रूप में होता तो ब्रह्म के समान कभी भी इसका बाध नहीं होता। जबकि ब्रह्मविषयकज्ञान के पश्चात् इसकी निवृत्ति हो जाती है। इस दृष्टि से यह सत् नहीं कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि इसे हमं असत् मानें तो बांझ-स्त्री के समान कभी भी हमें इसकी प्रतीति नहीं होनी चाहिए। जबकि किसी वस्तु को न जानने की स्थिति में 'मैं इस विषय में अज्ञानी हूँ' ऐसा अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को होता है। इसलिए अज्ञान को असत् रूप वाला भी नहीं कह सकते हैं। परिणामस्वरूप सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण इसके लिए 'अनिर्वचनीय' रूप एक विशेषण प्रदान करना ही उचित एवं न्यायसंगत प्रतीत होता है। जिसका ग्रन्थकार ने यहाँ उल्लेख किया है।

(२) त्रिगुणात्मक–इस प्रसंग में यह शङ्का होना स्वाभाविक है कि अज्ञान के अनिर्वचनीय होने से कहीं उसके अस्तित्व के विषय में तो आपको संदेह नहीं है। इस शङ्का का निवारण करते हुए ग्रन्थकार ने इसका 'त्रिगुणात्मक' विशेषण प्रस्तुत किया। अज्ञान की त्रिगुणात्मकता श्रुति, स्मृति एवं अनुभव के आधार पर सिद्ध की जा सकती है। दैनिकजीवन में हम तेज में लोहित, जल में शुक्ल तथा पृथिवी में कृष्णवर्णों का अवलोकन करते हैं तथा सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार कारण के गुण कार्य में भी विद्यमान रहते हैं। इसलिए यह दृश्यमानजगत् अज्ञान का कार्य होने से त्रिगुणात्मक दिखायी देता है। अतः इसकारण अज्ञान का त्रिगुणात्मक (सत्त्व-रजस्-तमस्) गुणवाला होना सिद्ध होता है। "अजामेकां लोहितशुक्ल कृष्णां" इत्यादि अनेक श्रुतिवचन भी इस कथ्य की पुष्टि में प्रमाण हैं।

(३) ज्ञानविरोधी– वेदान्तदर्शन एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को ही स्वीकार करता है। उसके अनुसार यह सम्पूर्ण दृश्यमानजगत् रस्सी में सर्प की भ्रान्ति के समान मिथ्या है। 'आवरण' एवं 'विक्षेप' इन दो शक्तियों से युक्त यह अज्ञान ही शुद्धचैतन्यब्रह्म को आवृत्त कर उसमें सृष्टि का असदाभास कराता है। यह अज्ञान ही ब्रह्म के साक्षात्कार में बाधक है। इसके कारण ही हम ब्रह्म के वास्तविकस्वरूप को पहचानने में असमर्थ रहते हैं। इसलिए यह

अज्ञान वस्तुतः ज्ञानविरोधी है, क्योंकि ज्ञान होने पर वह स्वतः विनष्ट हो जाता है।

(४) भावरूप–अज्ञान को यहाँ भावरूप भी कहा गया है तथा इसकी यह विशेषता इसी बात से सिद्ध होती है कि ज्ञान के होने पर वह स्वतः विलीन हो जाता है। इसके अलावा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से भी इसकी भावरूपता का प्रतिपादन किया जा सकता है, क्योंकि व्यक्ति को 'मैं अज्ञ हूँ' इत्यादि की प्रत्यक्ष अनुभूति अनेकशः होती रहती है। अनुमान एवं अर्थापत्तिप्रमाण द्वारा भी इसकी भावरूपता को विद्वानों ने सिद्ध करने का प्रयास किया है।

(५) यत्किञ्चित्–अज्ञान के लिए एक अन्य विशेषण 'यत्किञ्चित्' भी यहाँ ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसका अभिप्राय यही है कि यद्यपि अज्ञान सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से युक्त एवं भावरूप है तथापि इसके विषय में कोई भी विद्वान् यह ऐसा ही है–'इदम् इत्थम्' यह कहने में समर्थ नहीं है। इसीकारण आचार्यों ने इसे 'यत्किञ्चित् (यह कुछ है), इसप्रकार कहकर इसकी व्याख्या की है। वस्तुतः यही अज्ञान की विलक्षणता एवं अनिर्वचनीयता को भी सिद्ध करता है।

प्रस्तुत गद्यखण्ड के अन्त में ग्रन्थकार ने 'अहम् अज्ञः' इत्यादि अनुभव-वाक्य का कथन करके तथा 'देवात्म शक्तिः' इत्यादि श्रुतिवाक्य को प्रस्तुत करके, अपने कथन की, अज्ञान के लिए दिये गए विभिन्न विशेषणों की अथवा अज्ञान के अस्तित्व की पुष्टि की है।

विशेष–(1) वस्तुतः वेदान्त के अज्ञान का वर्णन अत्यन्त कठिन है। पुनरपि ग्रन्थकार ने सूत्रात्मकरूप में उसके स्वरूप का कथन किया है।

(2) यहाँ प्रयुक्त 'अज्ञान' पद वस्तुतः पारिभाषिकशब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अतः इसकी 'न ज्ञानम्, इति अज्ञानम्-नञ् समास' करते हुए व्युत्पत्ति उचित नहीं है।

(3) वस्तुतः यहाँ अज्ञान 'ज्ञान का अभाव' न होकर ब्रह्म की अन्तरङ्ग शक्ति 'माया' अथवा अविद्या के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

(4) कुछ विद्वानों ने अज्ञान की व्याख्या 'सूर्य के रहते हुए अन्धे व्यक्ति द्वारा अन्धकार की परिकल्पना' का उदाहरण देकर भी की है।

(5) प्रस्तुत गद्यखण्ड के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

चित्र-२८

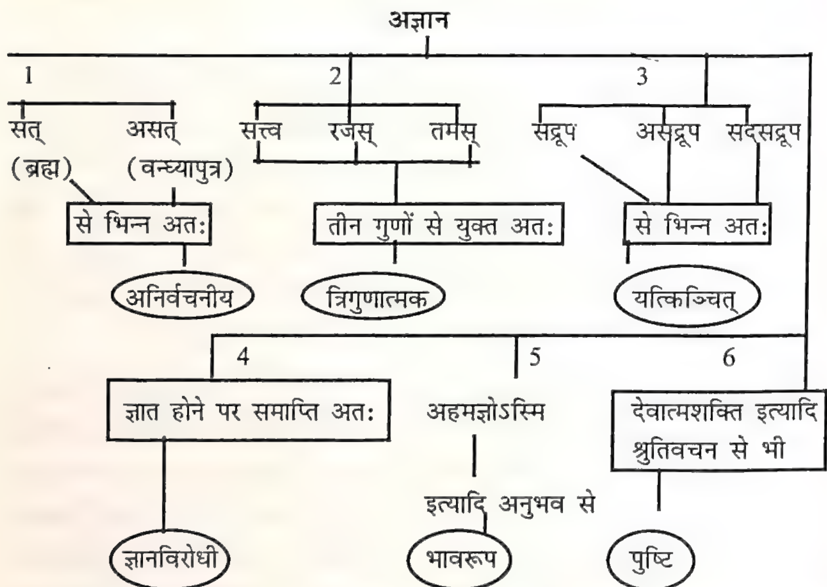

अवतरणिका– ज्ञान के स्वरूप का उल्लेख करके ग्रन्थकार उसके समष्टि-व्यष्टि दो भेदों का कथन करके, प्रथम 'समष्टि' भेद की व्याख्या करते हुए कहते हैं–

इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते। तथाहि। यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशो "ऽजामेकां" इत्यादिश्रुतेः।

पदच्छेद–इदम् अज्ञानम् समष्टि-व्यष्टि-अभिप्रायेण एकम् अनेकम्, इति च व्यवह्रियते। तथाहि–यथा वृक्षाणाम् समष्टि-अभिप्रायेण वनम्, इति एकत्व व्यपदेशः। यथा वा–जलानाम् समष्टि-अभिप्रायेण जलाशयः, इति। तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानाम् जीवगत-अज्ञानानाम् समष्टि-अभिप्रायेण तद् एकत्व व्यपदेशः "अजाम् एकाम्" इत्यादि श्रुतेः।

अनुवाद–समष्टि, व्यष्टि अभिप्राय से यह अज्ञान (कहीं) एक तथा (कहीं) अनेक इसप्रकार (दो रूपों में) व्यवहृत होता है, क्योंकि–जिसप्रकार अनेक वृक्षों में समष्टि के अभिप्राय से 'वन' इसप्रकार एकत्वसूचक व्यवहार

होता है। अथवा–जिसप्रकार जलों की समष्टि की विवक्षा से 'जलाशय' ऐसा (व्यवहार करते हैं)।

ठीक उसीप्रकार अनेकसंख्या में प्रतीत होने वाले जीवों में स्थित अज्ञानों की समष्टि का कथन करने की आकाङ्क्षा से उनमें एकत्व का व्यवहार किया जाता है। 'अजन्मा एक' इत्यादि श्रुति के (कथन का आधार समष्टि ही है)।

'चन्द्रिका'–वेद एवं उपनिषद्ग्रन्थों में अज्ञान के लिए 'अजामेकां' इत्यादि वचनों में एकवचन का तथा 'इन्द्रो मायाभिः' इत्यादि श्रुतिवाक्यों में बहुवचन का प्रयोग किया है। अतः वास्तविकता से परिचित होने के लिए जिज्ञासा स्वाभाविक है। इसी की शान्ति के लिए ग्रन्थकार ने यहाँ समष्टि-व्यष्टि अभिप्राय से अज्ञान के दो रूपों का उल्लेख किया है।

'समष्टि' शब्द का प्रयोग यहाँ समुदाय, समूह या संघात अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है तथा 'व्यष्टि' यहाँ एक का सूचक है। इसप्रकार दूसरे शब्दों में समष्टि-व्यष्टि क्रमशः सामान्य और विशेष व्यवहार के वाचक हैं। वस्तुतः दोनों में अभेद है। ठीक उसीप्रकार जैसे-एक आम के वृक्ष का कथन करने के लिए हम कहेंगे–'यह आम का पेड़ है'। जबकि आम के बहुत से पेड़ों के समुदाय के लिए कहा जाएगा–'यह आम का 'वन' है'।

अतः यहाँ इसे व्यष्टि अभिप्राय से 'वृक्ष' तथा समष्टि अभिप्राय से 'वन' कहना होगा। इसीप्रकार एक जीव में स्थित अज्ञान का कथन उसके व्यष्टिरूप को तथा अनेक जीवों में स्थित अज्ञान को कहने के लिए उसके समष्टिस्वरूप को अभिव्यक्त करेगा, किन्तु ये दोनों तत्त्व की दृष्टि से अभिन्न ही होंगे।

वेदान्तदर्शन में समष्टि एवं व्यष्टि इन दोनों शब्दों का अनेकशः प्रयोग किया गया है। वेदान्त में प्रतिपादित सृष्टिप्रक्रिया को समझने के लिए भी इन दोनों शब्दों को अथवा समष्टि-व्यष्टि विषयक इस सिद्धान्त को समझना आवश्यक है। हमने भूमिका में (पृष्ठ 82) पर इस विषय में विस्तारपूर्वक चर्चा की है। अतः इसके विस्तृत अध्ययन के लिए उसका अवलोकन आवश्यक है।

इस प्रसङ्ग में ग्रन्थकार के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि जिसप्रकार वृक्षों के समूह का कथन करने की दृष्टि से 'वन' कहकर एक संख्यासूचक शब्द का व्यवहार किया जाता है।

अथवा जिसप्रकार जल के कणों के समूह के कथन की इच्छा से 'जलाशय' कहते हैं। ठीक उसीप्रकार अनेक संख्या में प्रतीत होने वाले जीवों में स्थित अज्ञान के समूह को 'समष्टि' कहते हैं। वस्तुतः यह इन सभी में ऐक्य का सूचक भी है।

अपने कथन की पुष्टि में ग्रन्थकार ने 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां' इत्यादि श्रुतिवचन को उद्धृत किया है। इसका अभिप्राय है कि वह अज्ञान अथवा माया वस्तुतः एक ही है। जो प्रजाओं में अनेकरूपों को धारण करता है।

विशेष–(1) समष्टि– सम्+√अश् (व्याप्तौ संघाते च)+क्तिन्-सभी को व्याप्त करने वाला।

(2) व्यष्टि– वि+अश् (व्याप्तौ संघाते च)+क्तिन्–सीमितस्थान में रहने वाला।

(3) स्वामी रामतीर्थ ने समष्टि एवं व्यष्टि को क्रमशः सामान्य एवं विशेष अर्थ में प्रयुक्त माना है।

(4) वेदान्तदर्शन में समष्टि अर्थ में 'माया' तथा व्यष्टि के लिए 'अविद्या' शब्द का प्रयोग किया गया है। "सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते" (पञ्चदशी1/16)।

(5) यहाँ प्रयुक्त 'नानात्वेन' से अभिप्राय यह है कि जीव अनेक हैं तथा प्रत्येक जीव में अज्ञान की सत्ता पृथक्-पृथक् विद्यमान रहती है। अतः इस दृष्टि से ही यहाँ अज्ञान के अनेकत्व की परिकल्पना की गयी है।

(6) प्रस्तुत खण्ड के अभिप्राय को इसप्रकार सरलतापूर्वक समझा जा सकता है–

चित्र-२९

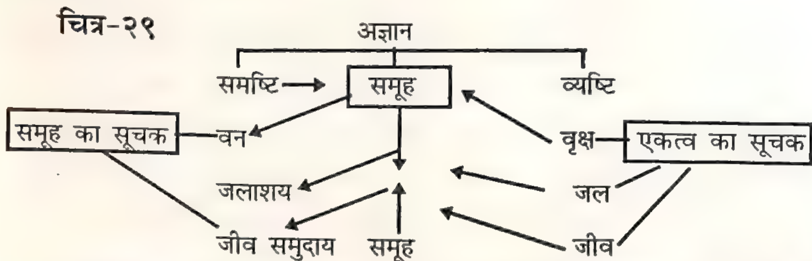

अवतरणिका–समष्टि-व्यष्टि एवं इस आधार पर अज्ञान के भेदों का कथन करने के पश्चात् समष्टिगत अज्ञान द्वारा की गई सृष्टिप्रक्रिया का उल्लेख करते हैं–

इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारण-मीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलाज्ञानावभासकत्वात्। "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इति श्रुतेः ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात्कारणशरीर-मानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः, सर्वोपरमत्वात्सु-षुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते।

पदच्छेद—इयम् समष्टिः उत्कृष्ट-उपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना। एतत् उपहितम् चैतन्यम् सर्वज्ञत्व-सर्वेश्वरत्व-सर्वनियन्तृत्व-आदि गुणकम् अव्यक्तम् अन्तर्यामी जगत्कारणम् ईश्वरः इति च व्यपदिश्यते, सकल-अज्ञान-अवभासकत्वात्। यः सर्वज्ञः सर्ववित् इति श्रुतेः।

ईश्वरस्य इयम् समष्टिः अखिलकारणत्वात्-कारणशरीरम्। आनन्दप्रचुरत्वात्-कोशवत् आच्छादकत्वात् च-आनन्दमयकोशः। सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिः। अतः एव स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्च-लयस्थानम्, इति च उच्यते।

अनुवाद—उत्कृष्ट उपाधियुक्त होने से यह समष्टि विशुद्धसत्त्वप्रधान गुणयुक्त है। इस उपाधि से युक्त चैतन्य सम्पूर्ण अज्ञान का प्रकाशक होने से सब कुछ जानने वाला, सबका ईश्वर, सबको नियन्त्रित करने वाला आदि गुणों से युक्त अव्यक्त, अन्तर्यामी, संसार का कारणरूप ईश्वर इत्यादि (नामों से कहा जाता है। 'जो सर्वज्ञाता सर्ववित् है' इत्यादि श्रुति (इसमें प्रमाण है)।

ईश्वर की यह समष्टि सम्पूर्ण (विश्वप्रपञ्च) का कारण होने से 'कारण शरीर।' आनन्द की प्रचुरता एवं कोश के समान आच्छादक होने से–'आनन्दमय कोश' तथा सभी कुछ विलीन होने से 'सुषुप्ति'। इसीकारण स्थूल एवं सूक्ष्मशरीरप्रपञ्च का 'लयस्थान' भी कहा जाता है।

'चन्द्रिका'—सामान्यतः अज्ञान त्रिगुणात्मक है। अर्थात् इसमें सत्त्व, रजस् और तमोगुण विद्यमान हैं, किन्तु अज्ञान की यह समष्टि उत्कृष्ट उपाधि युक्त होने के कारण विशुद्धसत्त्वगुण की प्रधानता वाली है, अर्थात् रजोगुण एवं तमोगुण विद्यमान होते हुए भी यहाँ सत्त्वगुण अपने विशुद्धरूप में प्रधानता लिये रहता है। इसी विशुद्धसत्त्वगुण की प्रधानता से उसमें उत्कृष्टता का आधान होता है और इससे आवृत्त हुआ परमब्रह्मरूप चैतन्य सभी कुछ जानने वाला होने से सर्वज्ञ, चराचर सम्पूर्णसृष्टि का स्वामी होने से सर्वेश्वर

तथा सभी पर नियन्त्रण करने वाला होने के कारण सर्वनियन्ता आदि गुणों से युक्त होता है।

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त इसमें अव्यक्त, अन्तर्यामी एवं सम्पूर्ण सृष्टि का एकमात्र कारण होना आदि विशेषताएँ भी विद्यमान रहती हैं। वेदान्तदर्शन विशुद्धसत्त्वप्रधान अज्ञान की इस उत्कृष्ट उपाधियुक्त चैतन्य को 'ईश्वर' इस नाम से सम्बोधित करता है। अतः स्पष्ट ही यहाँ शुद्धचैतन्य एवं ईश्वर में भिन्नता विद्यमान है, क्योंकि यही ईश्वर सम्पूर्ण अज्ञान का प्रकाशक है। इसी प्रसङ्ग में ग्रन्थकार 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतिवचन को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हैं।

तत्पश्चात् वेदान्त की दृष्टि से उत्कृष्ट उपाधियुक्त अज्ञान की सृष्टि का कथन करते हैं। जैसाकि पूर्व में बताया गया कि विशुद्धसत्त्वप्रधान अज्ञान की उत्कृष्ट उपाधि से आवृत्त शुद्धचैतन्य ही 'ईश्वर' संज्ञा प्राप्त करता है। इसी क्रम में सत्त्व की विशुद्धता के कारण तथा उपाधि की उत्कृष्टता से इसमें अनेक उत्कृष्टगुणों का आधान रहता है। ईश्वर की यही समष्टि वेदान्त के अनुसार सम्पूर्णप्रपञ्च का मुख्यकारण है, क्योंकि सम्पूर्णसृष्टि का क्रम इससे प्रारम्भ होता है। इसीलिए इसी ईश्वर को कारणशरीर भी कहते हैं।

इसके अतिरिक्त विशुद्धसत्त्वगुण की प्रधानता होने से इस कारणशरीर अथवा ईश्वर में आनन्द का प्राचुर्य विद्यमान रहता है तथा उत्कृष्ट उपाधि सम्पन्न यह अज्ञान, क्योंकि शुद्धचैतन्यरूप परमब्रह्म को कोश के समान ढके रखता है। अतः इन दोनों विशेषताओं के कारण इसी ईश्वर अथवा कारणशरीर को ही आनन्दमयकोश भी कहते हैं। साथ ही ज्ञान होने की स्थिति में इसी कारणशरीर में ही विपरीत क्रम में सूक्ष्मशरीर आदि विलीन हो जाते हैं। अतः इसी अवस्था को 'सुषुप्ति' भी कहा गया है।

इसके अलावा जितनी भी दृश्यमान स्थूल एवं सूक्ष्मसृष्टि है। जिसका विस्तृतवर्णन हम भूमिका में कर चुके हैं। प्रलयकालीन अवस्था में इसी ईश्वर में उसका भी लय हो जाता है। इसलिए वेदान्त इसे 'लयस्थान' भी कहता है। इस दृष्टि से उत्कृष्ट उपाधियुक्त अज्ञान की यह समष्टि विभिन्न-कार्यों एवं अवस्थाओं अथवा विशेषताओं के कारण एक होते हुए भी अनेक नामों से जानी जाती है।

विशेष–(1) वेदान्त के सृष्टिक्रम में ब्रह्म के पश्चात् ईश्वर का ही स्थान है।

(2) ईश्वर की अनेक विशेषताओं का प्रस्तुत गद्यखण्ड में उल्लेख किया गया है।

(3) प्रस्तुत गद्यखण्ड में ईश्वर को जगत् का कारण होने से कारणशरीर, आनन्द की प्रचुरता के कारण आनन्दमयकोष, सभी कुछ विलीन होने के कारण सुषुप्ति एवं लयस्थान कहा गया है।

(4) प्रस्तुत गद्यखण्ड के अभिप्राय को इसप्रकार भी समझा जा सकता है–

चित्र–३०

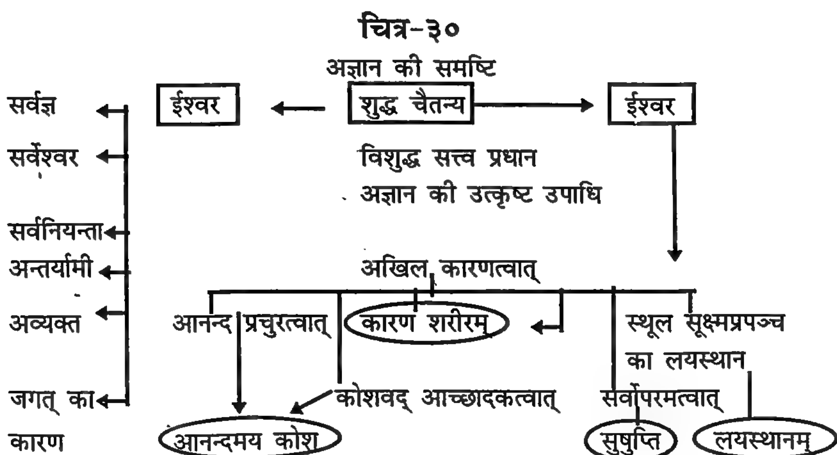

अवतरणिका–अज्ञान के समष्टिस्वरूप की व्याख्या एवं सृष्टिक्रम में इसकी भूमिका का कथन करने के उपरान्त इसके व्यष्टिस्वरूप को स्पष्ट करते हुए सृष्टिक्रम में इसके सहयोग का उल्लेख करते हैं–

यथा वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण जलानीति तथाज्ञानस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेश "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत" इत्यादिश्रुतेः। अत्र व्यस्तसमस्तव्यापित्वेन व्यष्टिसमष्टिताव्यपदेशः।

इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्य-मल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणकं प्राज्ञ इत्युच्यत एकाज्ञानावभासकत्वात्। अस्य प्राज्ञत्वमस्पष्टोपाधितयानतिप्रकाशकत्वात् अस्यापीयमहङ्कारादिकारणत्वात्

कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः, सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मशरीरप्रपञ्चलस्थानमिति चोच्यते॥७॥

पदच्छेद—यथा वनस्य व्यष्टि-अभिप्रायेण वृक्षाः, इति अनेकत्व व्यपदेशः। यथा वा जलाशयस्य व्यष्टि-अभिप्रायेण जलानि, इति। तथा अज्ञानस्य व्यष्टि-अभिप्रायेण तद्-अनेकत्व व्यपदेशः "इन्द्रः मायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्यादि श्रुतेः। अत्र व्यस्तसमस्तव्यापित्वेन व्यष्टिसमष्टिता व्यपदेशः।

इयम् व्यष्टिः निकृष्ट-उपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना। एतद् उपहितम् चैतन्यम्—अल्पज्ञत्व, अनीश्वरत्व आदिगुणकम् **प्राज्ञः** इति उच्यते, एक-अज्ञान अवभासकत्वात् अस्य प्राज्ञत्वम् अस्पष्ट-उपाधितया अनतिप्रकाशत्वात्। अस्य अपि इयम् अहंकार-आदिकारणत्वात्-**कारणशरीरम्**। आनन्दप्रचुरत्वात् कोशवद् आच्छादकत्वात् च **आनन्दमयकोशः**। सर्वोपरमत्वात् **सुषुप्तिः**, अतः एव स्थूल-सूक्ष्मशरीरप्रपञ्च-**लयस्थानम्** इति च उच्यते॥7॥

अनुवाद—जिसप्रकार वन के (वृक्षों में) व्यष्टि के अभिप्राय से 'वृक्ष' यह अनेकतासूचक व्यवहार होता है। अथवा जिसप्रकार जलाशय के (जल के लिए) व्यष्टि की दृष्टि से अनेकजल इसप्रकार (कहते हैं।) उसीप्रकार अज्ञान के व्यष्टिगतभेद को प्रदर्शित करने के अभिप्राय से उस (अज्ञान) की अनेकता का व्यवहार होता है। 'अज्ञानों के कारण आत्मा (इन्द्र) बहुत रूपों में प्रतीत होता है' इत्यादि श्रुति का वचन भी (इसमें प्रमाण है)। यहाँ व्यष्टिगत एवं समष्टिगत व्यापकता के कारण ही अनेकता (व्यष्टि) एवं एकतारूप (समष्टि) व्यवहार होता है।

(अज्ञान की) यह व्यष्टि निकृष्ट उपाधि से युक्त होने के कारण मलिन सत्त्वप्रधान होती है। इस (उपाधि) से युक्त चैतन्य अल्पज्ञता एवं अशक्तता आदि गुणों वाला होने से, व्यष्टिगत एक ही अज्ञान का प्रकाशक होने के कारण 'प्राज्ञ' इसप्रकार कहा जाता है। अस्पष्ट उपाधि से युक्त होने के कारण तथा एक से अधिक का प्रकाशक न होने से इसका प्राज्ञत्व (सिद्ध है।)

इस (जीव) की भी (व्यष्टिरूप) यह उपाधि, अहंकार आदि का कारणरूप होने से कारणशरीर तथा आनन्द की प्रचुरता एवं चैतन्य को कोश के समान ढक लेने के कारण आनन्दमयकोश। सबका उपरम (विलयन) होने से सुषुप्ति एवं स्थूल तथा सूक्ष्मशरीर आदि प्रपञ्च के विलय का अधिष्ठान होने के कारण 'लयस्थान' भी कहलाती है।

'चन्द्रिका'— अज्ञान के समष्टिस्वरूप की व्याख्या के पश्चात् प्रस्तुत गद्यखण्ड में उसके व्यष्टिस्वरूप की विस्तृत व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—'जिसप्रकार किसी वन में स्थित वृक्षों को अलग-अलग कहने की भावना से अनेकता को सूचित करने वाला 'वृक्ष' यह शब्द व्यवहार में लाया जाता है। ठीक इसीप्रकार जलाशय में स्थित जल को उसके अवयवों को अलग-अलग कहने की दृष्टि से 'अनेकजल' इसप्रकार प्रयोग करते हैं। उसीप्रकार अज्ञान के व्यष्टिरूप को भी 'अनेकअज्ञान' इसप्रकार कहकर उसमें बहुत्व का व्यवहार किया जाता है, क्योंकि अज्ञानों के व्यष्टिगतभेद को प्रदर्शित करना ही अज्ञान के अनेकत्व के व्यवहार का मुख्य आधार है।

अपनी बात की पुष्टि में ग्रन्थकार श्रुतिवचन को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि 'अज्ञान के कारण ही यह इन्द्र अर्थात् आत्मा अनेकरूपों वाला प्रतीत होता है।' यहाँ प्रयुक्त इन्द्र शब्द ईश्वर या आत्मतत्त्व का वाचक माना गया है। माया यहाँ अज्ञान के लिए आया है। यों भी माया, ईश्वर की शक्ति कही गई है। इस दृष्टि से उक्त श्रुतिवचन का अभिप्राय हुआ—'यद्यपि सृष्टि का कारणरूप वह ईश्वर एक ही है, किन्तु अज्ञान के कारण वह संसार के बहुत से जीवों में स्थित होकर ठीक उसीप्रकार अनेकरूपों में भासित होता है, जैसे—एक ही चन्द्रमा जल की लहरों में हमें अनेकरूपों वाला होकर प्रतिभासित होता है।'

इसप्रकार स्पष्ट है कि व्यष्टि अर्थात् अनेकता एवं समष्टि अर्थात् एकता इन दोनों के व्यवहार का एकमात्र आधार इनका व्यष्टिगत एवं समष्टिगत व्यापकभाव ही है, अन्य कुछ नहीं। संसार के सभी जीवों के अज्ञान को एक ज्ञान का विषय मानकर समष्टिरूप में देखा जाता है। जबकि व्यष्टिगत अज्ञान में समस्तजीवों के भिन्न-भिन्नरूप को भिन्न-भिन्न अज्ञानों का विषय मानकर अलग-अलग देखा जाता है।

इस बात को एक उदाहरण द्वारा इसप्रकार समझा सकते हैं—मिट्टी द्वारा निर्मित कुल्हड़, घड़ा, सकोरा, दीपक इत्यादि अनेकरूपों में एकमात्र मिट्टी ही अपने व्यापकरूप में समानरूप से विद्यमान है। अतः जब हम इसे समष्टिरूप में कहना चाहेंगे तो 'सर्वत्र मिट्टी ही है' ऐसा व्यवहार करेंगे, किन्तु व्यष्टिरूप की विवक्षा में 'इन्हें घड़ा आदि अलग-अलग नामों' से ही कहा जाएगा। ठीक इसीप्रकार अज्ञान की एकरूपता (समष्टि) तथा अनेकरूपता (व्यष्टि) को भी समझना चाहिए।

तत्पश्चात् अज्ञान की इस व्यष्टि की अन्य विशेषताओं का कथन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि – व्यष्टिरूप अज्ञान में भी यद्यपि सत्त्व, रजस् और तमोगुण की स्थिति विद्यमान रहती है, किन्तु यहाँ स्थित सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण द्वारा पराभूत अथवा अभिभूत होने से मलिन होता है। इसीलिए इसे जीव की 'निकृष्ट उपाधि' कहा गया है।

उपर्युक्त कथन को हम उदाहरण द्वारा इसप्रकार समझा सकते हैं–जिसप्रकार धूलि आदि के कण पड़ने से स्वच्छदर्पण की प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की शक्ति घट जाती है, ठीक उसीप्रकार रजोगुण एवं तमोगुण से अभिभूत होने के कारण सत्त्वगुण चितस्वरूप के प्रतिबिम्ब को स्पष्टतया प्रकाशित करने में समर्थ नहीं होता है और यही जीव के अल्पज्ञत्व का हेतु भी माना जाता है।

दूसरे शब्दों में व्यष्टिगत अज्ञान में उपाधि की इस निकृष्टता के कारण ही अज्ञान की उत्कृष्ट उपाधि से युक्त ईश्वर की अपेक्षा जीव अधिक निकृष्ट होता है। साथ ही वह उत्कृष्ट उपाधियुक्त अज्ञान का स्वामी होने के कारण सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता आदि गुणों से युक्त कहा गया है, जबकि निकृष्ट उपाधिभूत अज्ञान अथवा माया के अधीन होने के कारण यह जीव अल्पज्ञ एवं अल्पसामर्थ्य वाला कहा जाता है। इस जीव के ज्ञान पर अज्ञान का आवरण पड़ा रहने के कारण ही यह निकृष्ट होता है। इसीकारण इसमें अहङ्कार विद्यमान रहता है तथा आत्मा के अतिरिक्त वस्तुओं का आभास भी इसी अज्ञानरूप आवरण की निकृष्ट उपाधि के कारण होता है।

पुनः ग्रन्थकार कहते हैं कि इस निकृष्ट उपाधि से आवृत्त चैतन्य को उसके अल्पज्ञ, अनीश्वरत्व आदि गुणों से युक्त होने से तथा एक ही व्यष्टिरूप अज्ञान का प्रकाशक होने के कारण विद्वान् आचार्य इसे 'प्राज्ञ' इस नाम से सम्बोधित करते हैं। इस प्रसङ्ग में यह बात स्मरणीय है कि–यहाँ प्राज्ञ की प्रकर्षेण जानाति, इति प्रज्ञः, प्रज्ञः एवं प्राज्ञः, प्रकृष्टज्ञान युक्त इसप्रकार व्युत्पत्ति न करके प्रकर्षेण अज्ञः, इति इसप्रकार व्युत्पत्ति करके, इसका अत्यधिक अज्ञानी अर्थ करना चाहिए, क्योंकि इसके अल्पज्ञ आदि विशेषणों के साथ यही व्युत्पत्ति एवं अर्थ संगत प्रतीत होता है।

प्रांज्ञ के प्रकृष्ट अज्ञानी होने में ग्रन्थकार दो हेतु प्रस्तुत करते हैं–(1) अस्पष्ट उपाधि से युक्त होने से तथा (2) एक से अधिक अर्थात् अनेक का प्रकाशक न होने के कारण, इसे प्राज्ञ कहते हैं। यहाँ रजोगुण एवं

तमोगुण द्वारा सत्त्वगुण के अभिभूत होने के कारण व्यष्टिरूप उपाधि को 'अस्पष्ट' कहा गया है। ठीक उसीप्रकार जैसे दर्पण धूलकणों से आच्छादित होकर अस्पष्ट प्रतिबिम्ब वाला हो जाता है, क्योंकि निकृष्ट उपाधिभूत अज्ञान के मलिन होने के कारण उसमें चिद्स्वरूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब स्पष्ट प्रतीत नहीं होता है। यही इसका अज्ञत्व है। इसीको वेदान्त ने चिदाभास भी कहा है।

तत्पश्चात् ग्रन्थकार व्यष्टिगत अज्ञान अर्थात् जीव की दृष्टि से भी सृष्टि के विकास की प्रथम दशा का कथन करते हुए कहते हैं कि–निकृष्ट उपाधियुक्त यह व्यष्टि वेदान्त की दृष्टि से अहंकार आदि का कारण होने से 'कारणशरीर' कहलाती है। यहाँ प्रयुक्त अहंकार से अभिप्राय अन्तःकरण से ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में अन्तःकरण ही अज्ञान में विलीन होता है।

आनन्द की अधिकता एवं शुद्धचैतन्य को गोलक अर्थात् कोश के समान ढक लेने से यही आनन्दमयकोश भी कहलाता है, क्योंकि सुषुप्तिकाल में जीव, स्वप्न एवं जाग्रत दोनों के विलीन होने पर एकमात्र सुख का ही अनुभव करता है। कैवल्योपनिषद् का भी इस विषय में कथन है–

'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति'

इसीप्रकार सभी का उपरमण होने के कारण इसे सुषुप्ति एवं समस्त दृश्यमान स्थूलप्रपञ्च का एवं न दिखायी देने वाले सूक्ष्मप्रपञ्च का लयस्थान होने के कारण इसीको 'लयस्थान' संज्ञा द्वारा भी अभिहित किया जाता है।

विशेष–(1) प्रस्तुत गद्यखण्ड में व्यष्टि की दृष्टि से अज्ञान एवं उसकी सृष्टि पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

(2) जिसप्रकार अज्ञान की समष्टिरूप ईश्वर कारणशरीर, आनन्दमय कोश, सुषुप्ति एवं लयस्थान आदि कहलाता है। ठीक उसीप्रकार व्यष्टिरूप अज्ञान में भी निकृष्ट उपाधि होने पर भी वही स्थितियां आती हैं, क्योंकि इन दोनों में चैतन्यरूपतत्त्व एक ही रहता है। उपाधि की उत्कृष्टता एवं निकृष्टता के कारण ही अन्तर दिखायी देता है।

(3) जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में व्यक्ति को सुख के साथ-साथ दुःख की अनुभूति भी होती है, किन्तु सुषुप्ति में केवल सुख का अनुभव होता है।

(4) पूर्ववत् प्रस्तुत गद्यखण्ड के अभिप्राय को भी इसप्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं।

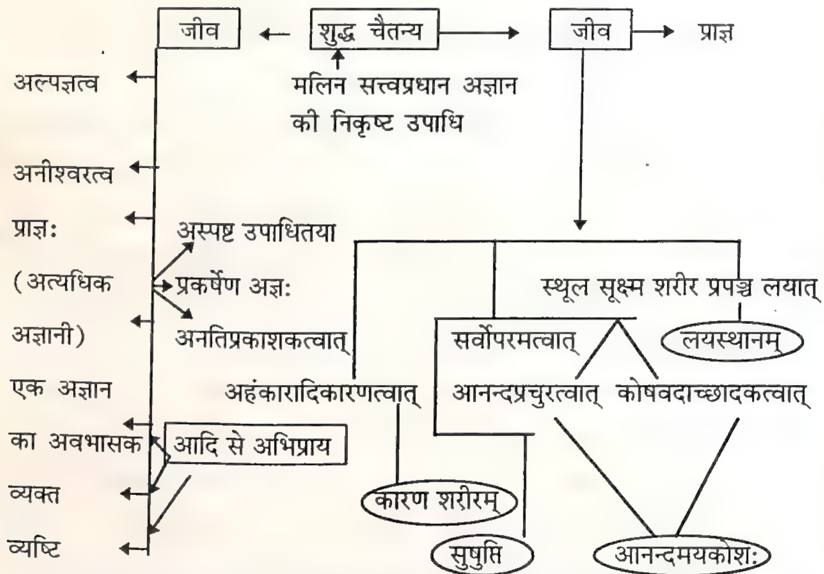

अवतरणिका—समष्टि, व्यष्टिविषयक अज्ञान का निरूपण करने के पश्चात् इन दोनों में उदाहरणपूर्वक अभेद का प्रतिपादन करते हैं—

तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञान-वृत्तिभिरानन्दमनुभवत "आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञ" इति श्रुतेः सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमित्युत्थितस्य परामर्शोपपत्तेश्च। अनयोः समष्टिव्यष्ट्योर्वनवृक्षयोरिव जलाशयजलयोरिव वाभेदः। एतदुपहित-योरीश्वरप्राज्ञयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशयजलगतप्रति-बिम्बाकाशयोरिव वाभेद "एष सर्वेश्वर" इत्यादि श्रुतेः॥८॥

पदच्छेद— तदानीम् एतौ ईश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिः अतिसूक्ष्माभिः अज्ञानवृत्तिभिः आनन्दम् अनुभवतः 'आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः" इति श्रुतेः। सुखम् अहम् अस्वाप्सम्, न किञ्चिद् अवेदिषम् इति, उत्थितस्य परामर्श-उपपत्तेः अनयोः समष्टिव्यष्ट्योः वन-वृक्षयोः इव जलाशयजलयोः इव वा अभेदः। एतत् उपहितयोः ईश्वरप्राज्ञयोः अपि वनवृक्ष-अवच्छिन्न-आकाशयोः इव, जलाशयजलगतप्रतिबिम्बित-आकाशयोः इव वा अभेदः।" एषः सर्वेश्वरः इत्यादि श्रुतेः॥8॥

अनुवाद–उससमय ईश्वर और जीव ये दोनों चैतन्य से प्रदीप्त अत्यन्त सूक्ष्म अज्ञानरूप वृत्तियों द्वारा आनन्द का अनुभव करते हैं। "चेतोमुखी प्राज्ञ आनन्द को भोगता है।" इत्यादि श्रुति का (वचन यहाँ प्रमाण है)। मैं सुखपूर्वक सोया, मुझे (इस बीच) कुछ भी पता नहीं लगा' इत्यादि वाक्यों से सोकर उठने के बाद अपने पूर्वानुभूत सुख को अभिव्यक्त करता है।

वन एवं वृक्ष अथवा जलाशय और जल इन दोनों समष्टिव्यष्टि के समान इन दोनों (समष्टिव्यष्टिरूप अज्ञानोपाधियों) में भी अभेद विद्यमान है। वन एवं वृक्ष से अवच्छिन्न (ढका हुआ) आकाश के समान अथवा जलाशय एवं जल में प्रतिबिम्बित आकाश के समान ही इन (समष्टि व्यष्टिगत अज्ञान की उपाधियों से) उपहित ईश्वर एवं प्राज्ञ में भी अभेद विद्यमान है। "यह (आत्मा) सबका स्वामी है" इत्यादि श्रुति का (कथन भी यहाँ प्रमाण है)।

'चन्द्रिका'–इससे पूर्व के खण्ड में ग्रन्थकार ने कहा कि प्रलयकाल एवं सुषुप्ति अवस्था में ईश्वर एवं प्राज्ञ दोनों ही आत्मानन्द का अनुभव करते हैं तथा आनन्द का प्राचुर्य होने के कारण इसे 'आनन्दमयकोश' भी कहा जाता है, किन्तु इस प्रसङ्ग में एक शङ्का होती है कि जब प्रलय एवं सुषुप्ति अवस्था में न तो अन्तःकरण का अस्तित्व रहता है और न ही उसकी कोई वृत्ति विद्यमान रहती है, जिसके द्वारा ईश्वर अथवा प्राज्ञ आत्मानन्द का अनुभव कर सकें तो फिर भला ये दोनों इस अवस्था में आनन्द का अनुभव किसप्रकार करते हैं?

इसी शङ्का के समाधान के लिए ग्रन्थकार ने प्रस्तुत खण्ड के प्रारम्भ में कहा कि ये दोनों शुद्धचैतन्य द्वारा प्रकाशित अज्ञान की अत्यधिक सूक्ष्म वृत्तियों द्वारा, प्रलयकाल एवं सुषुप्ति अवस्था में भी स्वरूपानन्द का अनुभव करते हैं। अतः इस विषय में शङ्का किया जाना उचित नहीं है। अपने कथ्य की पुष्टि में ग्रन्थकार ने माण्डूक्योपनिषद् के आनन्दभुक् इत्यादि श्रुतिवचन एवं 'सुखमहं स्वाप्सं' इत्यादि अनुभववाक्य उद्धृत किए हैं।

वस्तुतः सुषुप्तिदशा में अथवा प्रलयकाल में बाह्यसाधनों अन्तःकरण आदि का अभाव होने के कारण, यद्यपि आत्मा को बाह्यविषयों का ज्ञान नहीं होता है, किन्तु ज्ञान, जीवात्मा का स्वाभाविकगुण होने के कारण उसे आनन्द का अनुभवरूप आन्तरिकज्ञान इस अवस्था में भी रहता है, क्योंकि आत्मा से ज्ञान को कभी भी, किसी भी अवस्था में उसीप्रकार अलग नहीं किया जा सकता है, जिसप्रकार अग्नि से उसकी उष्णता को किसी भी प्रकार पृथक् नहीं किया जा सकता है, आत्मा तो वस्तुतः चित्स्वरूप है।

वेदान्त के अनुसार– अज्ञान से उत्पन्न अन्तःकरण की वृत्तियों द्वारा ही जीव स्वप्न एवं जाग्रत अवस्था में अनुभूति एवं भोग आदि क्रियाओं को सम्पादित करता है। यद्यपि सुषुप्ति अवस्था में यह अन्तःकरण विपरीत क्रम में अपने कारणरूप अज्ञान में ही विलीन हो जाता है तथापि इस अवस्था में भी चैतन्य द्वारा प्रकाशित अज्ञान की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं, जिनके द्वारा ईश्वर एवं प्राज्ञ अर्थात् जीव स्वरूपानन्द का अनुभव करते हैं। अतः यहाँ किसीप्रकार की विसंगति की परिकल्पना नहीं करनी चाहिए।

तत्पश्चात् श्रुतिवचन एवं अनुभववाक्य को स्पष्ट करते हैं। 'चेतोमुखप्राज्ञ आनन्द का भोग करता है' यह श्रुतिवचन माण्डूक्योपनिषद् में आया है। यहाँ प्रयुक्त 'चेतोमुख' का विद्वन्मनोरञ्जिनीकार ने–'चैतन्य प्रदीप्त अज्ञान वृत्तियों को ही मुख्यरूप से अपनाने वाला' अर्थ किया है। अर्थात् शुद्धचैतन्यब्रह्म के प्रकाश से प्रकाशित अज्ञानवृत्तिप्रधान समष्टि एवं व्यष्टिरूप ईश्वर एवं जीव सुषुप्ति-अवस्था एवं प्रलयकाल में भी आनन्द का अनुभव करते हैं। यहाँ प्रयुक्त आनन्दभुक् से अभिप्राय है–आनन्द का अनुभव करने वाला।

'प्राज्ञ' शब्द यहाँ ईश्वर एवं जीव दोनों अर्थों में प्रयुक्त माना जा सकता है। 'प्रकृष्टेन जानाति इति प्राज्ञः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका सर्वज्ञरूप ईश्वर अर्थ कर सकते हैं तथा 'प्रकर्षेण अज्ञः' इति प्राज्ञः इत्यादि व्युत्पत्ति के अनुसार प्रकृष्ट अज्ञानी अर्थात् जीव अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है। अतः दोनों अर्थों की संगत्ति उचित है। यों भी ईश्वर और जीव दोनों ही सुषुप्ति अवस्था में आनन्द का अनुभव करते ही हैं।

'मैं सुखपूर्वक सोया, इस बीच मैं कुछ भी नहीं जान सका' इत्यादि अनुभववाक्य सर्वसाधारण द्वारा प्रतिदिन अनुभव में आता ही है। उस गहन निद्रा में जीव को यद्यपि अन्य बातों का ज्ञान नहीं था, किन्तु उस स्थिति में भी उसे इस बात का भान अवश्य था कि मैं आनन्द में हूँ, जिसे उसने सोकर उठने के बाद अभिव्यक्त किया। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा अन्तःकरण के अभाव में भी आनन्द का अनुभव कर सकता है।

प्रस्तुत खण्ड के द्वितीय अंश में ग्रन्थकार ने समष्टिव्यष्टिरूप अज्ञान एवं ईश्वर तथा प्राज्ञ की एकता का सोदाहरण प्रतिपादन किया है। तदनुसार समष्टिरूप अज्ञान से उपहित चैतन्य की 'ईश्वर' तथा व्यष्टिरूप अज्ञानों से उपहित चैतन्य की जीव अथवा 'प्राज्ञ' संज्ञा है। यद्यपि स्थूलदृष्टि से देखने पर ईश्वरगत समष्टिरूप अज्ञान तथा जीवगत व्यष्टिमूलक अज्ञान में भेद प्रतीत होता है, किन्तु यह वास्तविकभेद नहीं है, क्योंकि समष्टि-व्यष्टिरूप

उपर्युक्त दोनों प्रकार के अज्ञान वस्तुतः उसीप्रकार एक हैं, जिसप्रकार वनगत आकाश एवं वृक्षगत आकाश में भिन्नता प्रतीत होते हुए भी दोनों एक हैं।

इन दोनों के ऐक्य को समझाने के लिए ग्रन्थकार अन्य उदाहरण देते हुए कहते हैं कि–जलाशय में प्रतिबिम्बित होने वाले आकाश एवं जल की एक बूँद में प्रतिबिम्बित होने वाले आकाश में तात्त्विकदृष्टि से कोई भेद नहीं है। ठीक उसीप्रकार ईश्वर स्थित समष्टिगत अज्ञान एवं जीवस्थित व्यष्टिगत अज्ञान में भी कोई वास्तविकभेद नहीं है। अतः इस दृष्टि से ईश्वर और प्राज्ञ में भी कोई भेद नहीं है।

प्रतीत होने वाला भेद वस्तुतः वैसा ही है, जैसाकि स्वर्णपिण्ड एवं उससे बने कटक–कुण्डल आदि में होता है। जिसप्रकार स्वर्णरूप कारण तथा उससे बनाए गए कटककुण्डल आदि कार्य, दोनों में यद्यपि भिन्नता दिखायी देती है, किन्तु कार्यकारणरूप भेद को दूर करने पर यह भिन्नता समाप्त हो जाती है तथा दोनों स्थलों पर स्वर्णरूप ऐक्यभाव की प्रतीति होती है।

ठीक उसीप्रकार समष्टिरूप ईश्वर में स्थित शुद्धसत्त्वप्रधान अज्ञान तथा व्यष्टिरूप जीव अथवा प्राज्ञ के मलिनसत्त्वप्रधान अज्ञान में से विशेषणरूप शुद्धसत्त्वप्रधान एवं मलिनसत्त्वप्रधान को हटा देने पर दोनों में शुद्धचैतन्यरूप परमब्रह्म ही विद्यमान रहता है। यही इन दोनों अर्थात् ईश्वर एवं जीव का ऐक्य है। जिसे ग्रन्थकार ने वनगत आकाश, वृक्षगत–आकाश तथा जलाशय में प्रतिबिम्ब आकाश तथा जल में प्रतिबिम्बित आकाश के ऐक्य द्वारा समझाने का प्रयास किया है।

अपने इस कथन की पुष्टि में ग्रन्थकार माण्डूक्योपनिषद् के 'एष सर्वेश्वर' इति वचन को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हैं। जहाँ प्राज्ञ को ही सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, सभी जीवों की उत्पत्ति एवं प्रलय का स्थान सभी का कारण बताया गया है–

"एष सर्वेश्वरः एषः सर्वज्ञः एषः अन्तर्यामि, एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।"

विशेष – (1) यहाँ प्रयुक्त 'प्राज्ञ' शब्द चैतन्य की प्रधानता से ईश्वर एवं जीव दोनों अर्थों का वाचक है। शङ्कराचार्य ने 'चेतोमुख' का 'स्वप्न आदि अवस्था में अज्ञानरूप चेतना के प्रति द्वाररूप' अर्थ किया है।

(2) वेदान्त ज्ञान को अन्तःकरण की स्थितिविशेष के रूप में मानता है। इनके अनुसार सांसारिक सुख एवं दुःख की अनुभूति भी एक मानसिक दशा ही है तथा अन्तःकरण की इस वृत्ति का उद्भव अज्ञान से होता है। सुषुप्ति की अवस्था में इन वृत्तियों का अज्ञान में विलय हो जाता है।

(3) चैतन्य से प्रकाशित विलीन हुई ये अन्तःकरण की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियाँ ही कारणशरीर या सुषुप्ति अवस्था में ईश्वर एवं जीव को आनन्द का अनुभव कराने में सहायक होती हैं।

(4) चैतन्य से आलोकित अज्ञान की ये वृत्तियाँ स्वप्न एवं जाग्रत अवस्था में अन्तःकरण के रूप में विकसित होती हैं, किन्तु सुषुप्ति अवस्था में इनका निर्माण नहीं होता, अपितु वहाँ ये बीज में वृक्ष के समान सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूप में विद्यमान रहती हैं।

(5) प्रस्तुत गद्यखण्ड के अभिप्राय को हम इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र-३२

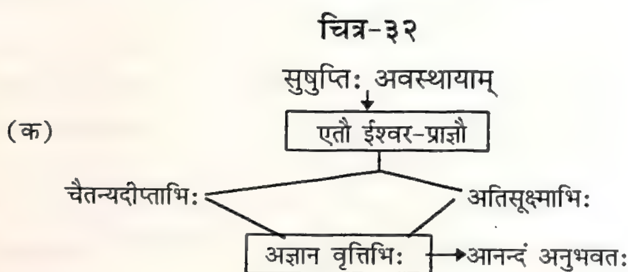

चित्र-३३

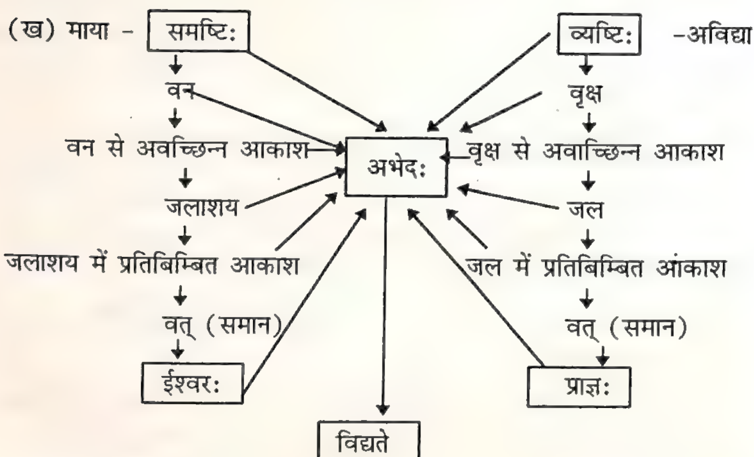

अवतरणिका– तदनन्तर ईश्वर एवं प्राज्ञ से भिन्न चतुर्थ शुद्धचैतन्य अथवा तुरीय के विषय में कहते हैं–

वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयजलतद्गतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वाधारभूतानुपहिताकाशवदनयोरज्ञानतदुपहितचैतन्ययोराधारभूतं यदनुपहितं चैतन्यं

तत्तुरीयमित्युच्यते "शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्त" इत्यादिश्रुतेः। इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायः पिण्डवदविविक्तं सन्महावाक्यस्य वाच्यं विविक्तं सल्लक्ष्यमिति चोच्यते॥९॥

पदच्छेद—वन-वृक्ष-तद्-अवच्छिन्न-आकाशयोः जलाशय-जल- तद्गत-प्रतिबिम्ब- आकाशयोः वा आधारभूत-अनुपहित-आकाशवद् अनयोः अज्ञान तद् उपहित चैतन्ययोः आधारभूतम् यद् अनुपहितम् चैतन्यम्, तत् **तुरीयम्** इति उच्यते। "शिवम् अद्वैतम् चतुर्थम् मन्यते" इत्यादि श्रुतेः।

इदम् एव तुरीयम् शुद्धचैतन्यम् अज्ञान-आदि, तद् उपहित चैतन्याभ्याम् तप्त-अयः पिण्डवद् अविविक्तम् सन् महावाक्यस्य वाच्यम्, विविक्तम् सत् लक्ष्यम् इति च उच्यते।।9।।

अनुवाद—वन में स्थित आकाश एवं वृक्ष में स्थित आकाश अथवा जलाशय एवं जल में प्रतिबिम्बित होने वाले दोनों आकाशों के आधार, उपाधिरहित महा आकाश के समान, समष्टिव्यष्टिगत इन दोनों अज्ञानों एवं इनकी उपाधियों से युक्त ईश्वर और प्राज्ञ दोनों चैतन्यों का आधार उपाधिरहित शुद्धचैतन्य है। वही 'तुरीय' इस नाम से भी कहा जाता है। 'अद्वैतब्रह्म को ही चतुर्थ मानते हैं' इत्यादि श्रुतिवचन (इसमें प्रमाण है)।

यही 'तुरीय' उपाधिरहित शुद्धचैतन्य (ब्रह्म), अज्ञान आदि एवं उनकी उपाधि से युक्त दो चैतन्यों (ईश्वर और जीव) के साथ 'तप्त लोहपिण्ड के समान' जो एकत्वसूचक व्यवहार होता है। वही महावाक्य (तत्त्वमसि) का वाच्यार्थ है। जो अनेकत्व की विवक्षा होने पर (महावाक्य) का लक्ष्यार्थ इसीरूप में कहा जाता है।

'चन्द्रिका'—यहाँ तक वर्णित समष्टिगत अज्ञान, व्यष्टिगत अज्ञान एवं इन दोनों की उपाधियों से युक्त ईश्वर एवं प्राज्ञरूप चैतन्य, इन सभी का मुख्य आधार उपाधिरहित शुद्धचैतन्यरूप ब्रह्म को बताते हुए उदाहरण देकर समझाते हैं कि जिसप्रकार समष्टिरूप वन में स्थित अनेकवृक्षों से आच्छादित आकाश तथा व्यष्टिरूप वृक्ष के द्वारा आच्छादित आकाश, इसीप्रकार समष्टिरूप जलाशय में प्रतिबिम्बित आकाश एवं जल की व्यष्टि, एक बूँद में प्रतिबिम्बित आकाश, इन सभी का आधार समस्तप्रकार की उपाधियों से रहित महा आकाश है। ठीक उसीप्रकार समष्टिव्यष्टिगत अज्ञान एवं इन दोनों उपाधियों से विशिष्ट ईश्वर एवं प्राज्ञरूप चैतन्यों का एकमात्र आधार

विशुद्धचैतन्य परमब्रह्म ही है। इसीको वेदान्त ने 'तुरीय' अर्थात् चतुर्थ संज्ञा प्रदान की है।

परमविशुद्धचैतन्य को 'तुरीय' कहने पर विभिन्न आचार्यों ने अलग-अलग मत प्रस्तुत किए हैं। जैसे (1) शङ्कराचार्य के अनुसार प्राज्ञ, तेजस् और विश्व की अपेक्षा चतुर्थ होने के कारण इसे 'तुरीय' कहा जाता है। (2) सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत इन तीन अवस्थाओं से भिन्न अर्थात् चतुर्थ होने के कारण इसे 'तुरीय' कहते हैं। (3) आपदेव ने अविद्या, ईश्वर और प्राज्ञ की अपेक्षा चतुर्थ होने से इसे 'तुरीय' माना है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उक्त सभी का प्रतिपादन किया गया है। अतः इन सभी दृष्टियों से शुद्ध चैतन्य का 'तुरीय' नाम उचित ही है।

इसी क्रम में अपने कथन की पुष्टि में ग्रन्थकार 'शिवम्' इत्यादि श्रुतिवचन प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हैं। 'शिव' शब्द यहाँ परमब्रह्म शुद्ध चैतन्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। सभी वेदान्तशास्त्रों ने प्रायः विशुद्ध ब्रह्म अथवा अद्वैत ब्रह्म को ही चतुर्थ माना है। प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को चित्र के माध्यम से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है–

चित्र-३४

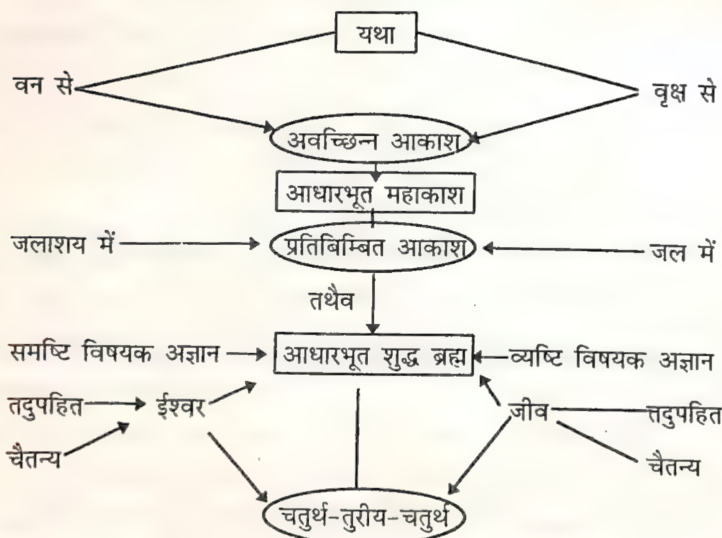

तत्पश्चात् प्रस्तुत खण्ड के द्वितीय अंश को स्पष्ट करते हैं–

जैसाकि अनुबन्धचतुष्टय में विषय नामक अनुबन्ध का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार ने कहा कि जीव और ब्रह्म की एकता प्रतिपादित करना ही इस ग्रन्थ का विषय है–'विषयो जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्।" किन्तु अज्ञान की समष्टिव्यष्टि के विवेचन में मुख्य प्रतिपाद्यविषय कहीं विस्मृत न हो जाए, इस दृष्टि से ग्रन्थकार प्रस्तुत गद्यखण्ड में विशुद्धसत्त्वप्रधान अज्ञान से आच्छादित समष्टिरूप ईश्वर एवं मलिनसत्त्वप्रधान अज्ञान से आच्छादित व्यष्टिरूप जीव या प्राज्ञरूप चैतन्य तथा तुरीयरूप विशुद्धचैतन्य, परमब्रह्म ये तीनों तात्त्विकदृष्टि से एक हैं, क्योंकि इन तीनों में चैतन्य समानरूप से विद्यमान है। ऐसा कहकर ब्रह्म और जीव की एकता प्रतिपादित करते हैं।

इसी अभिप्राय को समझाने के लिए ग्रन्थकार 'तप्तायः पिण्ड' का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। किसी लोहे के टुकड़े को आग में गर्म करके पूरी तरह लाल कर लेते हैं। इस स्थिति में लोहे के भार आदि पार्थिव अंश के विद्यमान रहते हुए भी इसमें अग्नि के गुण दाहकता आदि से युक्त होने के कारण, इसे हम आग का गोला भी कहते हैं, किन्तु उससे जलने पर 'लोहे के टुकड़े से जल गया' इसप्रकार व्यवहार करते हैं। यहाँ अग्नि लोहे में व्याप्यव्यापकभाव से विद्यमान होने से दोनों की अभिन्नता का प्रतिपादन वाच्यार्थ होगा।

प्रस्तुत अंश के अभिप्राय एवं ग्रन्थ के अन्त में प्रतिपादित महावाक्यों के आशय को समझने के लिए हमें पहले तीन शब्दशक्तियों को समझना होगा–(1) अभिधा (2) लक्षणा और (3) व्यञ्जना। इनमें **अभिधा**-शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ को कहती है। जैसे– गंगायां घोषः उदाहरण में इसका साक्षात् संकेतित अर्थ है–'जल प्रवाह में बस्ती' (घोष)। यह संकेतित अर्थ मुख्यार्थ या वाच्यार्थ कहलाएगा; जिसका प्रतिपादन अभिधा शब्दशक्ति के माध्यम से किया जाता है।

मुख्य अर्थ का बाध होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन द्वारा लक्षणा शब्द शक्ति अन्य अर्थ की प्रतीति कराती है, जिसे लक्ष्यार्थ कहा जाता है। जैसे–उपर्युक्त उदाहरण 'गंगायां घोषः' में बस्ती का जलप्रवाह में रहना असम्भव होने से मुख्यार्थबाध हुआ। अतः प्रयोजनवश लक्षणा शब्दशक्ति द्वारा हमें तत्सम्बद्ध अन्य 'तट' रूप अर्थ की प्रतीति होती है तथा यह तटरूप अर्थ ही लक्ष्यार्थ कहलाता है। तत्पश्चात् व्यञ्जना शब्दशक्ति द्वारा उस बस्ती में शीतत्व पावनत्व की प्रतीति करायी जाती है। यह शीतत्व पावनत्व रूप अर्थ व्यङ्ग्यार्थ कहलाएगा।

'तपे हुए लोहे के टुकड़े' (तप्तायः पिण्ड) रूप प्रस्तुत उदाहरण में दाहकता अग्नि का धर्म है जो लोहे के टुकड़े में समा गया है। इसलिए

लोहपिण्ड और अग्नि इन दोनों की अभिन्नता यहाँ वाच्यार्थ मानी जाएगी, जिसकी प्रतीति में अभिधा शब्दशक्ति सहायक होती है। जबकि यहाँ 'अय: पिण्ड' द्वारा अपने से सम्बद्ध अग्नि का लक्षणा शब्दशक्ति द्वारा बोध कराया जाता है। अत: लोहपिण्ड एवं अग्नि में भिन्नता की प्रतीति का लक्षणा शब्दशक्ति द्वारा बोध कराया जाता है। अत: लोहपिण्ड और अग्नि में भिन्नता की प्रतीति लक्षणा शब्दशक्ति द्वारा होगी तथा इन दोनों की यह भिन्नता ही यहाँ लक्ष्यार्थ कहलाएगी।

ठीक इसीप्रकार तत्त्वमसि इत्यादि महाकाव्य में अज्ञानोपहित चैतन्य एवं तुरीयरूप चैतन्य में अभिन्नता का प्रतिपादन वाच्यार्थ होगा तथा इन दोनों की भिन्नता की प्रतीति कराना ही यहाँ लक्ष्यार्थ कहलाएगा, जिसकी प्रतीति कराने में लक्षणा शब्दशक्ति सहायक होगी।

ग्रन्थ के अन्त में प्रतिपादित महावाक्यों 'तत्त्वमसि' इत्यादि में इन तीनों की इस एकता का प्रतिपादन ही वाच्यार्थरूप में किया गया है। इसके अतिरिक्त ईश्वर एवं प्राज्ञरूप चैतन्य की अपेक्षा विशुद्धचैतन्य की भिन्नता का प्रतिपादन ही इस महावाक्य या महावाक्यों का लक्ष्यार्थ माना जाएगा।

विशेष–(1) साहित्यदर्पणकार ने लक्षणा का लक्षण इसप्रकार किया है–

"मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थ: प्रतीयते।
रूढे: प्रयोजनाद्वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता।।"

(2) तुरीय–चतुर+छ (चतुरश्छयतावाद्याक्षर लोपश्च) वार्तिक से च लोप।

(3) प्रस्तुत खण्ड के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

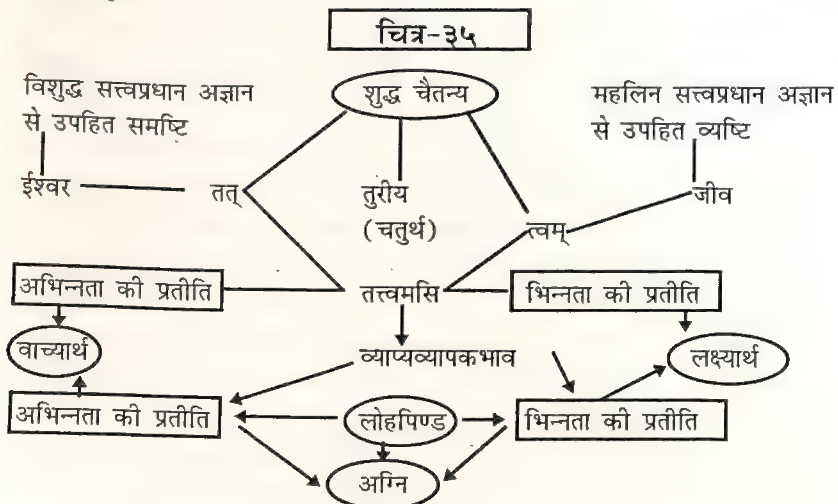

अवतरणिका—तुरीय अर्थात् शुद्धचैतन्य की विशेषताओं का कथन करने के पश्चात् ग्रन्थकार अज्ञान की आवरण एवं विक्षेप नामक दो शक्तियों का सोदाहरण उल्लेख करते हैं—

अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्। आवरण शक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयन-पथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानम-परिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्—

"घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा" इति॥

पदच्छेद— अज्ञानस्य आवरण-विक्षेपनामकम् अस्ति शक्तिद्वयम्। **आवरणशक्तिः** तावत् अल्पः अपि मेघः अनेकयोजन-आयतम् आदित्यमण्डलम्-अवलोकयितृ-नयनपथ-पिधायकतया यथा आच्छादयति इव, तथा अज्ञानम् परिच्छिन्नाम् अपि आत्मानम् अपरिच्छिन्नम् असंसारिणम् अवलोकयितृ-बुद्धिपिधायकतया आच्छादयति इव, तादृशम् सामर्थ्यम्। तद् उक्तम्—

अन्वय—यथा घनच्छन्नदृष्टिः अतिमूढः (जनः) घनच्छन्नम् अर्कम् निष्प्रभम् च मन्यते, तथा मूढदृष्टेः यः (आत्मा) बद्धवत् भाति, नित्योपलब्धिस्वरूपः सः आत्मा अहम् (इति कथ्यते)

अनुवाद—आवरण और विक्षेप नामक अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं। जिसप्रकार छोटा सा बादल का टुकड़ा भी दर्शन के दृष्टिपथ को ढककर अनेक योजन तक फैले हुए सूर्यमण्डल को आच्छादित-सा कर देता है, उसीप्रकार सीमित अज्ञान भी असीम और असांसारिक आत्मा को देखने वाले की बुद्धि को आच्छादित करके मानो ढक देता है। (यह) आवरण शक्ति तो उसप्रकार की सामर्थ्य से युक्त है। इसलिए कहा गया है—

"जिसप्रकार मेघ से आच्छन्न दृष्टिवाला अत्यन्त मूर्ख व्यक्ति, बादल से ढके हुए सूर्य को प्रकाशरहित मानता है। उसीप्रकार मूढ़ सामान्यदृष्टि वालों को जो आत्मा (जन्म मरणादि बन्धनों से) बँधा हुआ-सा प्रतीत होता है, ऐसा नित्य एवं ज्ञानस्वरूप वह आत्मा अहम् (इसप्रकार कहा गया) है।

'चन्द्रिका'– जिस अज्ञान के स्वरूप एवं समष्टिव्यष्टिविषयक दो भेदों का अभी तक उल्लेख किया गया है। उसकी **आवरण** एवं **विक्षेप** नामक दो शक्तियाँ होती हैं। इसमें आवरणशक्ति द्रष्टा की दृष्टि के आगे एक आवरण डाल देती है। इससे देखने वाला सामने स्थित वस्तु के स्वरूप को नहीं देख पाता है। इसे अत्यन्त सुन्दर उदाहरण द्वारा समझाते हैं–

जैसे–आकाश में बादल का एक छोटा-सा टुकड़ा अनेक योजन विस्तार वाले सूर्य के सामने आकर उसे आच्छादित कर लेता है। जिसे देखकर सामान्यतया व्यक्ति यही अनुमान लगाता है कि बादल ने सूर्य को ढक लिया है, जबकि वास्तव में यह पूर्णतया असम्भव है, क्योंकि करोड़ों योजन विस्तार वाला सूर्य किसी भी स्थिति में बादल द्वारा आच्छादित नहीं किया जा सकता है।

ठीक उसीप्रकार सीमित अज्ञान भी अपनी आवरण नामक शक्तिविशेष द्वारा जिसकी कोई सीमा नहीं है अर्थात् निस्सीम, जिसका कभी जन्म नहीं होता अर्थात् अजन्मा, सांसारिक समस्तवस्तुओं से भिन्न आत्मा को आवृत सा कर लेता है। इसकारण सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति आत्मा को देख नहीं पाता है।

वास्तव में आत्मा नित्योपलब्धि स्वरूप वाला, सच्चिदानन्द है, देश, काल आदि की सीमाओं से परे है। अतः किसी भी वस्तु द्वारा उसे ढकना पूर्णरूप से असम्भव है। इसके अतिरिक्त उसे कभी भी संसार का कोई बन्धन बांधने में समर्थ नहीं है, किन्तु अज्ञानी व्यक्ति उसे बंधा हुआ सा मानता है। वस्तुतः आत्मा के वास्तविक स्वरूप को ढकने में अज्ञान की आवरण शक्ति ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करती है। अपने कथन की पुष्टि में ग्रन्थकार 'घनच्छन्नदृष्टि' इत्यादि कारिका को उद्धृत करते हैं। इस कारिका का भी यही अभिप्राय है जो उक्त गद्यखण्ड में प्रतिपादित किया गया है–

जिसप्रकार किसी छोटे से बादल के टुकड़े से आच्छन्नदृष्टि वाला मूर्खबुद्धि व्यक्ति यह समझता है कि बादल ने सूर्य को ढक लिया इस कारण सूर्य प्रकाशरहित हो गया। इसलिए सर्वत्र अंधकार का साम्राज्य हो गया। ठीक उसीप्रकार मूढबुद्धि अज्ञानीजन नित्य, सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा को जन्म-मरण आदि अनेक बन्धनों में आबद्ध मान लेते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि यह आत्मा नित्य, शुद्धबुद्ध एवं प्रकाशक है। इसकी कोई सीमा नहीं है। यह स्थान एवं समय की सीमाओं से परे है। इसे दैनिक व्यवहार में लोग 'अहम्' इस शब्द द्वारा प्रयोग करते हैं।

विशेष–(1) अज्ञान की दो शक्तियों का उल्लेख किया गया- आवरण एवं विक्षेप।

(2) प्रस्तुत गद्यखण्ड में केवल 'आवरण' शक्ति को उदाहरण देकर समझाया गया है।

(3) यहाँ प्रदत्त उदाहरण अत्यन्त सटीक है। मेघखण्ड अज्ञान का प्रतीक है तथा तेजस्वी सूर्य तेजोरूप आत्मा को संकेतित करता है।

(4) प्रस्तुत गद्यखण्ड में प्रयुक्त 'इव' आभासरूप अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है। अभिप्राय यह है कि सूर्य वस्तुतः ढकता नहीं है, अपितु ढका हुआ सा प्रतीत होता है। वैसा ही आत्मा के विषय में भी मानना चाहिए।

(5) हस्तामलक नामक ग्रन्थ में आई हुई प्रस्तुत कारिका में प्रयुक्त 'बद्धवत् भाति' पद भी इसी अभिप्राय को अभिव्यक्त करता है, क्योंकि वेदान्त की दृष्टि में आत्मा का बन्धन अथवा मोक्ष सम्भव नहीं है। यह तो केवल आभासमात्र है, रस्सी में सर्प के समान अथवा सीप में चांदी के समान।

(6) अज्ञान की आवरणशक्ति को समझाने के लिए मेघखण्ड एवं सूर्य का प्रस्तुत उदाहरण सम्पूर्ण दार्शनिकजगत् में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है।

(7) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र–३६

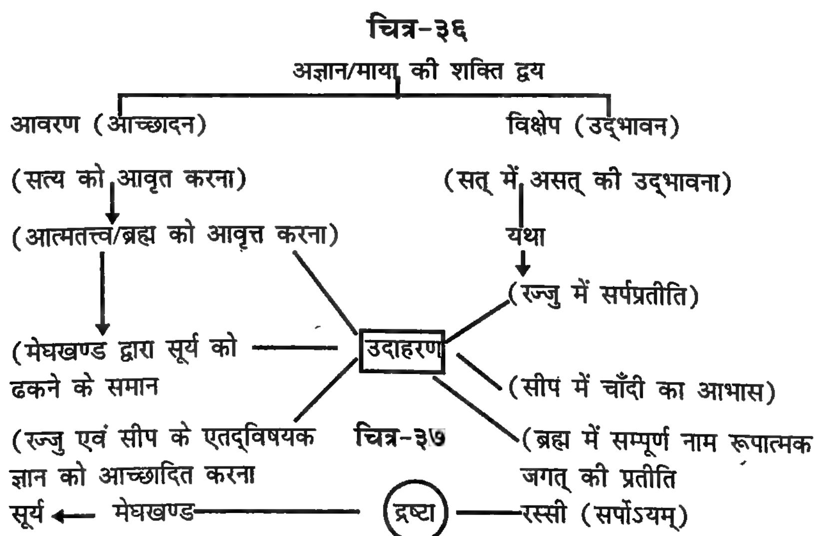

चित्र–३७

अवतरणिका—इसी प्रसङ्ग को आगे स्पष्ट करते हुए विक्षेप शक्ति के कार्य को प्रदर्शित करते हैं—

अनयैवावरणशक्त्यावच्छिन्नस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःख-मोहात्मकतुच्छसंसारभावनापि सम्भाव्यते यथा स्वाज्ञानेनावृतायां रज्ज्वां सर्पत्वसम्भावना। विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादि-प्रपञ्चमुद्भावयति तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्—

"विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेदि" ति॥१०॥

पदच्छेद— अनया एव आवरणशक्त्या अवच्छिन्नस्य आत्मनः कर्तृत्व भोक्तृत्व सुख-दुःख-मोहात्मक-तुच्छसंसारभावना अपि सम्भाव्यते, यथा-स्व अज्ञानेन आवृतायाम् रज्ज्वाम् सर्पत्व सम्भावना।

विक्षेपशक्तिः तु यथा रज्जु-अज्ञानम् स्व-आवृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकम् उद्भावयति। एवम् अज्ञानम् अपि स्व-आवृत-आत्मनि-विक्षेप शक्त्या आकाशादि-प्रपञ्चम् उद्भावयति, तादृशम् सामर्थ्यम्। तद् उक्तम्—

"**विक्षेपशक्तिः** लिङ्गादि ब्रह्माण्ड-अन्तम् जगत् सृजेद् इति॥10॥

अनुवाद—इसी आवरणशक्ति द्वारा आच्छादित आत्मा की कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सांसारिक सुख-दुःख-मोहात्मकता-विषयक तुच्छभावना भी अपने अज्ञान से आच्छादित रस्सी में सर्पत्व की सम्भावना के समान आरोपित होती है।

विक्षेपशक्ति तो वैसी ही सामर्थ्यसम्पन्न है, जिसप्रकार रस्सी विषयक अज्ञान अपनी शक्ति द्वारा आवृत्त रस्सी में सर्प आदि की उद्भावना करता है। उसीप्रकार (आत्मविषयक) अज्ञान भी अपनी विक्षेपशक्ति द्वारा आवृत आत्मा में (सूक्ष्मशरीर से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त) आकाश आदि प्रपञ्च को उद्भावित कर देता है। इसीलिए कहा गया है—"विक्षेपशक्ति ही सूक्ष्मशरीर आदि सृष्टि से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त संसार का सृजन करती है।"

'चन्द्रिका'—तत्पश्चात् अज्ञान की प्रथम 'आवरण' नामक शक्ति के अन्य कार्य को कहते हैं—अज्ञान की इसी आवरणशक्ति से युक्त शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा अपने आपको नामरूपात्मक संसार के भोगादिविषयों का कर्ता, भोक्ता तथा उनसे प्राप्त होने वाले सुख एवं दुःख आदि को अनुभव करके स्वयं को भी सुखी दुःखी आदि मानने लगता है। जबकि वास्तविक-

रूप में ये सुख-दुःख आदि आत्मा के धर्म होते ही नहीं हैं। ये तो वस्तुतः शरीर के धर्म हैं। आत्मा इनसे लिप्त नहीं होता है। अज्ञान की आवरणशक्ति आत्मा से इसी वस्तुस्थिति को छिपा लेती है।

वेदान्त की दृष्टि में एकमात्र ब्रह्म अथवा आत्मसत्त्व ही सत् है, सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है, फिर भी वास्तविकता का ज्ञान न होने से अज्ञानी लोगों की सांसारिकबुद्धि बनी रहती है। इस बुद्धि का एकमात्र कारण यहाँ अज्ञान को बताया गया है, क्योंकि इसकी 'आवरण' नामक शक्ति वस्तुतः वस्तुस्थिति को आच्छादित कर लेती है। तत्पश्चात् अज्ञान की दूसरी शक्ति 'विक्षेप' के विषय में कहते हैं।

जब हम अपने सामने पड़ी हुई रस्सी को अन्धकार आदि के कारण सर्प समझ बैठते हैं, तब रस्सीविषयक अज्ञान पहले अपनी 'आवरण' नामक शक्ति से रस्सी के रस्सी होना रूप ज्ञान को आवृत करता है। तत्पश्चात् वही अज्ञान 'विक्षेप' नामक अपनी दूसरी शक्ति से उसी रस्सी में सर्पत्व की उद्भावना कर देता है और वही रस्सी हमें रस्सी होते हुए भी सर्प प्रतीत होने लगती है। यही अज्ञान की विक्षेपशक्ति का विक्षेपत्व है।

ठीक उसीप्रकार आत्मविषयक अज्ञान पहले अपनी आवरण नामक शक्ति के सामर्थ्य से नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा के वास्तविकस्वरूप को ढक देता है। पुनः वही अज्ञान अपनी दूसरी शक्ति 'विक्षेप' का प्रयोग करके सूक्ष्मशरीर से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त आकाश आदि सम्पूर्णप्रपञ्चरूप तुच्छ स्थूलसृष्टि की उद्भावना कर देता है। इसप्रकार उद्भावित यह स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण नामरूपात्मकसंसार वस्तुतः अज्ञान की विक्षेपशक्ति का ही प्रभाव है, जो वस्तुतः विनाशशील है। सीप में चांदी की प्रतीति तथा रज्जु में सर्प की भ्रान्ति के समान जो वस्तुतः मिथ्या है।

अपने कथन की पुष्टि में ग्रन्थकार श्रुतिवचन उद्धृत करते हुए कहते हैं कि प्राचीन शास्त्रों में भी आत्मज्ञानी आचार्यों ने कहा है—कि अज्ञान की द्वितीय विक्षेपशक्ति ही लिङ्गशरीर (जिसे वेदान्त सूक्ष्मशरीर भी कहता है) सहित सम्पूर्णसृष्टि से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त स्थूलसृष्टिरूप दृश्यमान सम्पूर्ण संसार की संरचना करती है।

विशेष—(1) ग्रन्थकार की शैली की विशेषता है कि वह अपने कथन की पुष्टि में श्रुति, स्मृति अथवा प्राचीन आचार्य आदि द्वारा कहे गये वचनों

को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हैं। उपर्युक्त गद्यखण्ड के अन्त में उन्होंने दृग्दृश्यविवेक के वचनों को अपने कथन की पुष्टि के लिए प्रयुक्त किया है।

(2) ग्रन्थकार ने प्रस्तुत खण्ड के पूर्व अंश में सांसारिकभावना को तुच्छ बताया है। वेदान्त वस्तुतः दृश्यमान सम्पूर्णजगत् को यों भी मिथ्या कहकर उसकी तुच्छता का प्रतिपादन करता ही है। उसकी दृष्टि में ब्रह्म ही एकमात्र सत् (एवं उत्कृष्ट वस्तु है)।

(3) अज्ञान की आवरण एवं विक्षेप नामक दो महत्त्वपूर्ण शक्तियों का अत्यन्त सुन्दर एवं सरलशैली में विवेचन किया गया है।

अवतरणिका—यहाँ तक अज्ञान एवं उसकी शक्तिद्वय का विवेचन करने के पश्चात् सोदाहरण अज्ञानोपहितचैतन्य को ही सूक्ष्म एवं स्थूलसृष्टि का उपादान एवं निमित्त दोनों कारण बताते हैं—

शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति। यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति॥११॥

पदच्छेद—शक्तिद्वयवद् अज्ञान-उपहितम् चैतन्यम् स्वप्रधानतया निमित्तम्, स्व-उपाधिप्रधानतया उपादानम् च भवति। यथा लूता तन्तुकार्यम् प्रति स्वप्रधानतया निमित्तम्, स्वशरीरप्रधानतया उपादानम् च भवति॥11॥

अनुवाद—दो शक्तियों से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य (सम्पूर्ण जगत् प्रपञ्च का) अपनी प्रधानता के कारण निमित्तकारण एवं अपनी उपाधि की प्रधानता से उपादानकारण होता है। जिसप्रकार मकड़ी (अपने) तन्तुरूप कार्य के प्रति अपने (चैतन्य की) प्रधानता के कारण निमित्तकारण तथा अपने शरीर की प्रधानता से उपादानकारण होती है।

'चन्द्रिका'—प्रस्तुत गद्यखण्ड आकार में छोटा होते हुए भी जहाँ एक ओर अपने में गम्भीर अर्थ को संजोए हुए है, वहीं 'आवरण' एवं 'विक्षेप' नामक दो महत्त्वपूर्ण शक्तियों से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य सूक्ष्मशरीर से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त दृश्यमान सम्पूर्ण जगत्प्रपञ्च का उपादान और निमित्तकारण दोनो है' इत्यादि वेदान्त के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

वस्तुतः प्रस्तुत खण्ड के अभिप्राय को समझने से पूर्व हमें उपादान और निमित्तकारण इन दोनों को समझना होगा। किसी भी वस्तु के निर्माण में इन

दो कारणों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इनमें से एक के भी अभाव में किसी भी वस्तु का निर्माण असम्भव है। उपादान एवं निमित्तकारण इन दोनों को हम घड़े के उदाहरण द्वारा भलीप्रकार समझ सकते हैं। घड़े के निर्माण में हमें मिट्टी की आवश्यकता होती है, जो उसके निर्माण की स्थूल एवं अनिवार्य सामग्री है। अतः मिट्टी घड़े का उपादानकारण कहलाएगी। न्याय की दृष्टि में यही समवायीकारण भी कहलाता है, क्योंकि मिट्टी घड़े के साथ समवायसम्बन्ध से विद्यमान रहती है।

दूसरा, निमित्तकारण है जो वस्तु की संरचना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है। घड़े के निर्माण में दण्ड, चक्र, चीवर और कुम्हार ये सभी निमित्तकारण कहलाएंगे, क्योंकि इनमें से एक के भी अभाव में घटनिर्माण असम्भव है। सामान्यरूप से ये दोनों कारण अलग-अलग स्थानों पर विद्यमान रहते हैं अर्थात् इनकी पृथक् सत्ता रहती है, किन्तु वेदान्त सृष्टि-प्रक्रिया में इन दोनों की स्थिति एक ही स्थान पर मानते हुए कहता है कि–

जिसप्रकार एक मकड़ी अपने जालानिर्माणरूप कार्य के प्रति अपने शरीर के चैतन्य की प्रधानता के कारण निमित्तकारण है तथा अपने शरीर से निकलने वाले लारवे की प्रधानता की दृष्टि से उपादानकारण भी होती है। ठीक उसीप्रकार अज्ञान से उपहित आत्मा अपने चैतन्य की प्रधानता होने से दृश्यमान सांसारिकप्रपञ्च का निमित्तकारण तथा अज्ञान की प्रधानता के समय उपादानकारण होता है।

क्योंकि मकड़ी का शरीर चैतन्य के अभाव में जाल बनाने में असमर्थ होता है। साथ ही केवल चैतन्य होने पर शरीर के न होने पर भी जाल नहीं बनाया जा सकता है। इस दृष्टि से एक ही मकड़ी शरीर की प्रधानता होने पर जालेरूप कार्य के लिए उपादानकारण तथा चैतन्य की प्रधानता होने पर निमित्तकारण हो जाती है।

ठीक उसीप्रकार सृष्टिरूपकार्य के प्रति आवरण एवं विक्षेप दो शक्तियों से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्यरूप आत्मा अज्ञानरूप उपाधि की प्रधानता होने से उपादानकारण तथा चैतन्य की प्रधानता से निमित्तकारण भी होता है। इसमें किसीप्रकार की कोई विसंगति नहीं है, क्योंकि यह संसार अज्ञानजन्य है और वह अज्ञान आत्मनिष्ठ है। इसलिए माया से युक्त ईश्वर को जगत् का उपादानकारण कहने में कोई बाधा नहीं है। जिसप्रकार मकड़ी को

तन्तुरूप कार्य के लिए तुरी, वेमा, कपास आदि बाह्यसाधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती है, उनके बिना ही उसके शरीर की सहायता से वह अपने जाले का निर्माण कर लेती है। ठीक उसीप्रकार एकमात्र ईश्वर भी बिना किसी बाह्यसाधन एवं सहयोग से अपनी माया नामक शक्ति द्वारा सूक्ष्मशरीर से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त सम्पूर्ण स्थूलसंसार की रचना कर डालता है।

इसी बात को मुण्डकोपनिषद् इसप्रकार कहता है–

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।

यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि, तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।। (1.7)

इस प्रसङ्ग में प्रतिपक्षी द्वारा यह शङ्का की जा सकती है कि यदि ईश्वर सृष्टि का उपादानकारण है तो यह चराचरसंसार जड़ एवं नश्वर नहीं हो सकता है, क्योंकि इसका उपादान चेतन एवं अविनाशी है। इसका समाधान यह है कि यह चराचरसंसार वस्तुतः ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं। अपने रूप का परित्याग न करके दूसरे रूप को प्रदर्शित करना ही विवर्त है। जिसप्रकार रस्सीविषयक अज्ञान रस्सी के रूप का परित्याग न करता हुआ भी सर्परूप अन्यरूप को प्रदर्शित करता है, ठीक उसीप्रकार ईश्वर चैतन्यनिष्ठ अज्ञानशक्ति भी अपने चैतन्यरूप का परित्याग न करती हुई, आकाश आदि अन्य रूपों को भी प्रदर्शित करती है। इसलिए आकाशादि प्रपञ्च, ईश्वर के उपादानकारण होने पर भी नित्य नहीं होते हैं।

विशेष–(1) प्रस्तुत गद्यखण्ड में अज्ञानोपहितचैतन्य को चराचरसृष्टि का उपादान और निमित्तकारण बताया गया है।

(2) अज्ञानोपहितचैतन्य के लिए वेदान्त में ईश्वर, चैतन्य एवं आत्मा आदि अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है।

(3) लूता यहाँ मकड़ी के लिए प्रयुक्त हुआ है। मकड़ी की विशेषता है कि वह अपने द्वारा निर्मित जाले में अन्य किसी बाह्य उपादान का सहयोग नहीं लेती है।

(4) अज्ञान अथवा माया को जड़ात्मक माना गया है, इसमें ब्रह्म अथवा आत्मा के कारण चैतन्य ठीक उसीप्रकार आ जाता है। जैसे–चुम्बक के समीप होने से लौहकणगति करने लगते हैं।

(5) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र-३८

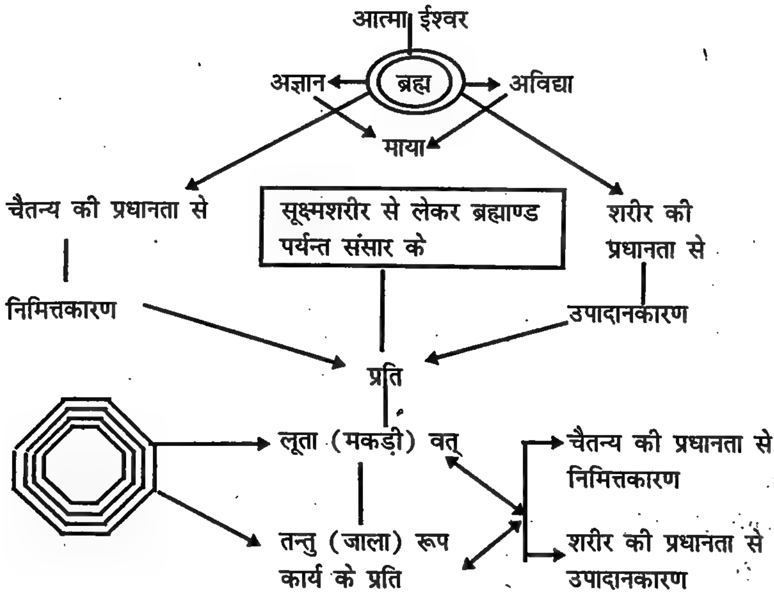

अवतरणिका—आवरण एवं विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य अर्थात् ईश्वर को सम्पूर्णसृष्टि का उपादान एवं निमित्तकारण बताने के पश्चात् उसकी विक्षेपशक्ति द्वारा सर्वप्रथम जगत् की सूक्ष्मसृष्टि का कथन करते हैं—

तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इत्यादिश्रुतेः। तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते। एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते। एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते॥१२॥

पदच्छेद—तमः प्रधानविक्षेपशक्तिमद् अज्ञानोपहित-चैतन्याद् आकाशः, आकाशाद् वायुः, वायोः अग्निः, अग्नेः आपः, अद्भ्यः पृथिवी च उत्पद्यते। "तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः" इत्यादि श्रुतेः। तेषु जाड्याधिक्य-दर्शनात् तमः प्राधान्यम् तत्कारणस्य।

तदानीम् सत्त्व-रजस्-तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेषु आकाश-आदिषु उत्पद्यन्ते। एतानि एव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राणि अपञ्चीकृतानि च उच्यन्ते। एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि च उत्पद्यन्ते।।12।।

अनुवाद–तमोगुण की प्रधानता वाली विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य से (सर्वप्रथम) आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है। "उसप्रकार के (अज्ञान से आच्छादित) इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ" इत्यादि श्रुतिवचन (इसमें प्रमाण है।) उन सबमें जड़ता की अधिकता दिखायी देने के कारण, उनके कारण (अज्ञानोपहितचैतन्य) का तमोगुणप्रधान होना (सिद्ध होता है।)

उन आकाश आदि पञ्चभूतों में अपने-अपने (साक्षात्) कारणों के गुणों के आधार पर ही उससमय सत्त्व, रजस् और तमस् गुण (प्रधानरूप से) उत्पन्न होते हैं। (वेदान्त में) ये ही सूक्ष्मभूत, तन्मात्र और अपञ्चीकृत कहलाते हैं। इन्हीं (अपञ्चीकृतभूतों) से सूक्ष्मशरीर एवं स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं।

'चन्द्रिका'–वेदान्त के अनुसार अज्ञानोपहित चैतन्य अर्थात् ईश्वर से होने वाली सृष्टि के विषय में आचार्य सदानन्द कहते हैं कि यद्यपि प्रलयकाल में माया अथवा अज्ञान में सत्त्व, रजस् एवं तमोगुण की स्थित समानरूप से विद्यमान रहती है तथापि सृष्टि का प्रारम्भ होने की स्थिति में इन गुणों में गुणविशेष का न्यूनाधिक्य भी देखा जाता है। इसलिए तमोगुणप्रधान, किन्तु सत्त्व एवं रजस् गुणों की भी थोड़ी-बहुत सत्ता से युक्त विक्षेपशक्ति से सम्पन्न अज्ञान से आवृत्त चैतन्य, जिसे वेदान्त में 'ईश्वर' संज्ञा प्रदान की गई है, से सर्वप्रथम सूक्ष्मतन्मात्ररूप आकाश की सृष्टि होती है। पुनः उसी तन्मात्ररूप आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से सूक्ष्मतन्मात्ररूप पृथिवी की उत्पत्ति होती है।

इसप्रकार पञ्चभूतों के इन सूक्ष्मतन्मात्राओं की उत्पत्ति के कथन की पुष्टि में अपनी शैली के अनुसार ग्रन्थकार 'तस्माद्वा' इत्यादि श्रुतिवचन को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि श्रुतियों में भी इस बात का उल्लेख हुआ है कि उसप्रकार की विशेषताओं से सम्पन्न अज्ञान से आच्छादित इस शुद्धचैतन्यरूप आत्मा से ही आकाश की उत्पत्ति हुई है।

इस प्रसङ्ग में प्रतिपक्षी द्वारा यह शङ्का किए जाने पर कि अज्ञान में तो सत्त्व, रजस् एवं तमस् तीनों गुण विद्यमान हैं, फिर आपने यह कैसे कहा कि आकाशादि की उत्पत्ति तमोगुणप्रधान अज्ञान से आवृत चैतन्य से ही हुई? स्वयं ही इसप्रकार की शङ्का को मन में धारणकर अग्रिमपंक्ति में इसका समाधान प्रस्तुत करते हैं–

कारण-कार्यसिद्धान्त के आधार पर कार्य के गुणों से कारण के गुणों का अनुमान सहज ही किया जा सकता है, क्योंकि आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी इन सभी में जड़भाग् की अधिकता के कारण ये जड़रूप हैं। अतः इनमें तमोगुण की प्रधानता की परिकल्पना का औचित्य प्रतीत होता है। इस दृष्टि से यही कहना अधिक संगत होगा कि तमोगुणप्रधान विक्षेपशक्ति युक्त चैतन्य ही आकाशादिप्रपञ्च का कारण है। इस प्रसङ्ग में यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि इनकी उत्पत्ति के समय तमोगुण का आधिक्य रहता है, किन्तु सत्त्व एवं रजस् का पूर्णतया अभाव नहीं रहता, क्योंकि उनके अभाव में तो तमोगुण में क्रियाशीलता का अभाव ही हो जाएगा, जो उचित नहीं है। अतः इस अवस्था में सत्त्वगुण एवं रजोगुण, तमोगुण की तुलना में अत्यल्प मात्रा में विद्यमान रहते हैं। इसका यही अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।

इसप्रकार आकाश आदि की उत्पत्ति होने पर अपने-अपने कारण के गुण के अनुरूप ही उत्तरोत्तर उत्पन्न होने वाले उन आकाश आदि में सत्त्व, रजस् एवं तमस् तीनों ही गुणों की विद्यमानता देखी जाती है। उत्पन्न हुए इन आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी को अपञ्चीकृत, सूक्ष्मभूत एवं तन्मात्र इत्यादि नामों से जाना जाता है। इन पांचों में क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धरूप गुण अत्यन्तसूक्ष्म अर्थात् तन्मात्ररूप में ही विद्यमान रहते हैं।

जो क्रमशः शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र एवं गन्धतन्मात्र कहलाते हैं। इन्हीं सूक्ष्मभूत अपञ्चीकृत आकाशादि से सूक्ष्मशरीर, पञ्चीकृतमहाभूत आदि की उत्पत्ति होती है तथा पञ्चीकृत महाभूतों से स्थूलशरीर उत्पन्न होते हैं। इसप्रकार वेदान्त के अनुसार सृष्टि का क्रम प्रारम्भ होता है।

विशेष–(1) प्रस्तुत गद्यखण्ड में वेदान्त की सृष्टिप्रक्रिया की ओर संकेत किया गया है।

(2) गद्यखण्ड के आरम्भ में उल्लिखित अज्ञान की विक्षेपशक्ति के साथ-साथ आवरणशक्ति का भी अध्याहार करना चाहिए, क्योंकि यही आवरण नामक शक्ति शुद्धचैतन्यरूप तत्त्व के वास्तविकरूप को आवृत करती है।

(3) सृष्टिक्रम में यहाँ सर्वप्रथम सूक्ष्म आकाश की उत्पत्ति को मान्यता प्रदान की गई है।

(4) अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूतों को इस अवस्था में स्थूल इन्द्रियों द्वारा देखा नहीं जा सकता है।

(5) इस अवस्था में इन सूक्ष्मभूतों में रूप, रस, गन्धादि गुण सूक्ष्मरूप में एवं स्वतन्त्ररूप में विद्यमान रहते हैं।

(6) प्रस्तुत अंश के भाव को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र-३९

विक्षेपशक्तिसम्पन्न तमोगुणप्रधान

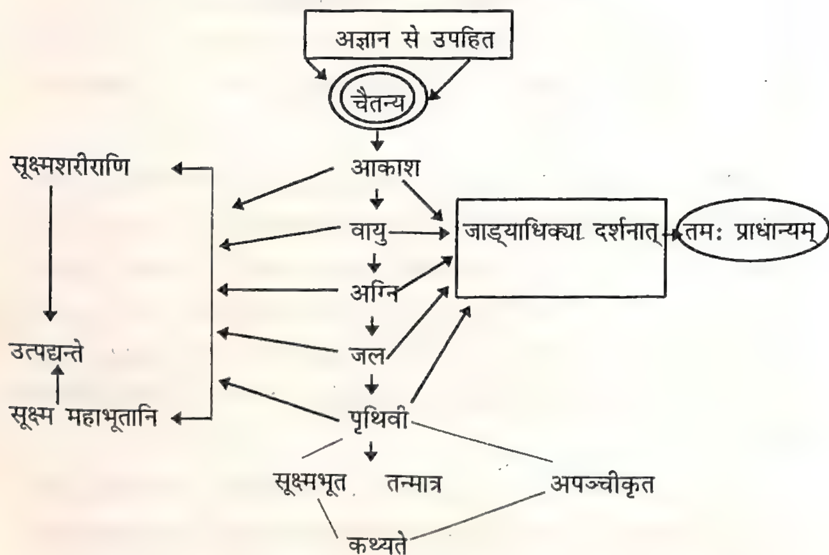

अवतरणिका–आकाशादि सूक्ष्मपञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति के पश्चात् इनमें भी सत्त्वादिगुणों की प्रधानता से सत्रह अवयवों से युक्त सूक्ष्मशरीर की सृष्टि का कथन करते हैं–

सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि। अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं बुद्धिमनसी कर्मेन्द्रियपञ्चकं वायुपञ्चकं चेति। ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि। एतान्याकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्योः व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। मनो नाम सङ्कल्पविकल्पात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। अनयोरेव चित्ताहङ्कारयोरन्तर्भावः। एते पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते। एतेषां प्रकाशात्मकत्वात्सात्त्विकांशकार्यत्वम्। इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति। अयं कर्तृत्वभोक्तृत्व- सुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानत्वेनेहलोकपरलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्युच्यते। मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति।

पदच्छेद– सूक्ष्मशरीराणि सप्तदश-अवयवानि लिङ्गशरीराणि। अवयवाः तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकम्, बुद्धिमनसी, कर्मेन्द्रियपञ्चकम्, वायुपञ्चकम् च इति। ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्र-त्वक्-चक्षुः-जिह्वा-घ्राण-आख्यानि। एतानि आकाश-आदीनाम् सात्त्विक-अंशेभ्यः व्यस्तेभ्यः पृथक्-पृथक् क्रमेण उत्पद्यन्ते।

बुद्धिः नाम निश्चयात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः। मनः नाम सङ्कल्प-विकल्पात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः। अनयोः एव चित्त-अहङ्कारयोः अन्तर्भावः। एते पुनः आकाश-आदिगत-सात्त्विक-अंशेभ्यः मिलितेभ्यः उत्पद्यन्ते। एतेषाम् प्रकाशात्मकत्वात् सात्त्विकांश-कार्यत्वम्।

इयम् बुद्धिः ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशः भवति। अयम् कर्तृत्व-भोक्तृत्व - सुखित्वद् - दुःखित्व - आदिअभिमानत्वेन इहलोक-परलोकगामी व्यावहारिकः जीव इत्युच्यते। मनः तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितम् सत् मनोमयकोशः भवति।

अनुवाद–सत्रह अवयवों से युक्त सूक्ष्मशरीर ही लिङ्गशरीर है। पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि एवं मन, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ तथा पञ्चवायु ही इसके अवयव हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः जिह्वा और घ्राण नामक (पाँच) ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ये आकाश आदि (सूक्ष्मभूतों) के सात्त्विक-अंशों से क्रमशः अलग-अलग उत्पन्न होते हैं।

निश्चय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति ही बुद्धि है। सङ्कल्प-विकल्प करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति वस्तुतः मन है। इन दोनों में ही चित्त और

अहंकार दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है। ये सभी वस्तुतः आकाश आदि में स्थित सात्त्विक अंशों के मिश्रित अंशों से उत्पन्न होते हैं। इनके प्रकाशात्मक होने के कारण (ही इन्हें) सात्त्विक अंशों का कार्य कहा गया है।

पञ्चज्ञानेन्द्रियों सहित यह बुद्धि ही विज्ञानमयकोश होती है। यही (कोश) कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी आदि के अभिमानविषयकभाव के कारण, इसलोक एवं परलोक में आवागमन करने वाला, व्यावहारिकरूप में 'जीव' इसप्रकार कहा जाता है। जबकि ज्ञानेन्द्रियों से युक्त मन ही मनोमयकोश होता है।

'चन्द्रिका'—सूक्ष्मशरीर में कुल मिलाकर सत्रह अवयव होते हैं। इसी सूक्ष्मशरीर का दूसरा नाम लिङ्ग शरीर भी है। तत्पश्चात् ग्रन्थकार इन सत्रह अवयवों को गिनाते हैं—ये सत्रह अवयव इसप्रकार हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा तथा घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि दो अन्तरिन्द्रिय तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान ये पाँच वायु कुल मिलाकर सत्रह अवयव हो जाते हैं।

तत्पश्चात् श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा एवं घ्राण इन पञ्चज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति को कहते हैं—ये सभी ज्ञानेन्द्रियाँ सूक्ष्मभूत आकाश आदि के सात्त्विक अंशों से क्रमशः अलग-अलग इसप्रकार उत्पन्न होते हैं। जैसे—आकाश के सात्त्विक अंश से 'श्रोत्र' नामक ज्ञानेन्द्रिय उत्पन्न होती है। इसका गुण 'शब्द' है। अतः यह शब्द को ग्रहण करने का कार्य करती है। इसीप्रकार वायु के सात्त्विक अंश से 'त्वक्' नामक ज्ञानेन्द्रिय उत्पन्न होती है। इसका गुण 'स्पर्श' है। अतः यह शीतोष्णादि का ज्ञान कराती है।

इसके अतिरिक्त अग्नि के सात्त्विक अंश से 'चक्षु' की उत्पत्ति होती है। इसका गुण 'रूप' है। अतः यह ज्ञानेन्द्रिय दृश्यमानजगत् के 'दर्शन' में सहायिका होती है। जबकि जल के सात्त्विक अंश से जिह्वा अर्थात् 'रसना' नामक ज्ञानेन्द्रिय उत्पन्न होती है। 'रस' इसका गुण होने से यह मधुर, अम्ल लवण, कटु, कषाय एवं तिक्त इत्यादि षड्रसों को ग्रहण करती है। इसीप्रकार पृथ्वी के सात्त्विक अंश से 'घ्राण' नाम ज्ञानेन्द्रिय की उत्पत्ति मानी गई है। पृथ्वी का गुण 'गन्ध' होने से यह इन्द्रिय गन्ध को ग्रहण करने का कार्य करती है।

पुनः बुद्धि एवं मन को परिभाषित करते हैं–'यह बात पूर्णरूप से ऐसी ही है' इसप्रकार निश्चय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति 'बुद्धि' कहलाती है तथा 'यह ऐसा है अथवा नहीं' इसप्रकार संशय करने वाला अन्तःकरण का व्यापार ही 'मन' है। दूसरे शब्दों में अन्तःकरण की वृत्ति के दो रूप कहे जा सकते हैं (1) निश्चयात्मिकावृत्ति अर्थात् बुद्धि (2) संशयात्मिका वृत्ति अर्थात् मन। ग्रन्थकार के अनुसार–कुछ विद्वान् चित्त और अहंकार नामक अन्य दो वृत्तियों का उल्लेख भी करते हैं, किन्तु उन दोनों का क्रमशः इन्हीं बुद्धि और मन में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः उन्हें पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है।

ये सभी अर्थात् बुद्धि, मन तथा इन्हीं में अन्तर्भूत हुई चित्त एवं अहंकार नामक अन्तःकरण की सभी वृत्तियाँ सूक्ष्म आकाश आदि में स्थित सात्त्विक अंशों के मिश्रित अंशों से उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः मन एवं बुद्धि के सहयोग के अभाव में ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण नहीं कर पाती हैं। इसीकारण यहाँ उन्हें पञ्चसूक्ष्मभूतों के मिश्रित अंशों से उत्पन्न बताया गया है।

पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि एवं मन ये सात अपञ्चीकृत पञ्चभूतों के सात्त्विक अंशों से उत्पन्न इसलिए माने गए हैं, क्योंकि ये सभी पदार्थों को प्रकाशित करने की क्षमता वाले हैं तथा शास्त्रों में सत्त्वगुण को प्रकाशक माना गया है–गीता का इस विषय में कहना है–"तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।" कारण के गुण ही कार्य में भी विद्यमान रहते हैं। इसी सिद्धान्त की दृष्टि से उक्त सात की उत्पत्ति आकाशादि के सात्त्विक अंशों से मानी गयी है।

पञ्चज्ञानेन्द्रियों सहित बुद्धि 'विज्ञानमयकोश' कहलाती है। इसी कोश से युक्त चैतन्य अपने आपको काम का करने वाला, भोगों को भोगने वाला, सुख एवं दुःख का अनुभव करने वाला मानता है। इसीकारण उसे स्वर्गलोक एवं मृत्युलोक आदि में आवागमन करना पड़ता है। व्यावहारिक अवस्था में इसी विज्ञानमयकोश से युक्त चैतन्य को 'जीव' भी कहा जाता है।

इस प्रसंग में यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि चिदात्मा वस्तुतः कर्ता, भोक्ता आदि न होने पर भी विज्ञानमयकोश में अभिमानभाव के कारण ही लोक-परलोक में गमनागमनरूप व्यवहार का हेतु बन जाता है।

इसी भाव के कारण व्यावहारिकदृष्टि से वह 'जीव' इस संज्ञा को प्राप्त कर लेता है।

इसके अतिरिक्त पञ्चज्ञानेन्द्रियों के साथ मन के मिलने पर 'मनोमय कोश' का निर्माण होता है। आत्मा को ढकने वाला होने के कारण (आच्छादक) ही इन्हें 'कोशसंज्ञा' प्रदान की गई है। इन मनोमय एवं विज्ञानमय 'कोशों की कार्यसम्पादन की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। सामान्यतया विषय ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से सर्वप्रथम मन के पास पहुँचता है। संकल्प-विकल्प करने के बाद वह उसे बुद्धि को सौंप देता है। तत्पश्चात् ही बुद्धि उसके विषय में निश्चयात्मक निर्णय लेती है।

विशेष–(1) सांख्यदर्शन में भी सूक्ष्मशरीर को मान्यता प्रदान की गई है, किन्तु वहाँ इसके अट्ठारह अवयवों का उल्लेख किया गया है।[1] वहाँ उन्होंने अहंकार का अधिक कथन किया है।

(2) सूक्ष्मशरीर को ही लिङ्गशरीर भी कहा गया है। इसका कारण इसके द्वारा प्रत्यगात्मा की सत्ता का ज्ञापन माना गया है–लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भावः एभिरिति लिङ्गानि, लिङ्गानि च तानि शरीराणि इति लिङ्गशरीराणि।

(3) शतपथब्राह्मण ने भी 'सप्तदशः प्रजापति' कहकर सूक्ष्मशरीर के सत्रह अवयवों को ही मान्यता प्रदान की है।

(4) पञ्चदशीकार ने भी सूक्ष्मशरीर को सत्रह अवयवों से युक्त बताया है–

बुद्धिः कर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते।।

(5) सांख्य के समान वेदान्त आकाशादि पञ्चसूक्ष्मभूतों की उत्पत्ति एक साथ नहीं मानता है, अपितु यहाँ आकाश से उत्तरोत्तर सूक्ष्मभूतों की उत्पत्ति को मान्यता प्रदान की गई है। जो अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होती है।

(6) मन और बुद्धि को अन्तः इन्द्रिय होने के कारण अन्तःकरण कहा गया है। करण शब्द का प्रयोग 'साधकतमं करणम्' परिभाषा के अनुसार इसके महत्त्व को प्रदर्शित करता है।

---

1. द्रष्टव्य लेखककृत–सांख्यकारिका–संस्कृतग्रन्थागार, दिल्ली से प्रकाशित।

(7) कुछ विद्वानों ने इसी प्रसङ्ग में चित्त और अहंकार को भी परिभाषित किया है– (क) अनुसंधानात्मिकान्तःकरणवृत्तिः चित्तम्।

(ख) अभिमानात्मिकान्तःकरण वृत्तिरहंकारः॥

(8) विज्ञामयकोश को ही व्यावहारिकदृष्टि से 'जीव' संज्ञा प्रदान की गई है।

(9) प्रस्तुत अंश की चित्रात्मक व्याख्या के लिए द्रष्टव्य भूमिका में चित्रसंख्या-2, 3, 6 ।

अवतरणिका– इसी विषय को आगे विवेचन करते हुए पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण एवं प्राणमयकोश की उत्पत्ति की प्रक्रिया को कहते हैं–

कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि। एतानि पुनराकाशादीनां रजोंशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः। प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती। अपानो नामावाग्गमनवान्पाय्वादिस्थानवर्ती। व्यानो नाम विष्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती। उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः। समानो नाम शरीरमध्यगताशित-पीतान्नादिसमीकरणकरः।

केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति। तत्र नाग उद्गिरणकरः। कूर्म उन्मीलनकरः। कृकलः क्षुत्करः। देवदत्तो जृम्भणकरः। धनञ्जयः पोषणकरः। एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात्प्राणादयः पञ्चैवेति केचित्। एतत्प्राणादिपञ्चक-माकाशादिगतरजोंशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यते। इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति। अस्य क्रियात्मकत्वेन रजोंशकार्यत्वम्।

पदच्छेद–कर्मेन्द्रियाणि–वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ-आख्यानि। एतानि पुनः आकाश-आदीनाम् रजः अंशेभ्यः व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेण उत्पद्यन्ते। **वायवः**–प्राण-अपान-व्यान-उदान-समानाः। **प्राणः** नाम प्राग् गमनवान् नासाग्रस्थानवर्ती। **अपानः** नाम अवाक् गमनवान् पायु- आदि स्थानवर्ती। **व्यानः** नाम विष्वग् गमनवान् अखिल-शरीरवर्ती। **उदानः** नाम कण्ठस्थानीयः ऊर्ध्वगमनवान् उत्क्रमणवायुः। **समानः** नाम शरीरमध्यगत-अशीत-पीत-अन्नादि समीकरणकरः।

केचित् तु नाग-कूर्म-कृकल-देवदत्त-धनञ्जय-आख्या:, पञ्च अन्ये वायव: सन्ति, इति वदन्ति। तत्र नाग: उद्गिरणकर:। कूर्म: उन्मीलनकर:। कृकल: क्षुत्कर:। देवदत्त: जृम्भणकर:। धनञ्जय पोषणकर:।

एतेषाम् प्राणादिषु अन्तर्भावात् प्राणादय: पञ्च एव इति केचित्। एतत् प्राणादिपञ्चकम् आकाशादिगत-रजोंशेभ्य: मिलितेभ्य: उत्पद्यते। इदम् प्राणादिपञ्चकम् कर्मेन्द्रियै: सहितम् सत् प्राणमयकोश: भवति। अस्य क्रियात्मकत्वेन रजोंश-कार्यत्वम्।

अनुवाद– वाणी, हाथ, पैर, पायु और उपस्थ नामक (पाँच) कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये सभी वस्तुत: आकाश आदि के रजोगुणविषयक अंशों से क्रमश: अलग-अलग उत्पन्न होती हैं। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान (ये पाँच) वायु हैं। (इनमें) नासिका के अग्रभाग पर रहने वाली, सामने की ओर गमन करने वाली 'प्राण' नामक वायु है। गुदा आदि स्थानों पर रहने वाली, नीचे की ओर गमन करने वाली 'अपान' नामक वायु है। सम्पूर्ण शरीर में निवास करने वाली तथा सब ओर गमन करने वाली 'व्यान' नामक वायु है। ऊपर की ओर गमन करने वाली कण्ठ स्थान में रहने वाली 'उदान' नामक उत्क्रमण (प्राणों को निकालने वाली) वायु है। शरीर के मध्यभाग में स्थित, खाए पीये अन्न आदि को भलीप्रकार पचाने वाली 'समान' नामक वायु है।

(सांख्यमतावलम्बी) कुछ विद्वान् तो नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त एवं धनञ्जय नामक पाँच अन्य वायु (भी) हैं, ऐसा कहते हैं। उनमें वमन (अथवा छींक) आदि कराने वाली 'नाग', नेत्रों को झपकाने वाली 'कूर्म', भूख उत्पन्न करने वाली 'कृकल', जम्भाई उत्पन्न करने वाली 'देवदत्त' तथा शरीर का पोषण करने वाली (वायु) 'धनञ्जय' है।

इन (नाग आदि पञ्च वायुओं) का प्राण आदि पञ्चवायुओं में अन्तर्भाव हो जाने से कुछ (वेदान्ती) विद्वान् प्राण आदि पाँच ही वायु हैं, ऐसा (कहते हैं।) यह प्राण आदि पञ्चवायुओं का समूह आकाश आदि में स्थित रजोगुणमिश्रित अंशों से उत्पन्न होता है। (पञ्च) कर्मेन्द्रियों के साथ प्राणादि पञ्चवायुओं का यह समूह मिलकर प्राणमयकोश होता है। क्रियात्मक होने से ही इसका रजोगुण द्वारा निर्मित होना (सिद्ध होता है)।

'चन्द्रिका'—पञ्चज्ञानेन्द्रिय बुद्धि और मन तथा इनसे निर्मित विज्ञानमय एवं मनोमयकोशों की उत्पत्ति का कथन करने के उपरान्त प्रस्तुत गद्यखण्ड में ग्रन्थकार प्राणमयकोश की सृष्टि को कहते हैं। प्राणमयकोश में आकाशादि सूक्ष्मभूतों के रजोंऽशों से अलग-अलग उत्पन्न हुई वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नामक पञ्चकर्मेन्द्रियाँ तथा उन्हीं आकाश आदि सूक्ष्मभूतों के रजोगुण के मिश्रित अंशों से उत्पन्न होने वाली प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान नामक पञ्चवायुओं का समूह होता है।

प्राणमयकोश में क्रियाशीलता का प्राधान्य ही इसमें रजोगुण की प्रमुखता को प्रदर्शित करता है। इस आधार पर पञ्चकर्मेन्द्रिय एवं पञ्चप्राण इन दोनों की उत्पत्ति आकाशादि सूक्ष्मभूतों के रजोगुण द्वारा मानी गयी है। इसका यही तात्पर्य है कि इनकी उत्पत्ति में यद्यपि सत्त्व, रजस् एवं तमस् तीनों गुण अपनी-अपनी भूमिका निर्वाह करते हैं, किन्तु प्रधानता इनमें रजोगुण की ही होती है, क्योंकि अन्य गुणों के सहयोग के अभाव में कोई भी अकेला गुण किसीप्रकार की सृष्टि करने में समर्थ नहीं होता है, न ही उसका अस्तित्व ही सम्भव है।

पञ्चकर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति सूक्ष्म आकाश आदि के रजोगुण के अंश से क्रमशः अलग-अलग होती है। इसका अभिप्राय यही है कि सूक्ष्म आकाशगत रजोगुण से वाक् नामक कर्मेन्द्रिय, वायुगत रजोगुण से हस्त, अग्निगत रजोगुण से पाद, जलगत रजोगुण से पायु अर्थात् गुदाद्वार तथा पृथिवीगत रजोगुण से उपस्थ अर्थात् मूत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। इन सभी में कर्म की प्रधानता होने से इनका रजोगुणनिर्मित होना सिद्ध होता है। इनमें वाणी द्वारा बोलना, हाथों द्वारा आदान-प्रदान, पैरों द्वारा चलना, पायु द्वारा मलनिस्सारण तथा उपस्थ द्वारा मूत्रनिस्सारण, सन्तति उत्पन्न करना तथा आनन्द प्रदान करना रूप कार्य सम्पादित किए जाते हैं।

तत्पश्चात् ग्रन्थकार प्राण, अपानादि पञ्चवायुओं के शरीर में स्थान तथा कार्य के विषय में कहते हैं—इनमें प्राण नामक वायु नासिका के अग्रभाग पर विद्यमान रहती है तथा शरीर में सामने की ओर चलती है। श्वास-प्रश्वास द्वारा हम इसका प्रतिदिन अनुभव करते हैं। अपानवायु शरीर में गुदा स्थान पर निवास करती है तथा इसकी गति नीचे की ओर होती है। शरीर के सभी अङ्गों में समानरूप से व्याप्त रहते हुए विचरण करने वाली वायु ही व्यान है। इसके द्वारा शरीर में रक्त संचार किया जाता है। इसके अतिरिक्त

कण्ठस्थान में रहने वाली तथा प्राण निकलने के समय ऊपर की ओर गति करने वाली वायु को उदान कहते हैं। शरीर के अन्दर खाए हुए अन्नादि तथा पीये हुए जलादि को पचाने वाली वायु ही वस्तुतः 'समान' है, क्योंकि यह भक्ष्य एवं पेय पदार्थों का समानीकरण (पचाना) रूप कार्य सम्पादित करती है।

पञ्चवायुओं के कथन के प्रसङ्ग में ही ग्रन्थकार सांख्यमत के अनुसार बतायी गयी नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय नामक अन्य पाँच वायुओं का उल्लेख, उनका कार्य बताते हुए 'केचित्' इत्यादि कहकर करते हैं। तदनुसार–छींक लाने वाली अथवा वमन कराने वाली वायु 'नाग' है। कूर्म नामक वायु पलकों को झपकाकर नेत्रों के मीलन एवं उन्मीलनरूप कार्य को करती है। कृकल नामक वायु क्षुधा को बढ़ाती है। इसके अतिरिक्त जम्भाई लाने का कार्य देवदत्त नामक वायु द्वारा किया जाता है। जबकि धनञ्जय नामक वायु द्वारा शरीर को पुष्ट किया जाता है।

किन्तु वेदान्तशास्त्री इन अतिरिक्त पाँच वायुओं का अन्तर्भाव पूर्वकथित वायुओं में ही इसप्रकार करके इन्हें अलग से मान्यता प्रदान नहीं करते हैं–उद्गिरण का कार्य उदान नामक वायु द्वारा ही सम्पादित करने से 'नाग' नामक वायु की पृथक् से मानने की आवश्यकता नहीं है। इसीप्रकार अंग विशेष के संकोच-विकोचरूपी उन्मीलन का कार्य व्यान द्वारा कर दिये जाने से 'कूर्म' की पृथक् मान्यता उचित नहीं है। अन्नादि का समीकरण करने वाली समान वायु में भूख को बढ़ाने वाली कृकल नामक वायु का अन्तर्भाव हो जाता है। इसीप्रकार जृम्भण आदि की कारणभूत देवदत्त नामक वायु का, विकृत वायु को निकालने की हेतुरूप अपान में एवं पोषण करने वाली धनञ्जय नामक वायु का 'समान' में सहज ही अन्तर्भाव हो जाने से इनको पृथक्रूप में मानना न्यायसंगत नहीं है।

विशेष–(1) प्रस्तुत गद्यखण्ड में 'प्राणमयकोश' का कथन किया गया है।

(2) पञ्चकर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति उनमें क्रियाशीलता की प्रधानता के कारण सूक्ष्म आकाशादिभूतों के रजोंऽश से क्रमशः पृथक्-पृथक् बतायी गई है, जबकि पञ्चवायु को इन्हीं सूक्ष्मभूतों के मिश्रित रजोंऽशों से उत्पन्न बताया है, क्योंकि रजोगुण क्रियाशील माना गया है–उपष्टम्भं चलं च रजः (सांख्यकारिका)

(3) यहाँ प्रयुक्त प्रथम 'केचित्' पद सांख्यमतावलम्बी विद्वानों के लिए तथा द्वितीय 'केचित्' वेदान्तमतावलम्बी विद्वानों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

(4) प्राणमयकोश भी सूक्ष्मशरीर का एक अंग है। अतः यहाँ इसका विस्तृतवर्णन किया गया है।

(5) प्रस्तुत प्रकरण को चित्रात्मकरूप में समझने के लिए द्रष्टव्य भूमिका में चित्रसंख्या चार, पाँच एवं छः।

अवतरणिका—सूक्ष्मशरीर के कोषत्रय के बाह्यस्वरूप का कथन करके दैनिकव्यवहार में उनकी भूमिका का कथन करते हैं—

एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः। मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः। प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः। योग्यत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत्कोशत्रयं मिलितं सत्सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते॥१३॥

पदच्छेद— एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयः शक्तिमान् कर्तृरूपः। मनोमयः इच्छाशक्तिमान् करणरूपः। प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः। योग्यत्वात् एवम् एतेषाम् विभागः इति वर्णयन्ति। एतत् कोषत्रयम् मिलितम् सत् सूक्ष्मशरीरम् इति उच्यते॥13॥

अनुवाद—इन (तीन) कोशों के बीच ज्ञानशक्ति से युक्त विज्ञानमयकोश कर्तारूप है। इच्छाशक्ति से युक्त मनोमयकोश करणरूप है। क्रियाशक्ति से युक्त प्राणमयकोश कार्यरूप है। इनकी योग्यता के आधार पर ही (विद्वान् लोग) इसप्रकार इनका विभागरूप में वर्णन करते हैं। ये तीनों कोश मिलकर ही 'सूक्ष्मशरीर' इसप्रकार कहे जाते हैं।

'चन्द्रिका'—यहाँ तक ग्रन्थकार ने सत्रह अवयवों से युक्त सूक्ष्मशरीर, जिसे लिङ्गशरीर भी कहते हैं, का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया। साथ ही बताया कि इसमें विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमय कुल तीन कोश होते हैं। ये तीनों कोश ही वस्तुतः कर्ता, करण एवं क्रियारूप हैं, इस बात का प्रस्तुत गद्यखण्ड में प्रतिपादन करते हैं—

विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय इन तीनों कोशों के अन्तर्गत प्रथम विज्ञानमयकोश, जिसका निर्माण पञ्चज्ञानेन्द्रिय तथा बुद्धि इन छः तत्त्वों द्वारा होता है, ज्ञानशक्ति से सम्पन्न होने के कारण दैनिक कार्यव्यवहार का कर्ता कहलाता है, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से विषयों को ग्रहण करके मन

के संकल्प-विकल्पात्मक सहयोग द्वारा बुद्धि ही वस्तु के विषय में 'ग्राह्य' अथवा 'त्याज्य' निर्णय करती है।

इसके अतिरिक्त इसी विज्ञानमयकोश में ही चैतन्यतत्त्व के साथ अपेक्षाकृत अधिक निकटता होती है। अतः इसकी प्रधानता स्वतःसिद्ध है। बुद्धि का प्राधान्य होने से यह ज्ञानशक्तिसम्पन्न माना गया है। साथ ही प्रत्येक वस्तु के साथ भोक्ताभाव होने एवं कर्तृत्व का अभिमान होने के कारण यही कोश कर्ता कहा जाता है। श्रुतिवचन भी इसमें प्रमाण है–

"योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिःपुरुषः"

इसीप्रकार मनोमयकोश इच्छाशक्तिसम्पन्न होता है। विषय को बुद्धि के पास तक पहुँचाने में मन एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में कार्य करता है, क्योंकि बुद्धि एवं इन्द्रियों के कार्य करने पर भी मन के इधर-उधर होने अर्थात् उस विषय में सम्यक्रूप से उपस्थित न होने से बुद्धि, विषय को ग्रहण नहीं कर पाती है। 'मेरा मन अन्यत्र था, अतः मैंने नहीं सुना' इत्यादि अनुभव इस कथन की पुष्टि में प्रमाण है। इसलिए सिद्ध होता है कि ज्ञान के होने अथवा न होने में मन 'साधकतम' की भूमिका का निर्वाह करता है। इसीलिए उसे यहाँ करणरूप में प्रतिपादित किया गया है।

प्राणमयकोश के अन्तर्गत पञ्चकर्मेन्द्रियाँ एवं पञ्चप्राण आते हैं। सूक्ष्म भूत आकाशादि के रजोंऽशों से इनका निर्माण होता है। गीता एवं सांख्यदर्शन ने रजोगुण को क्रियाशील माना है–'रजः कर्मणि भारत'–गीता, 'उपष्टम्भकं चलं च रजः' (सांख्यकारिका)। रजोंऽश का कार्य होने के कारण प्राणमय कोश में क्रियाशीलता के दर्शन होते हैं। वाणीरूप कर्मेन्द्रिय बोलने का, हाथ आदान-प्रदान का, पैर चलने का तथा पायु एवं उपस्थ मलमूत्र के निस्सारण का कार्य करती हैं। ठीक इसीप्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में निवास करने वाले प्राण, आदि वायु भी शरीर को स्वस्थ रखते हुए उसे गतिशील बनाए रखने में सहायक होते हैं। इसीलिए क्रियाशक्ति सम्पन्न होने से प्राणमयकोश को कार्यरूप बताया गया है। श्रुति का यह वचन भी इसके कार्यरूपत्व को सिद्ध करता है–

"तौ मिथुनं समेतां ततः प्राणोऽजायत"

इसप्रकार विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय इन तीन कोशों में अलग-अलग क्रमशः कर्ता, करण एवं क्रियारूप योग्यता होने के कारण ही

इनकी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार ही इन्हें शास्त्रों में उक्त कर्ता आदि नामों के रूप में विभक्त किया गया है। अर्थात् उपर्युक्त विभाग एवं नामकरण का आधार मुख्यतया इन कोशों की अपनी योग्यता एवं क्षमता ही है। अन्य कुछ नहीं। अतः विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमय ये तीनों कोश मिलकर ही 'सूक्ष्मशरीर' कहलाते हैं।

विशेष– (1) प्रस्तुत गद्यखण्ड में विज्ञानमयकोश को कर्ता, मनोमय को करण तथा प्राणमयकोश को क्रियारूप में प्रतिपादित किया गया है।

(2) इनके इन कर्ता आदि के लिए उनकी योग्यता को ही आधार माना है।

(3) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

चित्र-४०

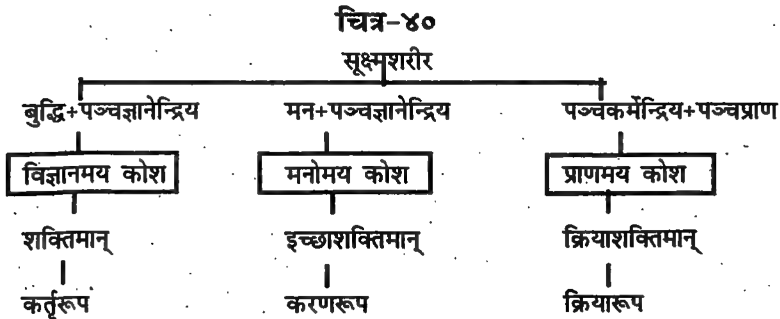

अवतरणिका–तत्पश्चात् सम्पूर्ण चराचरजगत् के सूक्ष्मशरीरों में एकत्व की विवक्षा से समष्टिरूप एवं अलग-अलग कहने की दृष्टि से व्यष्टिरूप में क्रमशः जलाशय और जल में प्रतिबिम्बित आकाश के समान एकता का प्रतिपादन करते हैं–

अत्राप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिरनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति।

एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा हिरण्यगर्भः प्राण श्चेत्युच्यते सर्वत्रानुस्यूतत्वाज्ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोऽत एव स्थूलप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते।

एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तैजसो भवति तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात्। अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वादिति हेतोरेव सूक्ष्मशरीरं

विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोऽत एव स्थूलशरीरलयस्थानमिति चोच्यते।

एतौ सूत्रात्मतैजसौ तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः 'प्रविविक्तभुक्तैजस' इत्यादिश्रुतेः। अत्रापि समष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहितसूत्रात्म-तैजसयोर्वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बा-काशवच्चाभेदः। एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः॥१४॥

पदच्छेद–अत्र अपि अखिलसूक्ष्मशरीरम् एकबुद्धिविषयतया वनवत् जलाशयवत् वा समष्टिः अनेकबुद्धि-विषयतया वृक्षवत् जलवत् वा व्यष्टिः अपि भवति।

एतत् समष्टि उपहितम् चैतन्यम् सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भः प्राणः च इति उच्यते। सर्वत्र अनुस्यूतत्वात् ज्ञानेच्छा-क्रिया शक्तिमद् उपहितत्वात् च अस्य एषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्च-अपेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीरम्, विज्ञानमयादि कोशत्रयम् जाग्रद् वासनामयत्वात् स्वप्नः, अत एव स्थूल-प्रपञ्चलयस्थानम् इति च उच्यते।

एतद् व्यष्टि-उपहितम् चैतन्यम् तेजसः भवति, तेजोमय-अन्तःकरण-उपहितत्वात्। अस्य अपि इयम् व्यष्टिः स्थूलशरीर-अपेक्षया सूक्ष्मत्वाद् इति हेतोः एव सूक्ष्मशरीरम्, विज्ञानमयादि कोशत्रयम्, जाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्नः अतः एव स्थूलशरीर-लयस्थानम् इति च उच्यते।

एतौ सूत्रात्मतेजसौ तदानीम् मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयान् अनुभवतः 'प्रविविक्तभुक् तेजसः' इत्यादि श्रुतेः। अत्र अपि समष्टि-व्यष्ट्योः तद् उपहित-सूत्रात्मतैजसयोः वनवृक्षवत् तद् अवच्छिन्न-आकाशवत् च जलाशय-जलवत् तद्गत-प्रतिबिम्ब-आकाशवत् च अभेदः। एवम् सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः॥14॥

अनुवाद–यहाँ भी सम्पूर्ण चराचर के सूक्ष्मशरीर, एकत्व के ज्ञान का विषय होने से वन अथवा जलाशय के समान समष्टि एवं अनेकत्त्व के ज्ञान का विषय होने से वृक्ष अथवा जल के समान व्यष्टि वाला भी होता है। इस समष्टि से उपहित चैतन्य सर्वत्र व्याप्त होने तथा ज्ञान, इच्छा एवं क्रियाशक्ति से सम्पन्न होने के कारण (क्रमशः) सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ और प्राण इसप्रकार कहा जाता है।

इसकी यह समष्टि स्थूलप्रपञ्च की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण 'सूक्ष्म-शरीर', विज्ञानमय आदि कोशत्रय से युक्त, जाग्रत् अवस्था में

वासनायुक्त होने से 'स्वप्न', इसीलिए स्थूलप्रपञ्च का 'लयस्थान' भी कही जाती है।

व्यष्टिरूप उपाधि से युक्त यह चैतन्य, तेजोयुक्त अन्तःकरण उपाधि से युक्त होने से 'तैजस्' होता है। इसकी भी यह व्यष्टि स्थूलशरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने रूपकारण से ही सूक्ष्मशरीर, विज्ञानमय आदि कोशत्रय से युक्त, एवं जाग्रत अवस्था में वासनायुक्त होने से स्वप्न, अतएव स्थूलशरीर का लयस्थान इस रूप में भी कहलाता है।

सूत्रात्मा और तेजस् ये दोनों उससमय (भी) मनोवृत्तियों द्वारा सूक्ष्मविषयों का अनुभव करते हैं। "सूक्ष्मभोग करने वाला तैजस् है" इत्यादि श्रुति का वचन (इसमें प्रमाण है।) यहाँ भी समष्टिव्यष्टि एवं उनकी उपाधि से युक्त सूत्रात्मा तथा तैजस् दोनों में वन और वृक्ष, उससे अवच्छिन्न आकाश के समान, जलाशय एवं जल तथा उसमें प्रतिबिम्बित आकाश के समान अभेद ही है। इसप्रकार सूक्ष्मशरीर की उत्पत्ति होती है।

'चन्द्रिका'–पूर्ववर्णित समष्टि एवं व्यष्टि के समान यहाँ भी सम्पूर्ण चराचरजगत् के अनन्तसंख्या वाले सूक्ष्मशरीरों को जब एक मानकर व्यवहार करते हैं, तो एकत्व की विवक्षा में वे सब एक बुद्धि का विषय होने के कारण वन अथवा जलाशय के समान 'समष्टि' इस रूप में व्यवहृत होते हैं तथा उनको ही जब हम अलग-अलग अनेक मानकर व्यवहार करते हैं तो अनेक जीवों के स्व-स्व बुद्धि का विषय होने के कारण ये वृक्ष अथवा जल के समान 'व्यष्टि' इस पद द्वारा व्यवहृत होते हैं।

सूक्ष्मशरीरों की इस समष्टि से युक्त चैतन्यात्मा सर्वत्र व्याप्त होने तथा ज्ञान, इच्छा एवं क्रियाशक्ति से युक्त होने के कारण क्रमशः सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ तथा प्राण कहा जाता है, क्योंकि विज्ञानमयकोश ज्ञान का, मनोमयकोश इच्छाशक्ति का तथा प्राणमयकोश क्रियाशक्ति का प्रतीक है। इन सबमें चैतन्यात्मा माला में सूत्र के समान विद्यमान रहता है, इसीलिए इसे सूत्रात्मा कहा जाता है।

सूत्रात्मा एवं हिरण्यगर्भ की यह समष्टि स्थूलप्रपञ्च की अपेक्षा सूक्ष्म होती है। इसीलिए सूक्ष्मशरीर भी कहलाती है। इसके अतिरिक्त इस समष्टि में विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमय तीन कोश होने से 'कोशत्रय' तथा विराट्रूप में अनुभव की गई स्थूलप्रपञ्च से सम्बन्धित वासना से युक्त होने के कारण 'स्वप्न' कहलाती है, क्योंकि चैतन्य स्थूलसृष्टि के अन्तर्गत दैनिक व्यवहार में जिस-जिसप्रकार की अनुभूति करता है वे सभी भाव वासनारूप

में उसके अन्दर विद्यमान रहते हैं। उन्हीं भावों को वह स्वप्नावस्था में अनुभव करता है। इसके अलावा प्रलयकाल की अवस्था में सम्पूर्ण स्थूल प्रपञ्च का विलय भी इसी सूक्ष्मशरीर में होता है। इसलिए इसे 'लयस्थान' भी कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त तेजोमय अन्तःकरण से विशिष्ट, अलग-अलग सूक्ष्मशरीर से उपलक्षित चैतन्य की 'तैजस्' संज्ञा होती है। समष्टि के समान ही यह भी स्थूलशरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण 'सूक्ष्मशरीर', विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय इन तीन कोशों से युक्त होने से 'कोशत्रय' तथा चैतन्य द्वारा अनुभव की गई स्थूलशरीर सम्बन्धित वासनाओं से युक्त होने से 'स्वप्न' तथा स्थूलशरीर का लय होने से 'लयस्थान' कहलाती है।

सूत्रात्मा और तेजस् ये दोनों सूक्ष्ममनोवृत्तियों द्वारा स्थूलशरीर में अनुभव किए गए वासनामय शब्दादि विषयों का स्वप्नावस्था में भी ठीक उसीप्रकार अनुभव करते हैं, जिसप्रकार ईश्वर और प्राज्ञ अज्ञान की सूक्ष्मवृत्तियों द्वारा सुषुप्ति अवस्था में भी आनन्द का अनुभव करते हैं। अपने कथन की पुष्टि में ग्रन्थकार श्रुतिवचन को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हैं, जिसका पूर्णवाक्य इसप्रकार है–

'स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तेजसः'

अर्थात् बाह्यविषयों से असम्बद्ध 'तैजस्' संज्ञा वाला चैतन्य स्वप्नावस्था में भी अपने सात अंगों एवं उन्नीस मुखों से वासनामय सूक्ष्मशब्द आदि विषयों का उपभोग करता है। यहाँ उन्नीस मुखों से अभिप्राय पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार कुल उन्नीस तत्त्वों से है तथा सात अंग-अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु, वेद, दिशा, आकाश तथा पृथिवी को माना गया है।

इसप्रकार यहाँ भी विज्ञानमय आदि कोशत्रय की समष्टि तथा उससे उपहित सूत्रात्मारूप चैतन्य की तथा इसी की व्यष्टिरूप विज्ञानमय आदि कोशत्रय तथा उससे अवच्छिन्न तैजस् संज्ञा वाले चैतन्य की, ठीक उसीप्रकार अभिन्नता मानी गयी है, जैसे–वन एवं वृक्ष तथा उनसे अवच्छिन्न आकाश में अभिन्नता होती है। इसीप्रकार जैसे–जल एवं जलाशय तथा उनमें प्रतिबिम्बित आकाश में ऐक्य है।

अतः सूत्रात्मा एवं तैजस् इन दोनों का भेद समष्टि एवं व्यष्टि की दृष्टि से नाममात्र का भेद है। वास्तविकदृष्टि से समष्टि एवं व्यष्टि तथा उनमें स्थित सूत्रात्मा एवं तैजस्रूप चैतन्य वस्तुतः एक ही हैं। इसप्रकार

अपञ्चीकृत पञ्चभूतों की सृष्टि 'सूक्ष्मशरीर' का समष्टिव्यष्टि की दृष्टि से भी विवेचन किया गया एवं उनकी परस्पर एकता भी प्रदर्शित की गई।

विशेष–(1) स्वप्न–जाग्रत अवस्था में सांसारिकविषयों का अनुभव करने के परिणामस्वरूप बनी वासनाएँ ही चित्त में विद्यमान रहती हैं, जो स्वप्न में अनुभव की जाती हैं। इसप्रकार स्वप्न केवल वासनामय ही होता है। सूक्ष्मशरीर को भी जाग्रत अवस्था में विषयों के अनुभवरूप वासनाओं से उत्पन्न होने से 'स्वप्न' माना गया है।

(2) समष्टिरूप चैतन्य को 'सूत्रात्मा' तथा व्यष्टिरूप चैतन्य को 'तैजस्' कहा गया है, जिसमें वन एवं वृक्ष के समान ऐक्य बताया गया है।

(3) सम्पूर्ण चराचर के अनन्त सूक्ष्मशरीरों में माला के सूत्र के समान विद्यमान होने से समष्टिरूप चैतन्य को 'सूत्रात्मा' कहा गया है।

(4) इसीप्रकार तेजोमय अन्तःकरण से विशिष्ट होने के कारण पृथक्-पृथक् सूक्ष्मशरीरों में स्थित व्यष्टिरूप चैतन्य को 'तैजस्' संज्ञा प्रदान की गई है।

(5) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रस्तुत कर सकते हैं–

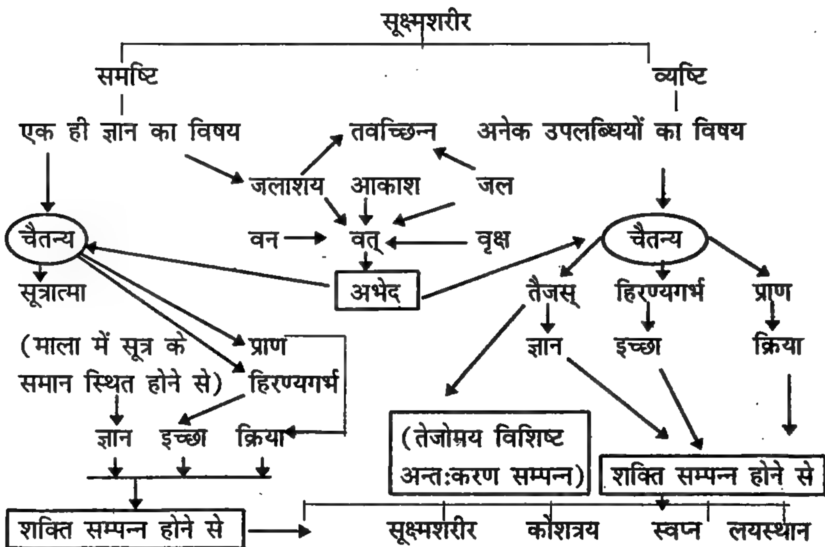

अवतरणिका–सूक्ष्मशरीर एवं उसकी समष्टिव्यष्टि के ऐक्य का प्रतिपादन करने के पश्चात् ग्रन्थकार स्थूलसृष्टि के लिए आवश्यक पञ्चीकरणप्रक्रिया का उल्लेख करते हैं–

स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि। पञ्चीकरणं त्वाकाशादिपञ्चस्वेकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान्पञ्चभागान्प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णां भागानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तरेषु संयोजनम्। तदुक्तम्–

"द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्चपञ्च ते" इति॥

पदच्छेद– स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि। पञ्चीकरणम् तु-आकाशादि पञ्चसु एकैकम् द्विधा समम् विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्चभागान् प्रत्येकम् चतुर्धा समम् विभज्य, तेषाम् चतुर्णाम् भागानाम् स्व-स्वद्वितीय-अर्धभाग-परित्यागेन भागान्तरेषु संयोजनम्। तद् उक्तम्–

अन्वय– "प्रथमम् (प्रत्येकम्) द्विधा विधाय, पुनः एक-एकम् चतुर्धा (विधाय) स्व-स्व-इतर द्वितीयांशैः योजनात् ते पञ्च-पञ्च एव भवन्ति॥"

अनुवाद–पञ्चीकृत (महाभूतों) को ही स्थूलभूत (कहा जाता है)। पञ्चीकरण तो (वह है जिसमें) आकाश आदि सूक्ष्मपञ्चभूतों में से प्रत्येक को दो भागों में बराबर विभाजित करके, उन दस भागों के, प्रथम पञ्च भागों में से प्रत्येक को पुनः चार बराबर भागों में विभाजित करके, उन चार भागों को अपने-अपने द्वितीय अर्धभाग को छोड़कर दूसरे भागों में मिलाया जाता है। इसीलिए कहा भी गया है–

सर्वप्रथम (प्रत्येक सूक्ष्मभूत को) समान दो भागों में विभाजित करके, तत्पश्चात् (प्रथम पाँच में से) प्रत्येक को चार भागों में विभक्त करके, अपने-अपने अंश को छोड़कर, अन्य भूतों के अर्धांश के साथ जोड़ने से वे पाँच (सूक्ष्मभूत) पाँच (स्थूलभूत) हो जाते हैं।

'चन्द्रिका'–यहाँ तक ग्रन्थकार ने अपञ्चीकृतसूक्ष्मभूतों से सूक्ष्मप्रपञ्च की उत्पत्ति का विस्तारपूर्वक कथन किया। तदनन्तर स्थूलप्रपञ्च की उत्पत्ति के प्रतिपादन का उपक्रम करते हैं, किन्तु इससे पूर्व वेदान्त के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पञ्चीकरण की प्रक्रिया को कहते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण स्थूल प्रपञ्च की उत्पत्ति पञ्चीकृतमहाभूतों द्वारा ही होती है। तदनुसार–

पञ्चीकरण प्रक्रिया–आकाश आदि सूक्ष्मभूतों के सर्वप्रथम दो-दो भाग किए जाते हैं। इसप्रकार प्राप्त हुए दस भागों में से प्रथम पाँच भागों को पुनः चार-चार भागों में विभाजित किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप एक

सूक्ष्मभूत अपने पाँच भागों में विभक्त हो जाता है–प्रथम 1/2+1/8+1/8+1/8+1/8=एक (एक आधा भाग तथा शेष चार 1/8 भाग)।

पुनः इन सब भागों में से अपने-अपने आधे भाग को छोड़कर अन्य सूक्ष्मभूत का एक-एक अष्टमांश 1/8 भाग दूसरे चारों भागों में मिला दिया जाता है। परिणामस्वरूप प्रत्येक महाभूत में आधा अपना तथा शेष चार सूक्ष्मभूतों का 1/8 अष्टमांश मिलने पर प्रत्येक आकाश आदि भूत पूर्णता को प्राप्त करके, पञ्चीकृतमहाभूत की संज्ञा को प्राप्त कर लेता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को निम्नप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

चित्र-४१

पञ्चीकरण प्रक्रिया					
	आकाश 1/2	वायु 1/2	अग्नि 1/2	जल 1/2	पृथिवी 1/2
1/8	वायु	आकाश	आकाश	आकाश	आकाश
1/8	अग्नि	अग्नि	वायु	वायु	वायु
1/8	जल	जल	जल	अग्नि	अग्नि
1/8	पृथिवी	पृथिवी	पृथिवी	पृथिवी	जल
पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत					

इन्हीं पञ्चीकृतमहाभूतों से स्थूलसृष्टि का निर्माण होता है। जिसका वर्णन आगे किया जाएगा। अपनी बात की पुष्टि में ग्रन्थकार पञ्चदशी की कारिका को प्रमाणरूप में प्रयुक्त करते हैं। इस कारिका का अभिप्राय भी वही है जो ऊपर गद्यखण्ड में प्रतिपादित किया गया है।

विशेष–(1) उपर्युक्त प्रक्रिया को अपेक्षाकृत अधिक विस्तारपूर्वक चित्रात्मक ढंग से समझने के लिए द्रष्टव्य चित्र संख्या 9 एवं 10 (भूमिका)।

(2) आचार्य सुरेश्वर ने इसी पञ्चीकरणप्रक्रिया को अपने वार्तिक में इसप्रकार प्रतिपादित किया है, जो अपेक्षाकृत अधिक सरल प्रतीत होता है–

पृथिव्यादीनि भूतानि प्रत्येकं विभजेद् द्विधा।
एकैकं भागमादाय चतुर्धा विभजेत् पुनः।।
एकैकं भागमेकस्मिन् भूते संवेशयेत्क्रमात्।
ततश्चाकाशभूतस्य भागाः पञ्च भवन्ति हि।।

वाय्वादि भागांश्चत्वारो वाय्वादिष्वेवमादिशेत्।
पञ्चीकरणमेतत्स्यादित्याहुस्तत्त्ववेदिनः।।

अवतरणिका–पञ्चीकरणप्रक्रिया का निरूपण करने के प्रसङ्ग में ही उपनिषद् प्रतिपादित त्रिवृत्करण की प्रक्रिया को पञ्चीकरणप्रक्रिया का ही उपलक्षण बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं–

अस्याप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात्। पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च "वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वाद" इतिन्यायेनाकाशादिव्यपदेशः सम्भवति। तदानीमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते वायौ शब्दस्पर्शावग्नौ शब्दस्पर्शरूपाण्यप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च।।१५।।

पदच्छेद–अस्य अप्रामाण्यम् न आशङ्कनीयम् त्रिवत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्य अपि उपलक्षणत्वात्। पञ्चानाम् पञ्चात्मकत्वे समाने अपि तेषु च "वैशेष्यात् तद्वादः तद्वादः" इति न्यायेन आकाशादि व्यपदेशः सम्भवति। तदानीम् आकाशे-शब्दः अभिव्यज्यते, वायौ-शब्दस्पर्शौ अग्नौ-शब्द-स्पर्श-रूपाणि, अप्सु-शब्द-स्पर्श-रूप-रसाः, पृथिव्याम्-शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः च।।15।।

अनुवाद– श्रुति का त्रिवृत्करण (यहाँ बताए गए) पञ्चीकरण का भी उपलक्षण होने के कारण, इसके अप्रामाण्य की आशङ्का नहीं करनी चाहिए। पाँचों (महाभूतों) में पाँचों के समानभाग मिले हुए होने पर भी उन सबमें प्रधान अंश के आधार पर उस-उसको कहे जाने रूप न्याय से ही (उनमें) आकाश आदि का व्यवहार सम्भव होता है। उस समय ही आकाश में शब्द, वायु में शब्द एवं स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श एवं रूप, जलों में शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की अभिव्यक्ति होती है।

'चन्द्रिका'–छान्दोग्योपनिषद् (6.3.3) में सर्वप्रथम अग्नि की उत्पत्ति कही गई है तथा उसके बाद अग्नि से जल एवं जल से पृथिवी की उत्पत्ति का कथन करके, उनके त्रिवृत्करण द्वारा स्थूलसृष्टि की उत्पत्ति बतायी गयी है–

"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः, अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि, इति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् (6.3.2-3)

त्रिवृत्करण के अनुसार अग्नि, जल और पृथिवी इन तीनों को सर्वप्रथम दो बराबर भागों में विभाजित किया जाता है। पुनः प्रथम तीन अर्धांशों को फिर से दो भागों में विभाजित करके, उनका एक-एक भाग पूर्व के अर्धांश में जोड़ दिया जाता है। जिससे त्रिवृत्भूत का निर्माण होता है। ठीक इस प्रकार-

चित्र-४२

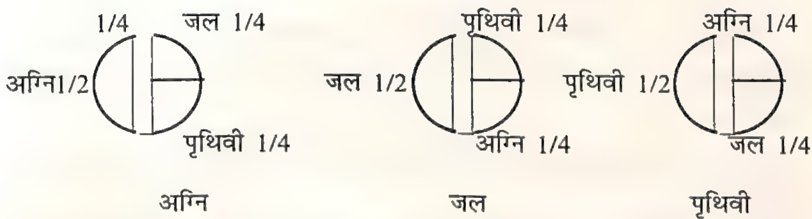

अग्नि जल पृथिवी

किन्तु आचार्य सदानन्द ने यहाँ पञ्चीकरणप्रक्रिया द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति का कथन किया है। अतः इस विषय में शङ्का होना स्वाभाविक है कि त्रिवृत्करण को स्थूलसृष्टि का कारण माना जाए अथवा पञ्चीकरण की प्रक्रिया को?

इसी शङ्का के समाधान में ग्रन्थकार कहते हैं कि उपनिषद् में प्रतिपादित त्रिवृत्करण प्रस्तुत पञ्चीकरण का उपलक्षण है अर्थात् वह अपना भी बोध कराता है तथा प्रस्तुत पञ्चीकरण का भी द्योतक है। वस्तुतः स्थूलसृष्टि का निर्माण पञ्चसूक्ष्मभूतों की पञ्चीकरणप्रक्रिया द्वारा ही होता है। अतः छान्दोग्योपनिषद् में प्रतिपादित त्रिवृत्करण को पञ्चमहाभूतों की सृष्टि में प्रयुक्त पञ्चीकरण का उपलक्षण मानना चाहिए।

इस प्रसङ्ग में पुनः एक शङ्का की जा सकती है कि यदि पञ्चीकरण प्रक्रिया के परिणामस्वरूप स्थूलमहाभूतों की सृष्टि के सिद्धान्त को मान भी लिया जाए तो, वायु में पृथिवी का अंश होने के कारण हमें उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिए।

इसीप्रकार आकाश में जल एवं पृथिवी का अंश होने के कारण उसका स्पर्श द्वारा प्रत्यक्ष होने के साथ-साथ चाक्षुषप्रत्यक्ष एवं गन्ध की उपलब्धि भी होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः पञ्चीकरण की प्रामाणिकता पर संदेह किया जा सकता है।

इस शङ्का के समाधान के लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि पञ्चीकरण प्रक्रिया द्वारा यद्यपि पाँचों महाभूतों में पाँचों सूक्ष्मभूतों के अंश विद्यमान रहते

हैं, किन्तु इनमें अपने-अपने अंश की अधिकता के कारण ही तत्-तत् नाम से उनका व्यवहार किया जाता है एवं तत्-तत् अंश की अधिकता से अपने-अपने गुणों की अनुकूलता के आधार पर ही सम्बन्धित इन्द्रियों द्वारा उसका प्रत्यक्ष किया जाता है।

इसीलिए पञ्चीकृत आकाश में शब्द। वायु में शब्द एवं स्पर्श। अग्नि में शब्द, स्पर्श एवं रूप। जल में शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि अपने-अपने कारणों के अनुसार स्पष्टरूप से अनुभव किए जा सकते हैं।

विशेष—(1) पञ्चीकरणप्रक्रिया का उल्लेख न तो बादरायण ने शारीरिकसूत्रों में किया है और न ही आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्य में इसकी चर्चा की है।

(2) अपितु सर्वप्रथम इसका वर्णन उत्तरकालीन टीकाकार आनन्दज्ञान ने किया है।

(3) इसीकारण पाश्चात्यविद्वान् ड्यूसन ने उपनिषदों में प्रतिपादित त्रिवृत्करण के सिद्धान्त को भारतीयदर्शनों की विकासपरम्परा में अपेक्षाकृत पूर्व अवस्था का द्योतक स्वीकार किया है।

(4) यहाँ प्रयुक्त 'उपलक्षण' से अभिप्राय निर्देशन अथवा संकेतमात्र से ग्रहण करना चाहिए।

(5) वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वाद न्याय—यदि किसी एक वस्तु में एकाधिक तत्त्व विद्यमान हो तो अधिकता के आधार पर उसका सम्बोधन किया जाता है—इसीको 'वैशेष्यात् तद्वादः' कहा जाएगा। आकाश आदि पञ्चीकृत महाभूतों के नामकरण का भी यही सिद्धान्त आधाररूप में बताया गया है, क्योंकि जिस नाम से महाभूत को जाना जाता है, उसमें उसका आधा भाग विद्यमान रहता है।

(6) त्रिवृत्करण को अपेक्षाकृत विस्तारपूर्वक समझने के लिए भूमिका में चित्रसंख्या-12 भी द्रष्टव्य है।

अवतरणिका—पञ्चीकरण एवं इसी प्रसङ्ग में त्रिवृत्करण का उल्लेख करने के बाद ग्रन्थकार पञ्चीकरण की प्रक्रिया के पश्चात् उत्पन्न पञ्चमहाभूतों से होने वाली स्थूलसृष्टि का कथन करते हैं—

एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यो भूर्भुवःस्वर्महर्जनस्तपः सत्यमित्येतन्नामकानामुपर्युपरि विद्यमानानामतलवितलसुतलरसातलतलातल-

महातलपातालनामकानामधोऽधोविद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्तिचतुर्विधस्थूलशरीराणां तदुचितानामन्नपानादीनां चोत्पत्तिर्भवति।

चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाख्यानि। जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादीनि। अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि। उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि लतावृक्षादीनि। स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूकामशकादीनि॥१६॥

पदच्छेद– एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यः भूतेभ्यः भूभुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्यम्-इति एतत् नामकानाम् उपर्युपरि विद्यमानानाम् अतल-वितल-सुतल-रसातल- तलातल-महातल-पाताल-नामकानाम् अधोऽधः विद्यमानानाम् लोकानाम्, ब्रह्माण्डस्य तद् अन्तर्वर्ति-चतुर्विध-स्थूलशरीराणाम् तद् उचितानाम् अन्नपान-आदीनाम् च उत्पत्तिः भवति।

चतुर्विध-शरीराणि तु जरायुज-अण्डज-उद्भिज्ज-स्वेदज-आख्यानि। जरायुजानि-जरायुभ्यः जातानि, मनुष्य-पशु-आदीनि। अण्डजानि-अण्डेभ्यः जातानि, पक्षि-पन्नग-आदीनि। उद्भिज्जानि-भूमिम् उद्भिद्य जातानि लता वृक्ष-आदीनि। स्वेदजानि-स्वेदेभ्यः जातानि, यूका मशक-आदीनि॥16॥

अनुवाद–इन पञ्चीकृत महाभूतों में भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् इत्यादि नाम वाले ऊपर-ऊपर विद्यमान लोकों की और अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल नामक अधोवर्ती भुवनों की, ब्रह्माण्ड की तथा उनमें विद्यमान चार प्रकार के स्थूलशरीरों की एवं उनके योग्य अन्नपान आदिकों की उत्पत्ति होती है।

जबकि जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज एवं स्वेदज नामक चार प्रकार के (स्थूल) शरीर हैं। जरायु से उत्पन्न होने वाले मनुष्य, पशु आदि जरायुज (नामक स्थूलशरीर) हैं। अण्डों से उत्पन्न होने वाले पक्षी, सर्प आदि अण्डज हैं। पृथ्वी को भेदकर उत्पन्न होने वाले लता, वृक्ष आदि उद्भिज्ज हैं तथा पसीने से पैदा होने वाले जूँ, मच्छर आदि स्वेदज (नामक स्थूल शरीर) हैं।

'चन्द्रिका'–उपर्युक्त गद्यखण्ड का अर्थ स्पष्ट होने से व्याख्या की आवश्यकता नहीं है।

विशेष–(1) प्रस्तुत अंश में भूः आदि सात ऊर्ध्वलोक, पाताल आदि सात अधोलोक, इसप्रकार कुल चौदहभुवन, उनसे निर्मित सम्पूर्णब्रह्माण्ड तथा उन लोकों में विद्यमान चार प्रकार के स्थूलशरीर-जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज

तथा स्वेदज के साथ-साथ इनके पोषण के योग्य भोगपदार्थों अन्नपान आदि की उत्पत्ति का कथन किया गया है।

(2) प्रस्तुत गद्यखण्ड को चित्रात्मकदृष्टि से समझने के लिए द्रष्टव्य भूमिका में चित्र संख्या-11 एवं 17 ।

अवतरणिका—तत्पश्चात् स्थूलप्रपञ्च का समष्टिव्यष्टि की दृष्टि से निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

अत्रापि चतुर्विधसकलस्थूलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिर्वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडित्युच्यते सर्वनराभिमानित्वाद्विविधं राजमानत्वाच्च।

अस्यैषा समष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादन्नमयकोशः स्थूल भोगायतनत्वाच्च स्थूलशरीरं जाग्रदिति च व्यपदिश्यते। एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादि-प्रविष्टत्वात्। अस्याप्येषा व्यष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादेव हेतोरन्नमयकोशो जाग्रदिति चोच्यते।

तदानीमेतौ विश्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धानग्नीन्द्रोपेन्द्रयम-प्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाद्वचनादानगमन-विसर्गानन्दां श्चन्द्रचतुर्मुखशङ्कराच्युतैः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहङ्कार-चित्ताख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमात्सङ्कल्पनिश्चयाहङ्कार्यचैत्तांश्च सर्वानेतान् स्थूलविषयाननुभवतो "जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञ" इत्यादिश्रुतेः।

अत्राप्यनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्ट्योस्तदुपहितविश्ववैश्वानरयोश्च वनवृक्ष-वत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्च पूर्ववदभेदः। एवं पञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः॥१७॥

पदच्छेद—अत्र अपि चतुर्विध-सकल-स्थूल-शरीरम् एक-अनेक-बुद्धि विषयतया वनवद् जलाशयवद् वा समष्टिः, वृक्षवद् जलवद् वा व्यष्टिः अपि भवति। एतत् समष्टि-उपहितम् चैतन्यम् वैश्वानरः विराट् इति उच्यते, सर्वनराभिमानित्वाद्, विविधं राजमानत्वात् च।

अस्य एषा समष्टिः स्थूलशरीरम्, अन्नविकारत्वाद् अन्नमयकोषः, स्थूल भोगायतनत्वात् च स्थूलशरीरम्, जाग्रद् इति च व्यपदिश्यते। एतत् व्यष्टि-उपहितम् चैतन्यम् विश्वः, इति उच्यते, सूक्ष्मशरीर-अभिमानम्

अपरित्यज्य स्थूलशरीरादि-प्रविष्टत्वात्। अस्य अपि एषा व्यष्टिः स्थूलशरीरम्, अन्नविकारत्वाद् एव हेतोः अन्नमयकोशः, जाग्रद् इति च उच्यते।

तदानीम् एतौ विश्व-वैश्वानरौ दिग्-वात-अर्क-वरुण-अश्विभिः क्रमात् नियन्त्रितेन श्रोत्रादि इन्द्रियपञ्चकेन क्रमात्, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धान्, अग्नि-इन्द-उपेन्द्र-यम-प्रजापतिभिः क्रमात् नियन्त्रितेन वाग् आदि इन्द्रियपञ्चकेन क्रमाद् वचन-आदान-गमन-विसर्ग-आनन्दान्, चन्द्र-चतुर्मुख-शङ्कर-अच्युतैः क्रमात् नियन्त्रितेन, मनः-बुद्धि-अहङ्कार-चित्त-आख्येन अन्तरिन्द्रिय-चतुष्केण क्रमात् सङ्कल्प-निश्चय-अहङ्कार्य-चैत्तान् च सर्वान् एतान् स्थूलविषयान् अनुभवतः, "जागरितस्थानः बहिःप्रज्ञ" इत्यादि श्रुतेः।

अत्र अपि अनयोः स्थूलव्यष्टि-समष्ट्योः, तद् उपहित विश्व-वैश्वानरयोः, च, वन-वृक्षवत् तद् अवच्छिन्न-आकाशवत् च जलाशय-जलवत् तद्गत प्रतिबिम्ब-आकाशवत् च पूर्ववद् अभेदः। एवम् पञ्चीकृत पञ्चभूतेभ्यः स्थूल प्रपञ्च-उत्पत्तिः।।17।।

अनुवाद— यहाँ भी चार प्रकार के सभी स्थूलशरीर, एक और अनेक बुद्धियों का विषय होने से वन अथवा जलाशय के समान समष्टि, वृक्ष अथवा जल के समान व्यष्टि भी होते हैं। इस समष्टिरूप उपाधि से उपहित हुआ चैतन्य, सभी प्राणियों का अधिष्ठाता होने एवं विविध रूपों में विराजमान होने के कारण वैश्वानर एवं विराट् कहा जाता है।

समष्टिरूप इसका यह स्थूलशरीर (माता-पिता द्वारा खाए हुए) अन्न का विकार होने से अन्नमयकोश, स्थूलभागों का आश्रय होने से स्थूलशरीर तथा (विषयों का भोग करने वाला होने के कारण) जाग्रद् इसप्रकार कहा जाता है।

इस व्यष्टिरूप उपाधि से उपहित चैतन्य, सूक्ष्मशरीर के अभिमान का परित्याग किए बिना स्थूलशरीर में प्रविष्ट होने के कारण 'विश्व' इसप्रकार कहा जाता है। इसका भी यह व्यष्टिरूप स्थूलशरीर, अन्न का विकार होने से ही अन्नमयकोश तथा जाग्रद् इसप्रकार कहलाता है।

ये दोनों विश्व और वैश्वानर उससमय, दिशा, वायु, सूर्य, वरुण तथा अश्विनीकुमारों द्वारा क्रमशः नियन्त्रित श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियों से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का; अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम, प्रजापति द्वारा क्रमशः नियन्त्रित वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियों से क्रमशः बोलना, लेना, चलना, विसर्जन और आनन्द का; चन्द्र, ब्रह्मा, शिव और विष्णु द्वारा क्रमशः नियन्त्रित मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त नामक चार अन्तरिन्द्रियों (के

समूह) से क्रमशः संकल्प-विकल्प, निश्चय, अहङ्कार तथा स्मरण आदि इन सम्पूर्ण स्थूलविषयों का अनुभव करते हैं। "जाग्रत अवस्था से युक्त चैतन्य ही बाह्यविषयों से परिचित है" इत्यादि श्रुतिवचन भी (यहाँ प्रमाण है)।

यहाँ भी इन दोनों स्थूल व्यष्टि एवं समष्टि में तथा उनसे उपहित विश्व और वैश्वानर में, वन और वृक्ष एवं उससे अवच्छिन्न आकाश के समान, जलाशय और जल तथा उसके प्रतिबिम्बित आकाश के समान पूर्ववत् अभेद होता है। इसप्रकार पञ्चीकृत पाँच महाभूतों से स्थूलप्रपञ्च की उत्पत्ति होती है।

'चन्द्रिका'–स्थूलसृष्टि का कथन करने के उपरान्त समष्टि-व्यष्टि की दृष्टि से ग्रन्थकार चैतन्य का नामकरण करते हुए उनमें अभेद की स्थापना करते हैं–सम्पूर्ण स्थूलसृष्टि के अन्तर्गत बताए गए जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज एवं स्वेदज चार प्रकार के स्थूलशरीर एकत्व अथवा अनेकत्व की विवक्षा में प्रत्येक प्राणी की एक बुद्धि तथा अलग-अलग प्राणियों की अलग-अलग अनेक बुद्धियों का विषय होने से, वन एवं जलाशय के समान समष्टि तथा वृक्ष एवं जल के समान व्यष्टिरूप में व्यवहृत होते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार सभी वृक्षों को एक साथ कहने की इच्छा से वन एवं सभी जलों को एक साथ कहने की भावना से जलाशय इसरूप में कहा जाता है, ठीक उसीप्रकार विभिन्नप्रकार के स्थूलशरीरों को एक साथ कहने की दृष्टि से एक बुद्धि का विषय तथा अनेकरूप में कहने की विवक्षा से भिन्न-भिन्न शरीर मानकर विभिन्न बुद्धियों का विषय स्वीकार किया जाता है। यही क्रमशः समष्टि एवं व्यष्टि कहलाती है।

इस समष्टि से उपहितचैतन्य को **वैश्वानर** अथवा **विराट्** कहा जाता है। इसका मुख्यकारण यही है कि समष्टि से उपहित यह चैतन्य सभी प्राणियों में 'मैं' इस अभिमान को धारण किए हुए विविधप्रकार से सुशोभित हो रहा है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत विद्यमान अज्ञान की उपाधियुक्त, चार प्रकार के स्थूलशरीरों की यह समष्टि विद्वानों द्वारा 'स्थूलशरीर' इस नाम से कही जाती है। इसके अतिरिक्त यह स्थूलशरीर माता-पिता द्वारा खाए गए अन्न द्वारा उत्पन्न होता है, इसलिए 'अन्नमय' भी कहलाता है। साथ ही आत्मा का आच्छादक होने के कारण 'कोश' एवं सुखदुःख आदि के भोग का आधार होने एवं इन्द्रियों द्वारा तत्तत् विषयों को भोगने के कारण 'जाग्रत्' भी कहा जाता है।

इसके अलावा उन्हीं चार प्रकार के स्थूलशरीरों की व्यष्टि से उपहित चैतन्य यहाँ 'विश्व' कहलाता है। इसका भी मुख्यकारण यही है कि इन अलग-अलग स्थूलशरीरों में रहता हुआ भी वह अपने-अपने सूक्ष्मशरीर के प्रति 'मैं' रूप अभिमान को धारण किए हुए, प्रत्येक स्थूलशरीर में विद्यमान रहता है। अज्ञान की यह व्यष्टि भी समष्टि के समान ही 'स्थूलशरीर', माता-पिता द्वारा खाए हुए अन्न का विकार होने के कारण 'अन्नमय', आत्मा अथवा चैतन्य का आच्छादक होने से 'कोश तथा सुखदुःख आदि के भोग का आधार होने एवं इन्द्रियों द्वारा उस-उसके विषयों का भोग करने के कारण 'जाग्रत्' इन नामों से व्यवहृत होता है।

प्रस्तुत गद्यखण्ड के इतने अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी समझाया जा सकता है—

चित्र-४३

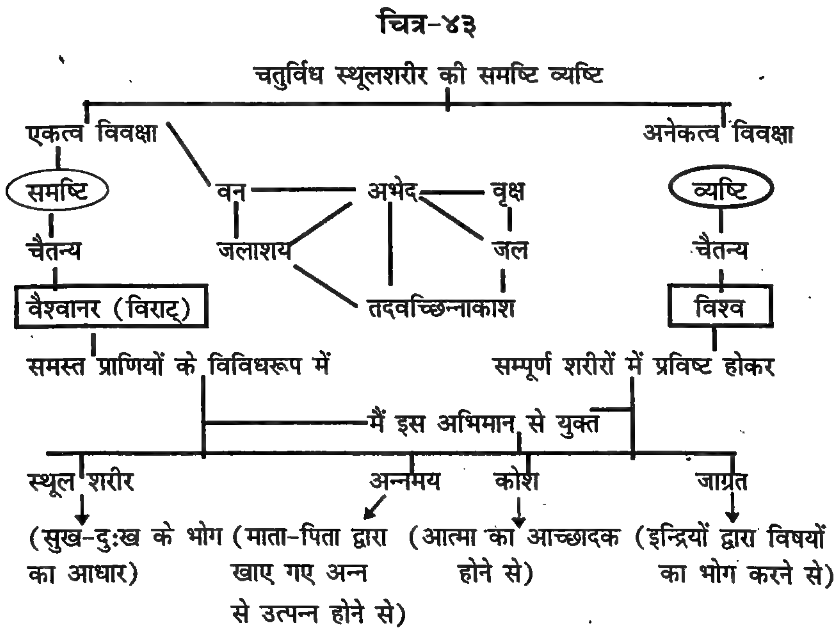

इसप्रकार स्थूलशरीरों की समष्टिव्यष्टि का कथन करने के पश्चात् पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय तथा चार अन्तरिन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवताओं का उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार उनके कार्यों का विस्तारपूर्वक कथन करते हैं—

इस जाग्रत अवस्था में समष्टिरूप उपाधि से उपहित हुआ वैश्वानर अथवा विराट् नामक यह चैतन्य एवं व्यष्टि-उपाधिरूप 'विश्व' ये दोनों–दिशा, वायु, सूर्य, वरुण तथा अश्विनीकुमार देवों से अधिष्ठित क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन गुणों को ग्रहण करते हैं।

इसीप्रकार अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम और प्रजापति इन देवताओं से नियन्त्रित क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों से क्रमशः बोलना, ग्रहण करना (आदानप्रदान), चलना, मलत्याग एवं आनन्दरूप कार्यों को सम्पादित करते हैं।

इसके अतिरिक्त चन्द्र, ब्रह्मा, शङ्कर तथा विष्णु इन देवों द्वारा अधिष्ठित क्रमशः मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा चित्तरूपी चार अन्तः इन्द्रियों के माध्यम से क्रमशः संकल्प-विकल्प, निश्चय, गर्व एवं स्मरणरूपी सभी स्थूलविषयों का अनुभव करते हैं। अपने कथन की पुष्टि में माण्डूक्योपनिषद् की उक्ति को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि–"जाग्रत अवस्था से युक्त यह चैतन्य ही सम्पूर्ण बाह्यविषयों से अवगत रहता है।"

इस स्थिति में भी अर्थात् स्थूल समष्टि एवं व्यष्टि में, उनसे उपहित 'विश्व' और वैश्वानररूप चैतन्य में वन से अवच्छिन्न आकाश तथा वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश, जलाशय में प्रतिबिम्बित आकाश एवं जल में प्रतिबिम्बित आकाश के समान परस्पर किसी भी प्रकार का भेद नहीं है, अपितु शुद्धचैतन्य की दृष्टि से दोनों समान हैं।

तत्पश्चात् अन्त में प्रकरण का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि इसप्रकार पञ्चीकृत महाभूतों से स्थूलप्रपञ्च की सृष्टि होती है।

विशेष–(1) 'अभिमानी' शब्द का प्रयोग यहाँ 'अधिष्ठाता' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

(2) प्रस्तुत गद्यखण्ड के प्रारम्भिक अंश में प्रयुक्त 'नर' शब्द समस्त प्राणियों का उपलक्षण है।

(3) छान्दोग्य एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी वैश्वानर एवं विराट् शब्दों का ही प्रयोग हुआ है।

(4) यहाँ प्रयुक्त 'विविधराजमानत्वात्' का अभिप्राय देव, पशु, मनुष्य, पर्वत, नदी, समुद्र आदि विविधरूपों में विराजमान होने से, उन सबकी 'विराट्' संज्ञा प्रदान करने से है।

(5) इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण करने के कारण इसे 'जाग्रत' कहा गया है। शङ्कराचार्य एवं सुबोधिनी टीकाकार इस व्याख्या से सहमत हैं–

(क) इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम् (शङ्कराचार्य)

(ख) इन्द्रियैरर्थोपलब्धेश्च जाग्रदवस्थात्वं घटते (सुबोधिनी टीका)

(6) स्थूलशरीरादि में प्रयुक्त 'आदि' पद को अधिकांश व्याख्याकार निरर्थक मानते हैं, किन्तु विद्वन्मनोरञ्जिनीकार ने इसे 'परम स्थूलशरीर' के अर्थ में प्रयुक्त माना है।

(7) यहां प्रतिपादित इन्द्रियविषयक देवताओं का अधिष्ठातृत्व श्रीमद्भागवत में कही गयी परिकल्पना पर आधारित है।

(8) अन्तरिन्द्रियों की संख्या चार मानी गई है–मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार। यद्यपि आचार्य सदानन्द ने मन और बुद्धि में चित्त और अहङ्कार का अन्तर्भाव माना है–

"अनयोरेव चित्ताहङ्कारयोरन्तर्भावः" (वेदान्तसार)

(9) विश्व एवं वैश्वानररूप चैतन्य स्थूलशरीरों में स्थित ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय एवं अन्तःकरणों से सांसारिक स्थूलविषयों का भोग करता है। इन दोनों में दिखायी देने वाला भेद उपाधिमात्र का है, तात्त्विकदृष्टि से दोनों समान हैं।

(10) विश्व एवं वैश्वानर की अन्तरिन्द्रिय तथा बाह्य इन्द्रियों के कार्यों को यहाँ प्रतिपादित देवताओं के अधिष्ठातृत्व के अनुसार इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र-४४

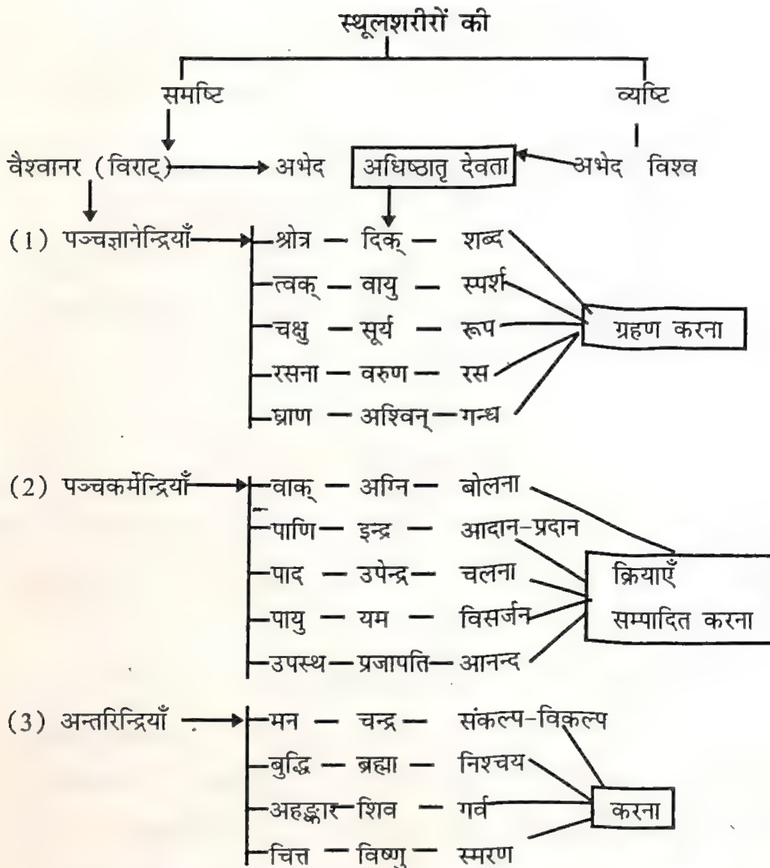

अवतरणिका—इसप्रकार स्थूलप्रपञ्च का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के पश्चात् स्थूलमहाप्रपञ्च की समष्टिव्यष्टि एवं उनमें स्थित चैतन्य में ऐक्य प्रतिपादित करते हैं–

एतेषां स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चानामपि समष्टिरेको महान्प्रपञ्चो भवति यथावान्तरवनानां समष्टिरेकं महद्वनं भवति यथा वावान्तरजलाशयानां समष्टिरेको महान् जलाशयः। एतदुपहितं वैश्वानरादीश्वरपर्यन्तं चैतन्यमप्यवान्तरवनावच्छिन्नाकाशवदवान्तरजलाशयगतप्रतिबिम्बाकाशवच्च चैकमेव। आभ्यां महाप्रपञ्चतदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायः पिण्डवदविविक्तं सदनुपहितं चैतन्यं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति वाक्यस्य वाच्यं भवति

विविक्तं सल्लक्ष्यमपि भवति। एवं वस्तुन्य वस्त्वारोपोऽध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः॥१८॥

पदच्छेद–एतेषाम् स्थूल-सूक्ष्मकारणप्रपञ्चानाम् अपि समष्टिः एकः महान् प्रपञ्चः भवति, यथा- अवान्तर वनानाम् समष्टिः एकम् महद्वनम् भवति। यथा वा अवान्तर-जलाशयानाम् समष्टिः एकः महान् जलाशयः। एतद् उपहितम् वैश्वानराद् ईश्वरपर्यन्तम् चैतन्यम् अपि अवान्तर वन-अवच्छिन्न-आकाशवद् अवान्तर जलाशयगत-प्रतिबिम्ब-आकाशवत् च एकम् एव। आभ्याम् महाप्रपञ्च तद् उपहित-चैतन्याभ्याम् तप्त-अयः पिण्डवद् अविविक्तम् सद् अनुपहितम् चैतन्यम् "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" इति वाक्यस्य वाच्यम् भवति, विविक्तम् सत् लक्ष्यम् अपि भवति। एवम् वस्तुनि अवस्तु-आरोपः अध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः॥18॥

अनुवाद–जिसप्रकार अलग-अलग वनों का समूह एक महान् वन हो जाता है अथवा जिसप्रकार पृथक्-पृथक् जलाशयों का समुदाय एक महान् जलाशय बन जाता है, (ठीक उसीप्रकार) इन स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण प्रपञ्चों की समष्टि भी एक महान्प्रपञ्च हो जाता है। इस उपाधि से उपहित वैश्वानर से लेकर ईश्वरपर्यन्त चैतन्य भी अलग-अलग वनों से अवच्छिन्न आकाश के समान तथा भिन्न-भिन्न जलाशयों में प्रतिबिम्बित आकाश के समान एक ही होता है।

'चन्द्रिका'–ग्रन्थकार ने यहाँ तक, कारणशरीर, समष्टि एवं व्यष्टि की दृष्टि से जिसमें स्थित चैतन्य ईश्वर एवं प्राज्ञ कहलाता है। सूक्ष्मशरीर, समष्टि एवं व्यष्टि की दृष्टि से जिसमें स्थित चैतन्य क्रमशः हिरण्यगर्भ अथवा सूत्रात्मा एवं तैजस् कहा जाता है। ठीक इसीप्रकार स्थूलशरीर, जिसमें स्थित चैतन्य समष्टि एवं व्यष्टि की दृष्टि से क्रमशः वैश्वानर (विराट्) एवं विश्व कहलाता है, का प्रतिपादन किया।

जिसप्रकार आम, शीशम, पलाश आदि भिन्न-भिन्न वनों की समष्टि से एक विशालकाय महावन का निर्माण होता है तथा वापी, कूप, तालाब आदि अलग-अलग जलाशयों की समष्टि से एक विशाल महान् जलाशय बन जाता है। ठीक इसीप्रकार अभी तक बताए गए कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर एवं स्थूल- शरीरों की समष्टि को मिलाकर एक महाप्रपञ्च का निर्माण होता है तथा जिसप्रकार वन से अवच्छिन्न आकाश एवं वृक्षों से अवच्छिन्न-आकाश में कोई भेद नहीं होता है।

ठीक उसीप्रकार इन तीनों प्रकार के प्रपञ्चों में स्थित चैतन्यों में अलग-अलग वनों से अवच्छिन्न आकाश के समान, अलग-अलग जलाशयों

में प्रतिबिम्बित होने वाले आकाश के समान, तात्त्विकदृष्टि से किसी भी प्रकार की कोई भिन्नता नहीं होती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार अलग-अलग वनों से अवच्छिन्न आकाश हमें स्थूलदृष्टि से देखने पर भिन्न-भिन्न दिखायी देते हैं तथा जिसप्रकार अलग-अलग जलाशयों में प्रतिबिम्बित आकाश भी हमें स्थूल-दृष्ट्या अलग-अलग ही प्रतीत होते हैं, किन्तु उनमें तात्त्विकदृष्टि से कोई भेद नहीं होता है। ठीक उसीप्रकार कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर एवं स्थूलशरीर की समष्टिव्यष्टि से उपहित चैतन्य भी स्थूलदृष्टि से ही क्रमशः ईश्वर प्राज्ञ, सूत्रात्मा, तैजस् एवं वैश्वानर, विश्वरूप में अलग-अलग प्रतीत होते हैं, जबकि तात्त्विकदृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं होता है।

पुनः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' रूप महावाक्य के वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ को कहते हैं–

इस महाप्रपञ्च तथा उससे उपहित चैतन्य से अभिन्न होकर परमशुद्ध चैतन्य 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इस महावाक्य का वाच्यार्थ होता है तथा वही अलग-अलग होने की स्थिति में लक्ष्यार्थ भी होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार एक लोहे के गोले को अग्नि में डालने पर वह तपकर लाल हो जाता है तथा उससे जलने पर 'मैं लोहे से जल गया' इसप्रकार कहा जाता है, जबकि जलाने की शक्ति लोहे में न होकर अग्नि में होती है। यहाँ अग्नि के सम्पर्क में आने पर लोहे और अग्नि का परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध होने अर्थात् अत्यधिक नैकट्य होने से वे दोनों हमें एक प्रतीत होते हैं, जबकि होते वे दोनों अलग-अलग हैं।

उसीप्रकार महाप्रपञ्च एवं उससे अवच्छिन्नचैतन्य के साथ परस्पर तादात्म्य की प्रतीति होने से प्रतीत होने वाला उपाधिशून्य शुद्धचैतन्य ही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' महावाक्य का अभिधा शब्दशक्ति से प्रतीत होने वाला सीधा अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ है। इसके अतिरिक्त उक्त महाप्रपञ्च एवं उससे उपहितचैतन्य के परस्पर आभासित होने वाली तादात्म्य की प्रतीति से शुद्ध चैतन्य को अलग मानने पर वही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' रूप महावाक्य का लक्ष्यार्थ हो जाता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार 'अयो दहति' लोहा जलाता है, इत्यादि वाक्य में लोहे में जलाये जाने की क्षमता न होने से मुख्य अर्थ (वाच्यार्थ) का बाध हो जाता है तथा लक्षणा शब्दशक्ति से तत्सम्बद्ध अन्य अर्थ की प्रतीति–'लोहे में स्थित अग्नि जलाती है' इस रूप में होती है, जो

वस्तुतः उपर्युक्त 'अयो दहति' वाक्य का लक्ष्यार्थ माना जाएगा, क्योंकि यहाँ 'अय स्' शब्द की अयोगत अग्नि में लक्षणा की गयी है।

ठीक इसीप्रकार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब कुछ दृश्यमानजगत् ही ब्रह्म है। महावाक्य के इस वाच्यार्थ में महाप्रपञ्च, उससे उपहित चैतन्य एवं शुद्धचैतन्य ये तीनों एक कैसे हो सकते हैं? इस आशङ्का से मुख्य अर्थ का बाध होने से लक्षणा करनी होगी तथा उस स्थिति में विशेषणरूप अंश का परित्याग करके चैतन्यमात्र को ग्रहण करेंगे। ऐसा करने पर महाप्रपञ्च से उपहितचैतन्य एवं परमशुद्धचैतन्य दोनों एक हो जाएंगे। परिणामस्वरूप सर्वप्रपञ्च एवं चैतन्य की एकता स्वतःसिद्ध हो जाएगी।

इसप्रकार यहाँ तक वस्तु में अवस्तु के आरोपरूप अध्यारोप का सामान्यरूप से वर्णन किया गया।

विशेष–(1) प्रस्तुत गद्यखण्ड में सृष्टिविकास के कारण, सूक्ष्म एवं स्थूलशरीररूप विकास की अवस्थाओं में प्रतीत होने वाले भेदों में चैतन्य की दृष्टि से अभेद की स्थापना की गई है।

(3) महाप्रपञ्च का सोदाहरण निरुपण किया गया है।

(4) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी समझा जा सकता है–

चित्र–४५

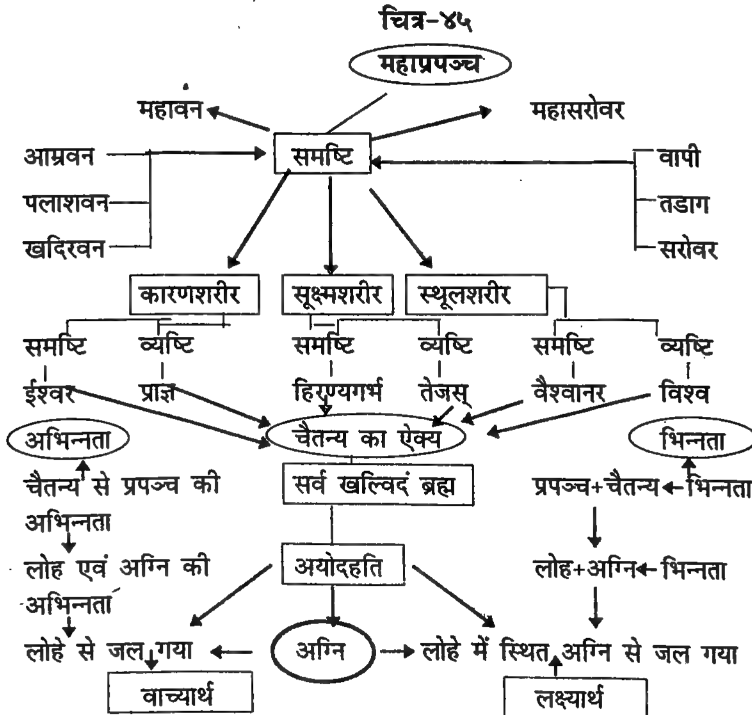

अवतरणिका—इसप्रकार अज्ञान के कारण चैतन्य में प्रतिभासित होने वाले सम्पूर्ण जगत्प्रपञ्च के विकास की समष्टिव्यष्टिविषयक मान्यताओं एवं उनमें ऐक्य का प्रतिपादन करने के पश्चात् आत्माविषयक अनेक प्रकार की भ्रान्तधारणाओं का निराकरण तथा श्रुति में उनके विषय में वर्णित औचित्य के विषय में कहते हैं—

इदानीं प्रत्यगात्मनीदमिदमयमयमारोपयतीति विशेषत उच्यते। अतिप्राकृतस्तु "आत्मा वै जायते पुत्र" इत्यादिश्रुतेः स्वस्मिन्निव स्वपुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात्पुत्रे पुष्टे नष्टे चाहमेव पुष्टो नष्टश्चेत्याद्यनुभवाच्च पुत्र आत्मेति वदति।

चार्वाकस्तु "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय" इत्यादिश्रुतेः प्रदीप्तगृहात्स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनात्स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्याद्यनुभवाच्च स्थूलशरीरमात्मेति वदति।

अपरश्चार्वाकः "ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः" इत्यादिश्रुतेरिन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात्काणोऽहं बधिरोऽहमित्याद्यनुभवाच्चेन्द्रियाण्यात्मेति वदति।

अपरश्चार्वाकः "अन्योऽन्तर आत्माप्राणमय" इत्यादिश्रुतेः प्राणाभाव इन्द्रियादिचलनायोगादहमशनायावानहं पिपासावानित्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्मेति वदति।

अन्यस्तु चार्वाकः "अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय" इत्यादिश्रुतेर्मनसि सुप्ते प्राणादेरभावादहं सङ्कल्पवानहं विकल्पवानित्याद्यनुभवाच्च मन आत्मेति वदति।

बौद्धस्तु "अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय" इत्यादिश्रुतेः कर्तुरभावे करणस्य शक्त्यभावादहं कर्ताहं भोक्तेत्याद्यनुभवाच्च बुद्धिरात्मेति वदति।

प्राभाकरतार्किकौ तु "अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय" इत्यादिश्रुतेर्बुद्ध्यादीनामज्ञाने लयदर्शनदहमज्ञोऽहमज्ञानीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानमात्मेति वदतः।

भाट्टस्तु "प्रज्ञानघन एवानन्दमय" इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशसद्भावान्मामहं न जानामीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानोपहितं चैतन्यमात्मेति वदति।

अपरो बौद्धः "असदेवेदमग्र आसीत्" इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ सर्वाभावादहं सुषुप्तौ नासमित्युत्थितस्य स्वाभावपरामर्शविषयानुभवाच्च शून्यमात्मेति वदति॥१९॥

पदच्छेद– इदानीम् प्रत्यग् आत्मनि इदम्-इदम्, अयम्-अयम् आरोपयति, इति विशेषतः उच्यते–

(1) अतिप्राकृतः तु–"आत्मा वै जायते पुत्रः" इत्यादि श्रुतेः, स्वस्मिन् इव स्वपुत्रे अपि प्रेमदर्शनात् पुत्रे पुष्टे नष्टे च अहम् एव पुष्टः नष्टः च इत्यादि अनुभवात् च पुत्रः आत्मा इति वदति।

(2) चार्वाकः तु–"सः वै एष पुरुषः अन्नरसमयः" इत्यादि श्रुतेः। प्रदीप्तगृहात् स्वपुत्रम् परित्यज्य अपि स्वस्य निर्गमदर्शनात्, स्थूलः अहम्, कृशः अहम् इत्यादि अनुभवात् च स्थूलशरीरम् आत्मा, इति वदति।

(3) अपरः चार्वाकः "ते ह प्राणाः प्रजापतिम् पितरम् एत्य ब्रूयुः" इत्यादि श्रुतेः, इन्द्रियाणाम् अभावे शरीरचलनाभावात्, काणः अहम्, बधिरः अहम्, इत्यादि अनुभवात् च इन्द्रियाणि आत्मा, इति वदति।

(4) अपरः चार्वाकः "अन्यः अन्तरः आत्मा प्राणमयः" इत्यादि श्रुतेः, प्राण-अभावे इन्द्रियादि-चलन-अयोगाद्, अहम् अशनायावान्, अहम् पिपासावान् इत्यादि अनुभवात् च प्राणाः आत्मा इति वदति।

(5) अन्यः तु चार्वाकः "अन्यः अन्तरः आत्मा मनोमयः" इत्यादि श्रुतेः, मनसि सुप्ते प्राणादेः अभावाद् अहम् सङ्कल्पवान्, अहम् विकल्पवान् इत्यादि अनुभवात् च मनः आत्मा इति वदति।

(6) बौद्धः तु "अन्यः अन्तर आत्मा विज्ञानमयः" इत्यादि श्रुतेः, कर्तुः अभावे करणस्य शक्ति-अभावात्, अहम् कर्ता, अहम् भोक्ता, इत्यादि अनुभवात् च बुद्धिः आत्मा इति वदति।

(7) प्राभाकरतार्किकौ तु "अन्यः अन्तरः आत्मा आनन्दमयः" इत्यादि श्रुतेः बुद्धि-आदीनाम् अज्ञाने लयदर्शनात् अहम् अज्ञः, अहम् अज्ञानी, इत्यादि अनुभवात् च अज्ञानम् आत्मा इति वदतः।

(8) भाट्टः तु "प्रज्ञानघन एव आनन्दमयः" इत्यादि श्रुतेः, सुषुप्तौ प्रकाश-अप्रकाश-सद्भावात् माम् अहम् न जानामि, इत्यादि अनुभवात् च अज्ञान-उपहितम् चैतन्यम् आत्मा, इति वदति।

(9) अपरः बौद्धः "असद् एव इदम् अग्रे आसीत्" इत्यादि श्रुतेः, सुषुप्तौ सर्व-अभावाद् 'अहम् सुषुप्तौः न आसम्' इति उत्थितस्य स्व-अभावपरामर्श-विषय-अनुभवात् च शून्यम् आत्मा इति वदति।।19।।

अनुवाद–अब अन्तरात्मारूप चैतन्य में 'यह आत्मा है', 'यह आत्मा है', इसप्रकार जो आरोप किया जाता है, विशेषरूप से (उसके विषय में) कहा जा रहा है–

(1) अत्यन्त सामान्यलोग तो 'आत्मा ही पुत्ररूप में उत्पन्न होता है', इत्यादि श्रुति के वचन से एवं अपने समान ही अपने पुत्र में भी प्रेम को देखने के कारण, पुत्र के पुष्ट एवं नष्ट होने पर 'मैं ही पुष्ट एवं नष्ट हो गया' इत्यादि अनुभव के कारण 'पुत्र ही आत्मा है', इसप्रकार कहते हैं।

(2) चार्वाक् (मतानुयायी) तो "वह यह पुरुष अन्नरस का विकार है' इत्यादि श्रुतिवचन के अनुसार, जलते हुए घर में अपने पुत्र को भी छोड़कर स्वयं के (बाहर) निकल आने को देखकर, मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ, इत्यादि अनुभव के कारण, (यह) स्थूलशरीर ही आत्मा है, इसप्रकार कहता है।

(3) अन्य चार्वाक् (मतानुयायी) 'वे प्राण अर्थात् इन्द्रियाँ प्रजापति के पास जाकर बोलीं' इत्यादि श्रुतिवचन के अनुसार, इन्द्रियों के अभाव में शरीर में गति का अभाव होने से, 'मैं काना हूँ', 'मैं बहरा हूँ' इत्यादि अनुभवों के कारण, 'इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं', इसप्रकार कहता है।

(4) अन्य चार्वाक् (मतानुयायी) 'आन्तरिक आत्मा (इससे) भिन्न अर्थात् प्राणरूप है' इत्यादि श्रुतिवचन के अनुसार, प्राणों के अभाव में इन्द्रिय आदि में गति न होने से, 'मैं भूखा हूँ', 'मैं प्यासा हूँ' इत्यादि अनुभव के कारण, 'प्राण ही आत्मा है', ऐसा कहता है।

(5) अन्य चार्वाक् (मतानुयायी) तो 'आन्तरिक आत्मा (इससे) भिन्न अर्थात् मनोमय है' इत्यादि श्रुतिवचन के अनुसार, मन के प्रसुप्त होने पर प्राणादि का अभाव होने से, 'मैं सङ्कल्पवान् हूँ', 'मैं विकल्पवान् हूँ' इत्यादि अनुभव के कारण, 'मन ही आत्मा है' इसप्रकार कहता है।

(6) बौद्ध (मतानुयायी) तो 'आन्तरिक आत्मा (इससे) अलग अर्थात् विज्ञानमय है' इत्यादि श्रुतिवचन के अनुसार, कर्ता के अभाव में करण की शक्ति का अभाव हो जाने के कारण, मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ इत्यादि अनुभव से, 'बुद्धि ही आत्मा है' इसप्रकार कहता है।

(7) प्रभाकर अनुयायी एवं न्याय (मतावलम्बी) तो 'आन्तरिक आत्मा (इस सबसे) भिन्न अज्ञानमय है' इत्यादि श्रुतिवचन के अनुसार, बुद्धि आदि

का अज्ञान में लय होता देखने से, 'मैं अज्ञानी हूँ', 'मैं अज्ञानी हूँ', इत्यादि अनुभव के कारण, 'अज्ञान ही आत्मा है' इसप्रकार कहते हैं।

(8) कुमारिलभट्ट के (मतानुयायी) तो 'अज्ञानघन और आनन्दमय ही आत्मा है' इत्यादि श्रुतिवचन के अनुसार, सुषुप्ति अवस्था में प्रकाश एवं अप्रकाश दोनों के विद्यमान होने से, 'मैं स्वयं को नहीं जानता हूँ', इत्यादि अनुभव के कारण, 'अज्ञानरूप उपाधि से युक्त चैतन्य ही आत्मा है' इसप्रकार कहता है।

(9) अन्य बौद्ध (मतानुयायी)– 'सृष्टि से पूर्व यह असत् (शून्य) ही था' इत्यादि श्रुति का वचन, सुषुप्ति अवस्था में सबका अभाव होने के कारण, 'मैं सुषुप्ति अवस्था में नहीं था' उठने पर ऐसे अपने अभावरूप परामर्शविषयक अनुभव होने के कारण, 'शून्य ही आत्मा है' इसप्रकार कहता है।

'चन्द्रिका'– उक्त अंश की व्याख्या के लिए द्रष्टव्य भूमिका में शीर्षक (23)-आत्मा विषयक विभिन्न मत। पृष्ठ संख्या-(98)।

विशेष–(1) प्रस्तुत गद्यखण्ड में ग्रन्थकार के समय में आत्मा के सम्बन्ध में प्रचलितमतों को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।

(2) यहाँ आत्मा के सम्बन्ध में स्थूलतम से सूक्ष्म की ओर जाते हुए तत्तत् मत को श्रुति, तर्क एवं अनुभव के आधार पर पुष्ट करते हुए पूर्वपक्ष का प्रतिपादन किया गया है।

(3) चार्वाक–नास्तिक विचारधारा के लोग, जो केवल भोगवाद में विश्वास करते थे। इनकी बातें सामान्यतया सुनने में अच्छी लगने के कारण सम्भवतः इन्हें 'चारु वाक्' कहा गया।

(4) अपरः चार्वाकः शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनसमय में सम्भवतः चार्वाक मतावलम्बियों में भी भिन्न-भिन्न मत विद्यमान थे।

(5) मतसंख्या तीन में 'प्राण' शब्द 'इन्द्रिय' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

(6) प्रकाशाप्रकाशसद्भावात्–सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान एवं अज्ञान दोनों ही विद्यमान रहते हैं। यहाँ प्रकाश, ज्ञान का तथा अप्रकाश, अज्ञान का प्रतीक है।

(7) प्रज्ञानघन से अभिप्राय अज्ञान की अपेक्षा ज्ञान के आधिक्य से है।

(8) 'भाट्ट' शब्द का प्रयोग कुमारिलभट्ट के अनुयायी मीमांसकों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

(9) तार्किक से अभिप्राय न्यायसिद्धान्त के मतावलम्बी विद्वानों से है।

(10) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र-४६

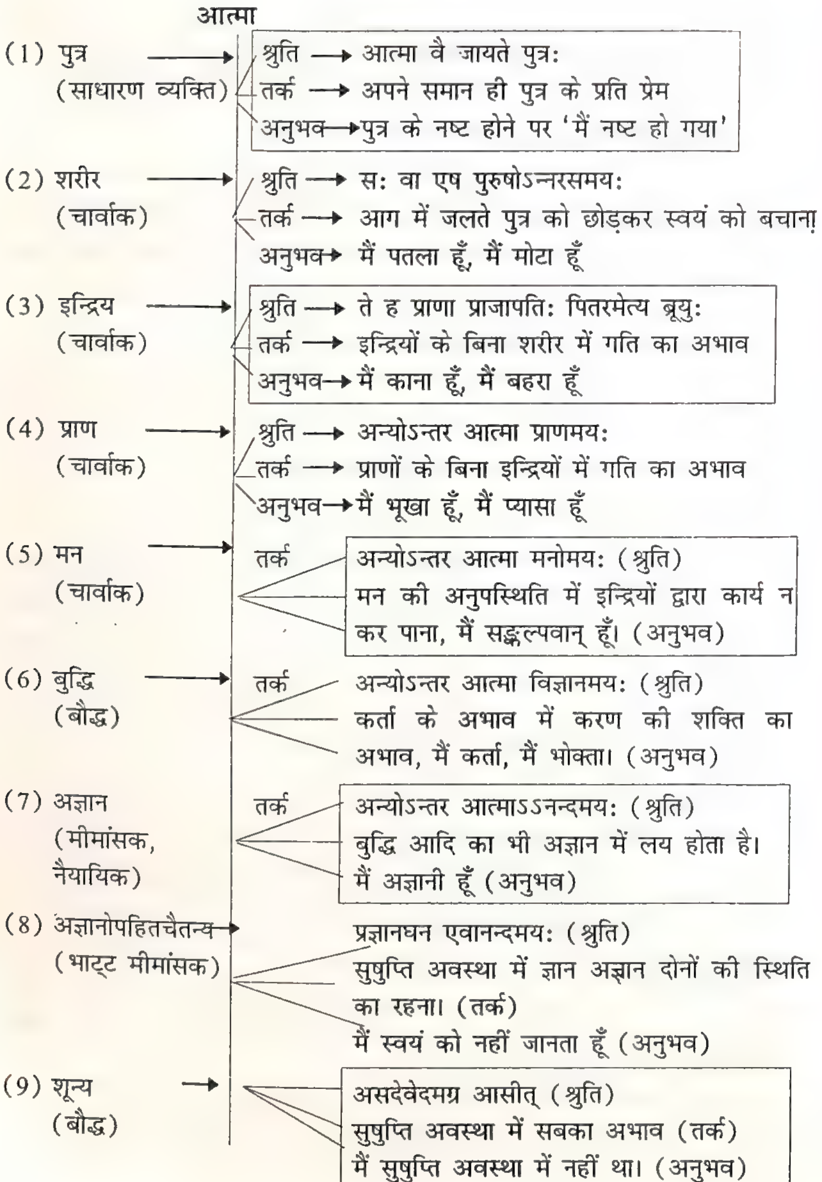

अवतरणिका–इसप्रकार विभिन्नमतों में आत्माविषयक मतों का निरूपण पूर्वपक्ष के रूप में करने के पश्चात् 'पुत्रादि' का 'आत्मा न होना' प्रतिपादित करते हुए श्रुतियों के प्रामाण्य को सिद्ध भी करते हैं–

एतेषां पुत्रादीनामनात्मत्वमुच्यते। एतैरतिप्राकृतादिवादिभिरुक्तेषु श्रुतियुक्त्यनुभवाभासेषु पूर्वपूर्वोक्तश्रुतियुक्तयनुभवाभासानामुत्तरोत्तर-श्रुतियुक्त्यनुभवाभासैरात्मत्वबाधदर्शनात्पुत्रादीनामनात्मन्त्वं स्पष्टमेव।

किञ्च प्रत्यगस्थूलोऽचक्षुरप्राणोऽमना अकर्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सदित्यादिप्रबलश्रुतिविरोधादस्य पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्य जडस्य चैतन्यभास्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वादहं ब्रह्मेति विद्वदनुभवप्राबल्याच्च तत्तच्छ्रुतियुक्त्यनुभवाभासानां बाधितत्वादपि पुत्रादिशून्यपर्यन्त-मखिलमनात्मैव। अतस्तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं प्रत्यक्चैतन्यमेवात्मवस्त्विति वेदान्त विद्वदनुभवः। एवमध्यारोपः।।२०।।

पदच्छेद–एतेषाम् पुत्रादीनाम् अनात्मत्वम् उच्यते। एतैः अतिप्राकृत-वादिभिः उक्तेषु श्रुति-युक्ति-अनुभव-आभासेषु पूर्व-पूर्वोक्त श्रुति-युक्ति-अनुभव-आभासानाम् उत्तरोत्तर-श्रुति-युक्ति-अनुभव-आभासैः आत्मत्व-बाधदर्शनात् पुत्रादीनाम् अनात्मत्वम् स्पष्टम् एव।

किञ्च प्रत्यग्-अस्थूलः अचक्षुः अप्राणः अमना अकर्ता चैतन्यम् चिन्मात्रम् सद् इत्यादि प्रबलश्रुति-विरोधाद् अस्य पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्य जडस्य चैतन्य-भास्यत्वेन घटादिवद् अनित्यत्वाद् अहम् ब्रह्म इति, विद्वद्-अनुभवप्राबल्यात् च तत् तत् श्रुति-युक्ति-अनुभव-आभासानाम् बाधितत्वाद् अपि पुत्रादि-शून्यपर्यन्तम् अखिलम् अनात्मा एव।

अतः तत् तद् भासकम् नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्यस्वभावम्। प्रत्यक् चैतन्यम् एव आत्मवस्तु, इति वेदान्त-विद्वद् अनुभवः। एवम् अध्यारोपः।।20।।

अनुवाद–(अब) इन पुत्र आदि का अनात्मत्व कहा जाता है। इन अत्यन्त साधारणलोगों आदि द्वारा कहे गए श्रुति, युक्ति एवं अनुभव आभासों में पूर्व-पूर्व में प्रतिपादित श्रुति-युक्ति और अनुभव आभासों का उत्तरोत्तर श्रुति-युक्ति और अनुभव आभासों द्वारा, पुत्र आदि के आत्मा के बाधरूप दर्शन से, उन (पुत्र-आदिकों) का आत्मा न होना स्पष्ट ही है।

इसके अतिरिक्त 'आन्तरिक आत्मा सूक्ष्म, अचक्षु, अप्राण, अमना, अकर्ता, चैतन्यज्ञानस्वरूप एवं नित्य है' इत्यादि प्रबलश्रुतिविरोध से, पुत्र आदि से लेकर शून्यपर्यन्त सबके जड़ एवं चैतन्य का आभासमात्र होने से,

घट आदि के समान अनित्य होने के कारण, 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यादि विद्वानों के अनुभव की प्रबलता से, उन-उन श्रुति, युक्ति और अनुभव आभासों के बाधित होने के कारण भी 'पुत्र आदि से लेकर शून्यपर्यन्त सभी आत्मा नहीं है।' यही सिद्ध होता है।

इसलिए उन-उन सभी वस्तुओं को प्रकाशित करने वाला नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव वाला प्रत्यक्‌चैतन्य ही आत्मा है एवं वस्तु है, ऐसा ही वेदान्त के विद्वानों का अनुभव भी है। इसप्रकार (यही) अध्यारोप है।

'चन्द्रिका'–इससे पूर्व चार्वाक, बौद्ध, मीमांसक एवं नैयायिकों आदि द्वारा पुत्र आदि को आत्मा बताए गए मतों को पूर्वपक्ष के रूप में स्थापित करने के पश्चात् ग्रन्थकार प्रस्तुत गद्यखण्ड में पुत्र आदि विषयक उन सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए अपने मत की प्रस्थापना करते हैं–

मोटी बुद्धि वाले अत्यन्त साधारणलोगों एवं चार्वाक, बौद्धसिद्धान्तों के समर्थक विद्वानों द्वारा श्रुतिवचन को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करके, तर्क एवं अनुभवरूप आभास को उद्‌धृत करते हुए क्रमशः जो आत्मा को पुत्र, शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अज्ञान, शून्य आदि बताया गया, उसी प्रसङ्ग में वहीं अपने-अपने मत की स्थापना के लिए जो श्रुतिवाक्य तर्क एवं अनुभव रूप प्रमाण प्रस्तुत किए गए, उन-उन श्रुति-युक्ति एवं अनुभवरूप आभासों द्वारा ही पूर्वप्रतिपादित सिद्धान्त का, बाद में प्रतिपादित सिद्धान्त द्वारा स्वतः ही खण्डन हो जाता है। अतः उनका अलग से पुनः खण्डन पिष्टपेषण ही होगा। इसलिए उसका यहाँ खण्डन नहीं किया जा रहा है। साथ ही पूर्वप्रतिपादित सिद्धान्त का बाद में प्रतिपादित सिद्धान्त द्वारा खण्डन होने के कारण शरीर, पुत्र आदि आत्मा नहीं है, यह बात भी स्पष्टरूप से प्रतीत होती है।

इसके अलावा अनेक श्रुतिवचनों में उस आन्तरिक शुद्धचैतन्यरूप आत्मा को सूक्ष्म, नेत्रेन्द्रिय आदि से दिखायी न देने वाला, प्राण एवं मन से भिन्न, अकर्ता, चैतन्य, प्रकाशस्वरूप एवं नित्य बताया गया है। इन श्रुतिवचनों की प्रबलता स्वतःसिद्ध है। इसके अतिरिक्त जिन सिद्धान्तों में पुत्र, शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि से लेकर शून्य तक को आत्मा बताया गया है, वे सिद्धान्त स्वतः निरस्त हो जाते हैं, क्योंकि पुत्र आदि से शून्यपर्यन्त आत्मारूप में कहे गए तत्त्व वस्तुतः जड़ हैं, चैतन्य का आभासमात्र हैं।

साथ ही घट, पट आदि वस्तुओं के समान अनित्य हैं, नाशवान् हैं, अतः वे आत्मा हो ही नहीं सकते हैं।

साथ ही वेदान्त के जीवन्मुक्त विद्वानों ने अपनी साधना द्वारा स्वयं को 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस रूप में अनुभव भी किया है। उनके अनुभव की प्रबलता को देखते हुए, यही सिद्ध होता है कि इससे पूर्व विभिन्नमत मतान्तर जो पुत्र आदि को आत्मा बताते रहे हैं, वे ठीक नहीं है, क्योंकि उन्हीं द्वारा दी गई युक्तियों के आधार पर ही उत्तरोत्तर सिद्धान्त का खण्डन स्वतः ही हो जाता है। अतः पुत्र आदि को आत्मा मानना उचित एवं न्यायसंगत नहीं है।

पुनः प्रश्न उठता है कि यदि पुत्रादि आत्मा नहीं है तो फिर आपके मत में आत्मा क्या है? इसी का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि 'वस्तुतः सदैव विद्यमान रहने वाला पुत्रादि के समान कभी भी विनष्ट न होने वाला, जन्म-मरण आदि दुःखों से रहित, सभीप्रकार के बन्धनों से रहित, अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी भी अन्यप्रकार के प्रकाश की अपेक्षा न रखने वाला, स्वयं प्रकाशक, मुक्तस्वभाव, सभी के अन्तःकरण में विद्यमान रहने वाला, शुद्धचैतन्य ही आत्मा है। यही यथार्थ तत्त्व है, सत्य है। इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है। वेदान्तदर्शन के सिद्धान्तों के ज्ञाता विद्वानों का अनुभव भी यही है।' इसप्रकार ब्रह्मरूप वस्तु का प्रतिपादन करके ग्रन्थकार कहते हैं कि यही अध्यारोप है कि हम शुद्धचैतन्य को सत्य न मानकर पुत्र आदि को सत्य मान बैठे हैं। अपने अज्ञानवश हमने अवस्तु में वस्तु का आरोप किया हुआ है।

किन्तु इस सम्पूर्णप्रसङ्ग में यह शङ्का अत्यन्त स्वाभाविकरूप से होती है कि कुछ श्रुतियों में पुत्र आदि को आत्मा कहा गया है तथा कुछ में उसके आत्मत्व का विरोध किया गया है। इसलिए पुत्रादि के आत्मा होने सम्बन्धी श्रुतियों को अप्रामाणिक कहा जाना तथा आत्मत्वसाधक श्रुतियों को प्रामाणिक मानना, न्यायसंगत नहीं है क्योंकि श्रुति वेदवाक्य है। अतः वहाँ कुछ प्रामाणिक हो तथा कुछ अप्रामाणिक यह संगत नहीं हो सकता है।

इसका यही समाधान दिया जा सकता है कि पुत्र आदि को आत्मा बताने वाले श्रुतिवचन सर्वथा अप्रामाणिक नहीं हैं, अपितु उनमें स्थूल का ज्ञान कराकर, साधक को सूक्ष्मविषय की ओर ले जाने का प्रयास किया गया है। यह जटिलविषय को समझाने की एक शैली कही जा सकती है। इसीको

दार्शनिकभाषा में 'अरुन्धती न्याय'[1] भी कहते हैं। जहाँ सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय को समझाने के लिए पहले स्थूल को बताते हुए क्रमशः सूक्ष्म की ओर बढ़ते हैं।

अतः इन श्रुतिवचनों में भी पूर्व-पूर्व में प्रस्तुत श्रुति की अग्रिम श्रुति के प्रति आत्मारूप सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु का ज्ञान कराने के लिए, आरुढ़ होते हुए सोपान के समान सहयोग की भावना ही परिलक्षित होती है।

विशेष–(1) उपर्युक्त वर्णन के आधार पर ग्रन्थकार ने सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है कि शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि आदि से विलक्षण एवं उन सबका अध्यक्ष अन्तरात्मा इन सबसे सर्वथा भिन्न है।

(2) पुत्रादिकों के आत्मत्व के सिद्धान्त का खण्डन अत्यन्त सरल एवं संक्षिप्तरूप में किया गया है।

(3) ग्रन्थकार ने आत्माविषयक अपने मत का प्रतिपादन श्रुति, तर्क (युक्ति) एवं अनुभववाक्यों द्वारा पूर्वप्रतिपादित सिद्धान्तों की शैली के आधार पर ही किया है।

(4) प्रत्यक् आत्मा (वस्तु) शुद्धचैतन्य

चित्र-४७

श्रुति–प्रत्यगस्थूलोऽचक्षुरप्राणोऽमना अकर्ता चैतन्य चिन्मात्रं सत्
तर्क–पुत्रादि से लेकर शून्यपर्यन्त सम्पूर्ण जड़, घटादि के समान अनित्य
अनुभव–अहं ब्रह्म अस्मि-मैं ब्रह्म हूँ।

अवतरणिका–इसप्रकार अध्यारोपविषयक सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन एवं अद्वैत का प्रतिपादन करने के पश्चात् ग्रन्थकार इसी के द्वितीयपक्ष 'अपवाद' को स्पष्ट करते हैं–

अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तुविवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्। तदुक्तम्–

"सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।

---

1. अरुन्धती न्याय का विस्तृत वर्णन भूमिका में शीर्षक संख्या 24 पृष्ठ संख्या 101 पर द्रष्टव्य है।

अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरित" इति॥

तथाहि। एतद्भोगायतनं चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातं भोग्यरूपान्न-पानादिकमेतदायतनभूतभूरादिचतुर्दशभुवनान्येतदायतनभूतं ब्रह्माण्डं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपं पञ्चीकृतभूतमात्रं भवति। एतानि शब्दादिविषयसहितानि पञ्चीकृतानि भूतानि सूक्ष्मशरीरजातं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपापञ्चीकृतभूतमात्रं भवति।

एतानि सत्त्वादिगुणसहितान्यपञ्चीकृतान्युत्पत्तिव्युत्क्रमेणैतत्कारण-भूताज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवति। एतदज्ञानमज्ञानोपहितं चैतन्यं चेश्वरादिकमेतदाधारभूतानुपहितचैतन्यरूपं तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति॥२१॥

पदच्छेद– अपवाद: नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्, वस्तुविवर्तस्य अवस्तुन: अज्ञानादे: प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्। तद् उक्तम्–

"सतत्त्वत: अन्यथा प्रथा विकार: इति 'उदीरित:।

अतत्त्वत: अन्यथा प्रथा विवर्त: इति उदीरित:।।इति।।

तथाहि, एतद् भोगायतनम् चतुर्विध-सकल-स्थूल-शरीरजातम् भोग्यरूप-अन्नपानादिकम्, एतद् आयतनभूत-भू: आदि चतुर्दश-भुवनानि, एतद्-आयतनभूतम् ब्रह्माण्डम् च एतत् सर्वम्, एतेषाम् कारणरूपम् पञ्चीकृतभूतमात्रम् भवति।

एतानि शब्द-आदि विषयसहितानि पञ्चीकृतानि भूतानि सूक्ष्मशरीर-जातम् च एतत् सर्वम् एतेषाम् कारणरूप-अपञ्चीकृतभूतमात्रम् भवति। एतानि सत्त्वादि-गुण-सहितानि अपञ्चीकृतानि उत्पत्तिव्युत्क्रमेण एतत् कारणभूत-अज्ञान-उपहितचैतन्यमात्रम् भवति। एतद् अज्ञानम् अज्ञानोपहितम् चैतन्यम् च ईश्वरादिकम्, एतद् आधारभूत-अनुपहितचैतन्यरूपम् तुरीयम् ब्रह्ममात्रम् भवति।।21।।

अनुवाद– रस्सी में भ्रान्तिवश प्रतीत होने वाले सर्प की पुन: रस्सीमात्र के रूप में प्रतीति के समान, ब्रह्मरूप वस्तु में मिथ्याप्रतीति के कारण अवस्तुरूप अज्ञानादिप्रपञ्च में, पुन: ब्रह्मरूप सत्यवस्तु का भान होना ही वस्तुत: अपवाद है। इसीलिए कहा है–

"अपने मूलरूप का परित्याग करके अन्यरूप को ग्रहण करना ही 'विकार' इसप्रकार कहा गया है। अपने रूप को बिना छोड़े अन्य वस्तु की मिथ्याप्रतीति 'विवर्त' ऐसा कहलाता है।"

क्योंकि सुख-दु:खरूप भोग का स्थानरूप ये, उत्पन्न हुए सभी चार प्रकार के स्थूलशरीर, भोग्यरूप अन्न-पान आदि, इसके आयतनभूत भू:

भुवः, स्वः आदि चौदहलोक एवं उन भुवनों का आधारभूत ब्रह्माण्ड, यह सब, अपने कारणरूप पञ्चीकृतमहाभूतों में (विलीन) हो जाता है।

शब्द आदि विषयों के साथ ये पञ्चीकृतभूत, सूक्ष्मशरीर समुदाय यह सब इनके कारणरूप अपञ्चीकृतभूतमात्र में (विलीन) हो जाता है। सत्त्व आदि गुणों के साथ ये अपञ्चीकृतभूत भी उत्पत्ति के विपरीतक्रम से अपने कारणभूत अज्ञानोपहितचैतन्यमात्र (में विलीन) हो जाते हैं तथा अज्ञान की उपाधि से युक्त चैतन्य, ईश्वर आदि अपने आधारभूत उपाधिरहित शुद्ध चैतन्यरूप 'तुरीय' ब्रह्ममात्र (में विलीन) हो जाता है।

'चन्द्रिका'– पूर्व में ग्रन्थकार ने अध्यारोप की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन करते हुए अद्वैत का प्रतिपादन किया। पुनः प्रस्तुत गद्यखण्ड में 'अपवाद' के सिद्धान्त का कथन करते हुए अद्वैत की सिद्धि करते हैं–

जैसाकि पूर्व में बताया गया है कि भ्रान्ति के कारण किसी सत्यवस्तु में असत्य की प्रतीति होना 'अध्यारोप' है, किन्तु उस भ्रान्ति का निराकरण करके वस्तु के वास्तविकरूप का ज्ञान प्राप्त करना 'अपवाद' कहलाता है। जिसप्रकार अंधकार आदि के कारण रस्सी में सर्प की मिथ्याप्रतीति होना एवं सीपी में दूरी अथवा दृष्टिदोष आदि के कारण चाँदी की प्रतीति 'अध्यारोप' प्रक्रिया के अन्तर्गत आएगी। जबकि टॉर्च के प्रकाश आदि द्वारा अथवा अन्य व्यक्ति द्वारा बताए जाने पर या फिर स्वयं ही पास जाकर रस्सी एवं चांदी विषयक भ्रान्तियों को दूर करके, वस्तु के वास्तविकस्वरूप रस्सी अथवा सीपी से परिचित होना ही 'अपवाद' होगा।

ठीक इसीप्रकार अज्ञान आदि के कारण ब्रह्मरूप सत्यवस्तु में जगत्रूप प्रपञ्च की मिथ्याप्रतीति होना ही 'अध्यारोप' है एवं सद्गुरु के कुशल मार्गदर्शन अथवा स्वयं के प्रयासों द्वारा तद्विषयक अज्ञान को दूर करके अद्वैततत्त्व तुरीयरूप शुद्धचैतन्य की अर्थात् सत्यवस्तु की प्रतीति होना ही 'अपवाद' माना जाएगा।

इसी प्रसङ्ग में अन्यथा प्रतीति के मिथ्याभाव के दो प्रकारों का कथन करते हुए ग्रन्थकार 'विकार' एवं विवर्त को स्पष्ट करते हैं। तदनुसार–"जब कोई वस्तु अपने स्वरूप का परित्याग करके किसी अन्यरूप को ग्रहण कर लेती है तो उसे 'विकार' के अन्तर्गत मानना होगा। जैसे–दूध का दही के रूप में परिवर्तित होना 'विकार' है, क्योंकि दही बनने के बाद उसे पुनः दूध के रूप में बनाना असम्भव है। अपने रूप का त्याग करके ही दूध दही बनता है। इसी प्रक्रिया को परिणाम भी कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त अपने स्वरूप का परित्याग न करते हुए जब किसी वस्तु में अन्य वस्तु की मिथ्याप्रतीति होती है, तो इस प्रक्रिया को हम 'विवर्त' कहेंगे। जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति होना, सीपी में चांदी की भ्रान्ति होना विवर्त है, क्योंकि इन दोनों स्थानों पर रस्सी एवं सीपी अपने स्वरूप का परित्याग किए बिना ही अन्यरूप को ग्रहण कर लेती हैं। यद्यपि यह रूप भ्रान्ति ही है, फिर भी इसके, क्षणिक ही सही, अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता है।

ठीक इसीप्रकार चराचररूप सम्पूर्णप्रपञ्च शुद्धचैतन्यस्वरूप परमब्रह्म का विवर्त है परिणाम नहीं, क्योंकि सत्यवस्तु ब्रह्म में प्रपञ्च की प्रतीति वस्तुतः मिथ्या है। ज्ञान आदि द्वारा इस मिथ्याप्रतीति को दूर करके तुरीयचैतन्य ब्रह्म की तात्त्विकप्रतीति होना ही 'अपवाद' है।

जब प्रमाता को इस बात का भलीप्रकार ज्ञान हो जाता है तो यह सम्पूर्ण चराचरप्रपञ्च अपनी उत्पत्ति के विपरीतक्रम में अपने-अपने कारणों में विलीन होता जाता है। इसप्रकार वह मिथ्याप्रतीति विनष्ट हो जाती है तथा अन्त में अद्वैतब्रह्म की सत्ता विद्यमान रहती है, जिसे 'तुरीय' संज्ञा भी प्रदान की गई है, क्योंकि यह स्थूलप्रपञ्च, सूक्ष्मप्रपञ्च एवं कारणशरीर से भिन्न अर्थात् चतुर्थ होता है। वेदान्त की दृष्टि में साधक की यही सर्वोत्कृष्ट स्थिति है।

ज्ञान होने के अनन्तर सम्पूर्ण चराचरप्रपञ्च के अपने-अपने कारण में विलय होने के क्रम को ग्रन्थकार ने 'तथाहि' इत्यादि गद्यांश में वर्णित किया है–

सुख-दुःख आदि को भोगने वाले जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज नामक चार प्रकार के सभी स्थूलशरीर, अन्नपान आदि सभी भोग्यपदार्थ, भूः भुवः स्वः, महः, जनः तपः और सत्यम् ये सात ऊर्ध्व लोक तथा अतल, वितल, सुतल, रसातल, महातल एवं पाताल आदि सात अधःलोक इसप्रकार कुल मिलाकर चौदहभुवन एवं इन सबका आधारभूत सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, ये सभी अपने कारणरूप पञ्चीकृतमहाभूतों आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी में विलीन हो जाते हैं।

तत्पश्चात् अपने शब्दादिगुणों सहित सभी पञ्चीकृतमहाभूत एवं सत्रह अवयवों से युक्त सूक्ष्मशरीर ये सभी अपने कारणरूप अपञ्चीकृतभूतों में विलीन हो जाते हैं। उसके बाद ये अपञ्चीकृतभूत भी अपने-अपने कारण में उल्टेक्रम से इसप्रकार विलीन होते हैं–'पृथिवी जल में, जल अग्नि में,

अग्नि वायु में, वायु अपने कारण आकाश में तथा आकाश अपने कारण अज्ञान से उपहितचैतन्य में विलीन होकर तन्मात्ररूप में विद्यमान हो जाते हैं।

इसके पश्चात् यह अज्ञान एवं इससे उपहितसर्वज्ञ आदि गुणों से युक्त चैतन्य ईश्वर आदि भी अपने आधारभूत अनुपहितशुद्धचैतन्यरूप तुरीय ब्रह्म में विलीन हो जाता है। इसप्रकार तुरीयमात्र एक तत्त्व ही शेष बचता है और यही वेदान्त का अद्वैतभाव भी है एवं यही अपवाद का स्वरूप भी, क्योंकि यही परमशुद्धचैतन्य ही वस्तु है, जिसका प्रमाता को तात्त्विकज्ञान हो जाता है।

विशेष–(1) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र-४८

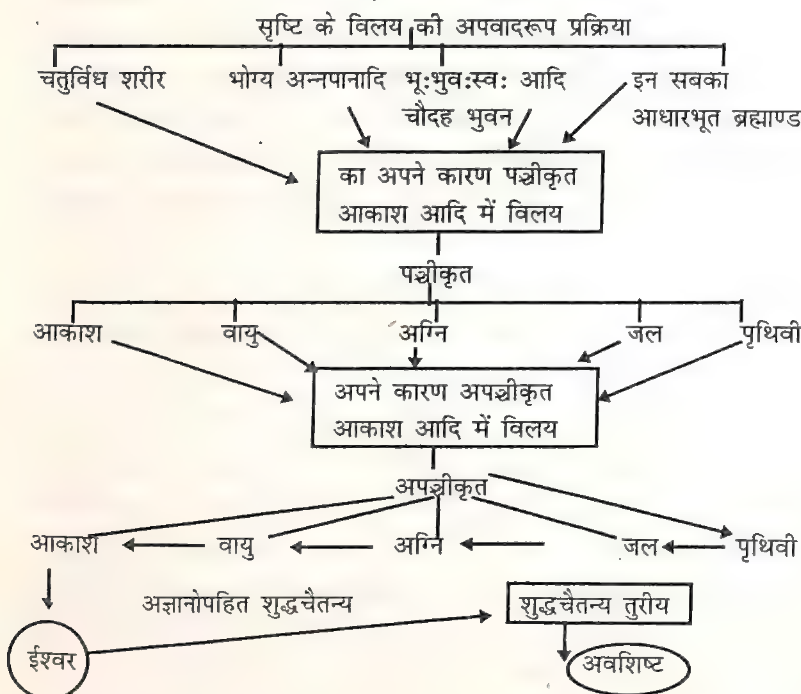

अवतरणिका–तत्पश्चात् 'अध्यारोप', 'अपवाद' की इन दोनों प्रक्रियाओं से 'तत्त्वमसि' महावाक्य के तत् एवं त्वम् पदार्थों के अर्थों को समझने में इनके सहयोग का कथन करते हैं–

आभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वम्पदार्थशोधनमपि सिद्धं भवति। तथाहि। अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायः पिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं चैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थो भवति। अज्ञानादिव्यष्टिरेतदुपहिताल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्ताय:पिण्डवदेकत्वेनावभासमानं त्वम्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवति॥२२॥

पदच्छेद–आभ्याम् अध्यारोप-अपवादाभ्याम् तत्-त्वम् पदार्थशोधनम् अपि सिद्धम् भवति। तथाहि, अज्ञानादिसमष्टि:, एतद् उपहितम् सर्वज्ञत्वादि विशिष्टम् चैतन्यम्, एतद् अनुपहितम् च एतत् त्रयम्–तप्त-अय: पिण्डवद् एकत्वेन अवभासमानम् तत्-पद-वाच्यार्थ: भवति। एतद् उपाधि-उपहित-आधारभूतम्-अनुपहितम् चैतन्यम् तत् पदलक्ष्यार्थ: भवति।

अज्ञान-आदि व्यष्टि: एतद् उपहित-अल्पज्ञत्व-आदि विशिष्टचैतन्यम् एतद् अनुपहितम् च एतत् त्रयम् तप्त-अय:पिण्डवद् एकत्वेन अवभासमानम् त्वम् पदवाच्यार्थ: भवति। एतद् उपाधि-उपहित-आधारभूतम् अनुपहितम् प्रत्यक् आनन्दम् तुरीयम् चैतन्यम् त्वम् पद-लक्ष्यार्थ: भवति॥22॥

अनुवाद–इन दोनों अध्यारोप-अपवाद द्वारा तत् एवम् त्वम् पदों के अर्थों का स्पष्टीकरण भी सिद्ध हो जाता है, क्योंकि–अज्ञान आदि की समष्टि, इन सर्वज्ञत्वादि विशेषणों की उपाधि से युक्त चैतन्य (अर्थात् ईश्वर) एवं इस उपाधि से शून्य (शुद्धचैतन्य), ये तीनों–तप्तलोहपिण्ड के समान एक ही प्रतीत होने के कारण, तत् पद के वाच्यार्थ होते हैं तथा इस उपाधि से युक्त (उन सबका) आधारभूत अनुपहित चैतन्य, तत् पद का लक्षणा शब्दशक्ति द्वारा प्रतिपादित लक्ष्यार्थ होता है।

अज्ञान आदि व्यष्टि, इसकी उपाधि अल्पज्ञत्व आदि विशेषताओं से युक्त चैतन्य (अर्थात् जीव) तथा इसकी उपाधि से रहित शुद्धचैतन्य, ये तीनों (एक साथ) तप्तलोहपिण्ड के समान अभिन्न प्रतीत होने के कारण, त्वम् पद के वाच्यार्थ होते हैं। इस उपाधि से युक्त (उन सबका) आधारभूत अनुपहित आनन्दरूप तुरीयचैतन्य त्वम् पद (लक्षणाशब्दशक्ति द्वारा प्राप्त) का लक्ष्यार्थ होता है।

'चन्द्रिका'–इसप्रकार अध्यारोप एवं अपवादरूप दोनों सिद्धान्तों को भलीप्रकार समझने के बाद यहं बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि सम्पूर्ण चराचर नामरूपात्मक जगत् ही वस्तुतः ब्रह्म है तथा ब्रह्म ही सम्पूर्ण चराचर नामरूपात्मक संसार है। साथ ही 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में प्रयुक्त 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के अर्थों का अभिप्राय भी पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाता है। तदनुसार–अज्ञान, कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर एवं स्थूलशरीर की समष्टि तथा इनकी उपाधि से युक्त चैतन्य, सर्वज्ञता, व्यापकता आदि गुणों से विशिष्ट ईश्वर, हिरण्यगर्भ (सूत्रात्मा) और विराट् (वैश्वानर)रूप चैतन्य एवं इन सब उपाधियों से रहित तुरीय ब्रह्मरूप शुद्धचैतन्य, इन सब में ठीक उसीप्रकार अभिन्नता विद्यमान है, जिसप्रकार तप्त लोहपिण्ड कहने पर लोहपिण्ड एवं अग्नि में अभिन्नता की प्रतीति होती है। यही इस तत् पद का वाच्यार्थ अर्थात् अभिधा शब्दशक्ति द्वारा प्राप्त सीधा अर्थ है।

इसके अतिरिक्त अज्ञान से उपहित ईश्वररूप चैतन्य का आधार जो उपाधिरहित शुद्धचैतन्य है, उसका अज्ञान एवं उससे आच्छादित ईश्वर रूप चैतन्य से अलग–अलगरूप में प्रकाशित होना ही 'तत्त्वमसि' महावाक्य में प्रयुक्त 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ है।

इस भाव को 'तप्तायः पिण्डः' इस उदाहरण द्वारा भलीप्रकार समझा जा सकता है। तपे हुए लोहपिण्ड से जलने पर 'मैं लोहे से जल गया' ऐसा सामान्यरूप से कहा जाता है, जबकि दाहकताशक्ति लोहे में न होकर अग्नि में विद्यमान रहती है। इसलिए अभिधा शब्दशक्ति द्वारा प्रतिपादित इस साक्षात् संकेतित अर्थ, वाच्यार्थ में अग्नि एवं लोह में अभिन्नतारूप अर्थ ही प्रमुखता लिए होता है। ठीक इसीप्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य में भी 'तत्' अर्थात् शुद्धचैतन्य (तुरीय) एवं त्वम् अर्थात् उपाधियुक्त चैतन्य (जीव) की अभिन्नता का कथन ही मुख्यप्रयोजन होने से इसका वाच्यार्थ अर्थात् सीधा अर्थ कहलाएगा।

इसके अतिरिक्त 'तप्तायः पिण्ड' इत्यादि उदाहरण में दाहकताशक्ति लोहे में विद्यमान न होने के कारण 'लोहे से जल गया' ऐसा कहने पर मुख्य अर्थ का बाध होने पर लक्षणा शब्दशक्ति से 'अग्नि' रूप अर्थ के साथ 'लोहे में स्थित अग्नि से जल गया' इसप्रकार लक्ष्यार्थ की प्रतीति में अग्नि एवं लोहे की भिन्नता की प्रतीति कराना ही मुख्यप्रयोजन होगा। ठीक इसीप्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' पद से प्रतीत होने वाले शुद्धचैतन्य

एवं 'त्वम्' से प्रतीत होने वाले उपाधियुक्त चैतन्य में, दोनों की विशिष्टता में अभिप्राय होने की दृष्टि से, दोनों को भिन्न-भिन्न प्रतिपादित करना रूप अर्थ लक्ष्यार्थ होगा।

कहने का अभिप्राय यह है कि 'तत्त्वमसि' महावाक्य में प्रयुक्त 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों में प्रत्येक के दो-दो अर्थ हैं–प्रथम वाच्यार्थ एवं द्वितीय लक्ष्यार्थ। इस दृष्टि से अज्ञान की सम्पूर्ण समष्टि, तद् अवच्छिन्न चैतन्यरूप ईश्वर, हिरण्यगर्भ और वैश्वानर एवं इन सबसे भिन्न अनुपहित शुद्धचैतन्य जिसे अक्षर एवं सत्चिदानन्दस्वरूप तुरीय कहा गया है, ये तीनों तपे हुए लोहपिण्ड के समान एक ही हैं और यही यहाँ तत् शब्द का वाच्यार्थ है।

इसके अलावा अज्ञान एवं उसका कार्यरूप समस्त चराचरप्रपञ्च, उसे स्फूर्ति प्रदान करने वाली, यहाँ तक कि ईश्वर आदि चैतन्य की भी आधारस्वरूप सच्चिदानन्दस्वरूप, अज्ञान आदि की उपाधि से रहित, परमशुद्धचैतन्य तुरीय नामक यथार्थवस्तु इन सबकी अलग-अलग प्रतीति ही तत् पद का लक्ष्यार्थ है।

इसीप्रकार व्यष्टिभूत अज्ञान, उससे अवच्छिन्न अल्पज्ञत्व आदि गुणों से विशिष्ट प्राज्ञ, तैजस् एवं विश्वचैतन्य एवं इन सभी का आधारभूत शुद्ध चैतन्य ये तीनों भी 'तपे हुए लोहपिण्ड' के समान एक ही हैं। यह यहाँ त्वम् पद का वाच्यार्थ है तथा अज्ञान आदि उपाधियों से युक्त प्राज्ञ, तैजस् और विश्व एवं इन सबका आधार अनुपहित शुद्धचैतन्य जिसे प्रत्यगानन्द तुरीय भी कहा गया है ये सभी अलग-अलग हैं, यह 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ है।

अतः अनुपहित शुद्धचैतन्य तत् एवं त्वम् इन दोनों पदों का लक्ष्यार्थ है। इसीलिए तत् एवं त्वम् ये दोनों पद यहाँ लक्षण हैं तथा शुद्धचैतन्य लक्ष्य है।

विशेष–(1) प्रस्तुत खण्ड में ग्रन्थकार ने अब तक प्रतिपादित अध्यारोप एवं अपवाद के सिद्धान्तों द्वारा 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य में प्रयुक्त तत् एवं त्वम् पदों के वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ को बताते हुए उनके अर्थों को स्पष्ट किया है।

(2) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी अभिव्यक्त कर सकते हैं–

चित्र-४९

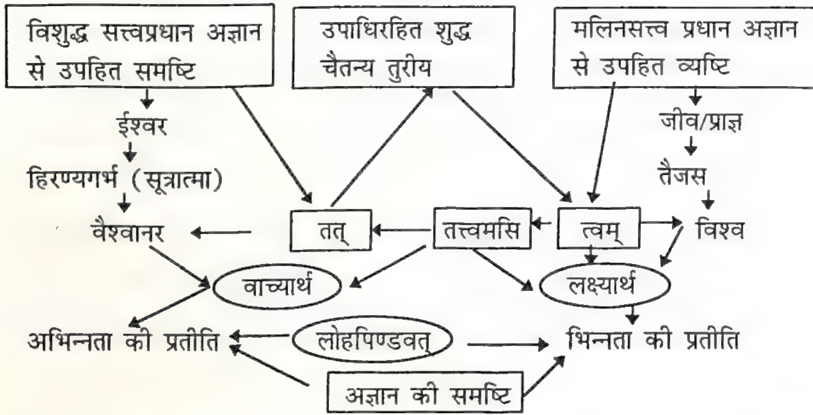

अवतरणिका—तत्पश्चात् वेदान्त प्रतिपादित महावाक्यों में से 'तत्त्वमसि' इत्यादि उपदेशवाक्य का वर्णन करते हैं—

अथ महावाक्यार्थो वर्ण्यते। इदं तत्त्वमसीतिवाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति। सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रत्यगात्मलक्षणयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति। तदुक्तम्—

"सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्" इति॥

सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावद्यथा सोऽयं देवदत्त इत्यस्मिन्वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचक स शब्दस्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायं शब्दस्य चैकस्मिन्पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः। तथा च तत्त्वमसीति वाक्येऽपि परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकत्व म्पदस्य चैकस्मिंश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः।

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायं शब्दार्थैतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वम्पदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये स शब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्त्वम्पदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते॥२३॥

पदच्छेद—अथ महावाक्यार्थः वर्ण्यते। इदम् 'तत् त्वम् असि' इति वाक्यम् सम्बन्धत्रयेण अखण्डार्थबोधकम् भवति। सम्बन्धत्रयम् नाम पदयोः सामानाधिकरण्यम् पदार्थयोः विशेषणविशेष्यभावः प्रत्यक् आत्मलक्षणयोः लक्ष्यलक्षणभावः च इति। तद् उक्तम्—

'समानाधिकरण्यम् च विशेषणविशेष्यता।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थ-प्रत्यग्-आत्मनाम्॥

(1) **समानाधिकरण्यसम्बन्धः**— तावत्-यथा, 'सः अयम् देवदत्तः' इति अस्मिन् वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचक-स-शब्दस्य एतत्काल विशिष्ट-देवदत्त-वाचक-अयम् शब्दस्य च एकस्मिन् पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः। तथा च 'तत्त्वमसि' इति वाक्ये अपि परोक्षत्व-आदि विशिष्ट-चैतन्यवाचक-'तत्' पदस्य, अपरोक्षत्वादि विशिष्ट-चैतन्य-वाचक-'त्वम्' पदस्य च एकस्मिन् चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः।

(2) **विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धः**—तु यथा तत्र एव वाक्ये 'सः' शब्दार्थः तत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य, अयम् शब्दार्थ-एतत्कालविशिष्ट देवदत्तस्य च अन्योन्य-भेद- व्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। तथा अत्र अपि वाक्ये 'तत्' पदार्थ-परोक्षत्वादि-विशिष्टचैतन्यस्य 'त्वम्' पदार्थ-अपरोक्षत्वादि विशिर्ष्टचैतन्यस्य च अन्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः।

(3) **लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः**— तु यथा तत्र एव वाक्ये 'सः'-शब्द-अयम् शब्दयोः तद् अर्थयोः। वा विरुद्ध तत् काल एतत् काल-विशिष्टत्व परित्यागेन अविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथा अत्रापि वाक्ये तत्-त्वम् पदयोः तद् अर्थयोः वा विरुद्धपरोक्षत्व अपरोक्षत्वादि विशिष्टत्व परित्यागेन अविरुद्ध-चैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। इयम् एव भागलक्षणा इति उच्यते॥23॥

अनुवाद—इसके पश्चात् महावाक्य के अर्थ का वर्णन किया जा रहा है। यह 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इत्यादि वाक्य तीन सम्बन्धों से 'अखण्ड' अर्थ

का बोध कराने वाला होता है। वे तीन सम्बन्ध वस्तुतः–दो पदों का समानाधिकरण्यसम्बन्ध, दो पदों के अर्थों का विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध एवं आन्तरिक आत्मा तथा उसको बताने वाले लक्षण दोनों में लक्ष्यलक्षणभाव-सम्बन्ध है। इसीलिए कहा गया है– अन्तरात्मा के पदों एवं अर्थों में–समानाधिकरण्य, विशेषणविशेष्यभाव एवं लक्ष्यलक्षणभाव ये तीन सम्बन्ध होते हैं।

(1) **समानाधिकरण्यसम्बन्ध**–जैसा कि 'यह वही देवदत्त है' इत्यादि वाक्य में तत्कालविशिष्ट देवदत्त का बोध कराने वाला 'सः' (वह) इस शब्द का तथा एतत् कालविशिष्ट देवदत्त का कथन करने वाले 'अयम्' (यह) इस शब्द का, एक ही शरीर में तात्पर्यबोध करानारूप सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त 'तत्त्वमसि' (वह तुम हो) इत्यादि वाक्य में भी परोक्षत्व आदि गुणों से युक्त चैतन्य का कथन करने वाले 'तत्' (वह) इस पद का तथा अपरोक्षत्व आदि गुणों से विशिष्ट चैतन्य का प्रतिपादन करने वाले 'त्वम्' (तुम) इस पद का एक ही (तुरीय) चैतन्य में तात्पर्य का बोध कराने वाला सम्बन्ध है।

(2) **विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध**– तो, जैसाकि उसी वाक्य में 'सः' (वह) शब्द का अर्थ तत्कालविशिष्ट देवदत्त के, 'अयम्' (यह) शब्दार्थ एतत्कालविशिष्ट देवदत्त के परस्परभेद को दूर करने के कारण विशेषण-विशेष्यभावसम्बन्ध है। उसीप्रकार इस 'तत्त्वमसि' वाक्य में भी 'तत्' पद का अर्थ परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य के 'त्वम्' शब्द का अर्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य के परस्परभेद को दूर करने के कारण विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध है।

(3) **लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध**–तो, जैसाकि उसी वाक्य में 'सः' (वह) और अयम् (यह) इन दोनों शब्दों एवं उनके अर्थों में से परस्पर विरुद्ध (प्रतीत होने वाले) अतीत और वर्तमान की विशिष्टता का परित्याग करके, समानरूप से स्थित देवदत्तरूप अंश में (तात्पर्य का बोध कराना ही) लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त इस वाक्य में भी 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदों का अथवा उन दोनों अर्थों के परस्पर विरुद्ध परोक्षत्व-अपरोक्षत्वादि के वैशिष्ट्य का परित्याग करके अविरुद्धचैतन्य के साथ लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध है। यही भागलक्षणा कही जाती है।

'**चन्द्रिका**'–प्रस्तुत अंश की विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य, भूमिका में वर्णित महावाक्य (अ) 'तत्त्वमसि' (पृष्ठ संख्या–103)

विशेष–(1) यद्यपि महावाक्यविवरण नामक ग्रन्थ में 11 महावाक्य उद्धृत किए गए हैं तथापि वेदान्त में चार महावाक्यों की विशेषचर्चा की गई है। जो इसप्रकार है–

(क) प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐतरेयोपनिषद्–5) (ख) तत्त्वमसि (छान्दोग्योपनिषद् 6.8.7) (ग) अहं ब्रह्मास्मि (बृहदारण्यकोपनिषद्–1.4.10) (घ) अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्य॰2)

(2) महावाक्यों का वर्ण्यविषय ब्रह्म के स्वरूप एवं अद्वैत का प्रतिपादन करना है।

(3) 'तत्त्वमसि' महावाक्य वस्तुतः उपदेशवाक्य है। जो एक गुरु द्वारा अधिकारी प्रमाता को उपदेश रूप में दिया जाता है।

(4) यहाँ लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध को 'भागलक्षणा' भी कहा गया है ग्रन्थकार ने इसकी व्याख्या आगे विस्तार से की है।

(5) लक्षणा तीन प्रकार की होती है (क) जहत् लक्षणा (ख) अजहत् लक्षणा (ग) जहत् अजहत् लक्षणा (इसीको भागलक्षणा भी कहा गया है)

(6) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र–५०

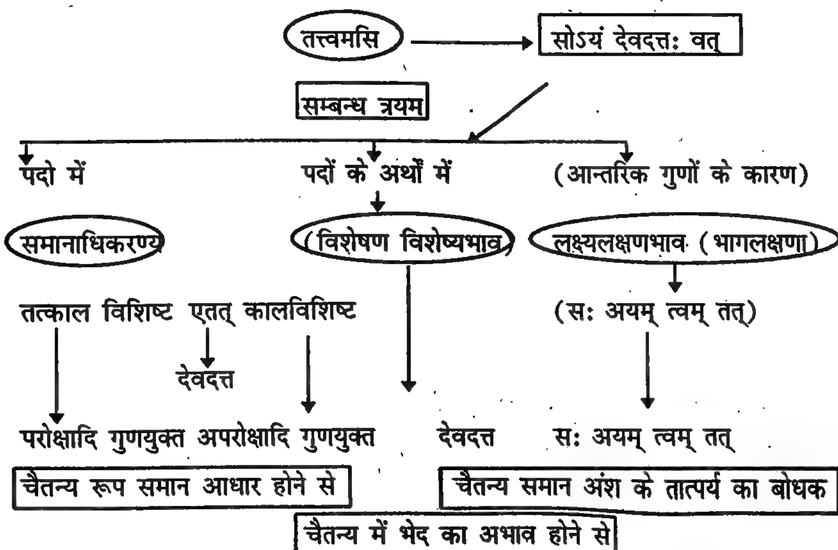

अवतरणिका—इन सम्बन्धत्रय में प्रतिपादित 'विशेषणविशेष्यभाव' एवं 'नीलकमल' में स्थित विशेषणविशेष्यसम्बन्ध' की भिन्नता प्रतिपादित करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

अस्मिन्वाक्ये नीलमुत्पलमिति वाक्यवद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तत्र तु नीलपदार्थनीलगुणस्योत्पलपदार्थोत्पलद्रव्यस्य च शौक्ल्यपटादि-भेदव्यावर्तकतयान्योन्यविशेषणविशेष्यभाव संसर्गस्यान्यतर-विशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रमाणान्तरविरोधाभावात्तद्वाक्यार्थः सङ्गच्छते।

अत्र तु तदर्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वमर्थापरोक्षत्वादि-विशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषण विशेष्य भावसं सर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य च वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तदुक्तम्—

"संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।

अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मत" इति॥२४॥

पदच्छेद—अस्मिन् वाक्ये 'नीलम् उत्पलम्' इति वाक्यवद् वाक्यार्थः न सङ्गच्छते। तत्र तु नीलपदार्थनीलगुणस्य उत्पलपदार्थ-उत्पलद्रव्यस्य च शौक्ल्यपदादि-भेदव्यावर्तकतया अन्योन्य-विशेषण-विशेष्यभाव-संसर्गस्य अन्यतरविशिष्टस्य अन्यतरस्य तद् ऐक्यस्य वा वाक्यार्थत्व अङ्गीकारे प्रमाणान्तर-विरोध-अभावात् तद् वाक्यार्थः सङ्गच्छते।

अत्र तु 'तत्' अर्थ-परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य, 'त्वम्' अर्थ-अपरोक्षत्वादि-विशिष्टचैतन्यस्य च अन्योन्य-भेद-व्यावर्तकतया विशेषण विशेष्यभावसंसर्गस्य अन्यतरविशिष्टस्य अन्यतरस्य तद् ऐक्यस्य च वाक्यार्थत्व अङ्गीकारे प्रत्यक्षादि प्रमाणविरोधात् वाक्यार्थः न सङ्गच्छते। तद् उक्तम्—

अन्वय—अत्र संसर्गः वा विशिष्टः वा वाक्यार्थः न सम्मतः। विदुषाम् अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थः मतः (विद्यते)॥24॥

अनुवाद—इस वाक्य में 'नीला कमल' इत्यादि वाक्य के समान वाक्य का (विशेषणविशेष्यभावरूप) अर्थ करना उचित नहीं है, (क्योंकि) वहाँ तो नील पद के अर्थ—'नीलगुण' का तथा उत्पल पद के अर्थ 'कमल' नामक

द्रव्य का, अपने से भिन्न श्वेत आदि गुणों एवं पट आदि द्रव्यों से भिन्नता रखने के कारण, परस्पर विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध तथा एक से विशिष्ट दूसरे अथवा उन दोनों के अभेदरूप वाक्यार्थ को स्वीकार करने पर (प्रत्यक्षादि) अन्य प्रमाणों से विरोध के अभाव में (नील अभिन्न कमल) रूप वाक्यार्थ संगत हो जाता है।

(जबकि) यहाँ तो 'तत्' पद के अर्थ 'परोक्षत्वादि गुणों से विशिष्ट चैतन्य' एवं त्वम् पद के अर्थ 'अपरोक्षत्वादिगुण विशिष्टचैतन्य' का परस्पर भेदकतत्त्व होने से विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध का, एक से विशिष्ट दूसरे अथवा उन दोनों के अभेदरूप वाक्यार्थ के भाव को स्वीकार करने पर, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विरोध के कारण वाक्यार्थ संगत नहीं होता है। इसीलिए कहा भी गया है–

(तत्त्वमसि महावाक्य में) संसर्ग अथवा विशेषणविशेष्यभाव द्वारा वाक्य का अर्थ करना उचित नहीं है, (अपितु) विद्वानों के (मतानुसार यहाँ) अखण्ड एकरस ही (तत्त्वमसि) महावाक्य का अर्थ है।

'चन्द्रिका'–ग्रन्थकार 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में प्रयुक्त होने वाले समानाधिकरण्य, विशेषणविशेष्यभाव एवं लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्धों को स्पष्ट करने के पश्चात् कहते हैं कि यहाँ 'नीलमुत्पलम्' इस वाक्य के समान 'विशेषणविशेष्यभाष्य' की परिकल्पना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'नीलमुत्पलम्' इस वाक्य में नील गुण है तथा उत्पल गुणी अर्थात् द्रव्य है। इसप्रकार गुण एवं गुणी इन दोनों का विशेषणविशेषणभावसम्बन्ध अथवा 'जो नील गुण की विशेषता लिए हुए है, यह वही कमल है', इसप्रकार इन दोनों के विशेष वाक्यार्थ को स्वीकार करने में किसीप्रकार का कोई विरोध नहीं है, क्योंकि यहाँ सम्बन्ध एवं विशिष्टवाक्यार्थ दोनों की अन्विति पूर्णरूप से उचित है। साथ ही प्रत्यक्षादिप्रमाणों से भी इस वाक्यार्थ की पुष्टि होती है। अतः नीलम् उत्पलम् में यह विशेषणविशेष्य सम्बन्ध करना संगत है।

जबकि 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में 'तत्' एवं 'त्वम्' दोनों ही द्रव्य हैं। इस कारण यहाँ पूर्ववत् विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध अथवा विशिष्टवाक्यार्थ दोनों ही सम्भव नहीं हैं, क्योंकि यहाँ प्रयुक्त 'तत्' पद का अर्थ परोक्षत्वादिगुण विशिष्ट चैतन्य एवं 'त्वम्' पद का अपरोक्षत्वादिगुणविशिष्ट चैतन्य अर्थ है।

अतः इन दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्य पदार्थों का गुण-गुणी के समान विशेषण-विशेष्यभावरूपसम्बन्ध अथवा पूर्व में प्रतिपादित विशिष्ट वाक्यार्थ ये दोनों ही सम्भव नहीं हैं, क्योंकि उस स्थिति में विशिष्ट वाक्यार्थ की प्राणिति इसप्रकार करनी होगी–'जो परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य है वही अपरोक्षत्वादि विशिष्टचैतन्य भी है। इस रूप में यहाँ संगति का औचित्य संदिग्ध रहेगा, क्योंकि यहाँ 'तत्' पद से अभिप्रेत 'परोक्षत्वादि गुणविशिष्ट सर्वज्ञचैतन्यरूप अर्थ से है तथा 'त्वम्' पद से अभिप्राय 'अपरोक्षत्वादिगुणविशिष्ट अल्पज्ञजीवरूपचैतन्य से है। अतः जो सर्वज्ञ है वह अल्पज्ञ नहीं हो सकता।

साथ ही इन दोनों के परस्पर आश्रय भेद से पार्थक्य होने के कारण भी गुण-गुणी के समान विशेषणविशेष्यभावसम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि हम इसप्रकार का वाक्यार्थ स्वीकार कर भी लें कि–'जो परोक्षत्वादि विशिष्टचैतन्य है, वही अपरोक्षत्वादि विशिष्टचैतन्य भी है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्षादि प्रमाणों के साथ उसका विरोध होने से वाक्यार्थ संगत नहीं होगा। इसलिए निष्कर्षरूप में यही मानना उचित होगा कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य में 'नीलमुत्पलम्' के समान विशेषणविशेष्यभाव को मानना उचित नहीं है, अपितु इसका विशेषणविशेष्यभाव भिन्न है, जिसका पूर्व में प्रतिपादन किया जा चुका है।

अपनी बात की पुष्टि में ग्रन्थकार पञ्चदशी की कारिका को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हैं। जिसमें 'तत्त्वमसि' वाक्य में भेदरूप सम्बन्ध अथवा विशिष्ट अभेदरूप सम्बन्धों का निषेध करके, अभिधा शब्दशक्ति द्वारा प्रतीत होने वाले वाच्यार्थ के प्रति असहमति व्यक्त करते हुए, लक्षणा शब्दशक्ति के सहयोग से प्रतीत होने वाले सर्वज्ञत्व एवं अल्पज्ञत्व का परित्याग करके भेदरहित वाक्यार्थ को ही अभिप्रेत माना गया है। जिसे वेदान्त के विशेषज्ञ विद्वानों द्वारा 'अखण्ड एवं एकरस' के रूप में मान्यता प्रदान की है।

विशेष–(1) प्रस्तुत अंश में 'नीलमुत्पलम्' के समान गुण-गुणी के विशेषणविशेष्यभाव का 'तत्त्वमसि' महावाक्य में निषेध किया गया है।

(2) प्रस्तुत गद्यखण्ड के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

चित्र-५१

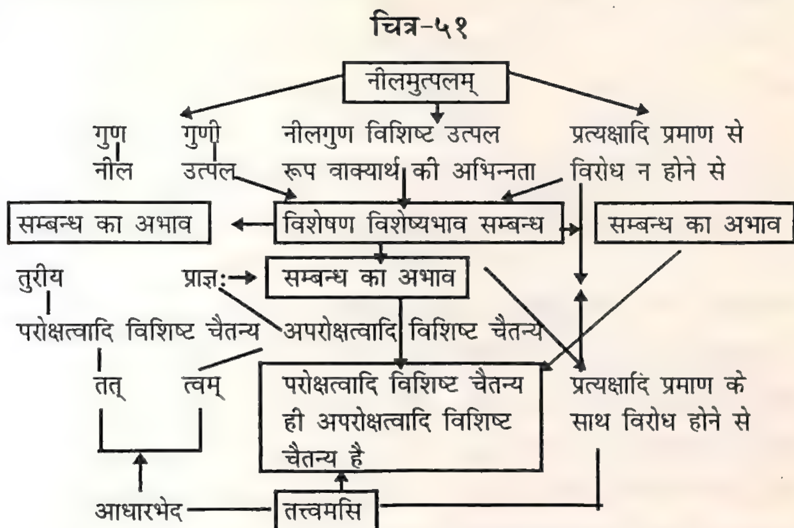

अवतरणिका–गुणगुणी के समान विशेषणविशेष्यभाव का 'तत्त्वमसि' महावाक्य में निषेध करने के बाद 'गंगायां घोष:' इत्यादि वाक्य के समान 'तत्त्वमसि' में 'जहत् लक्षणा' का निषेध करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं–

अत्र गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीतिवाक्यवज्जहल्लक्षणापि न सङ्गच्छते। तत्र तु गङ्गाघोषयोराधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्याशेषतो विरुद्धत्वाद्वाक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धितीरलक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा सङ्गच्छते।

अत्र तु परोक्षापरोक्षचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधाद्भागान्तरमपि परित्यज्यान्यलक्षणाया अयुक्तत्वाज्जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते। न च गङ्गापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं यथा लक्षयति तथा तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कुतो जहल्लक्षणा न सङ्गच्छत इति वाच्यम्। तत्र तीरपदाश्रवणेन तदर्थाप्रतीतौ लक्षणया तत्प्रतीत्यपेक्षायामपि तत्त्वम्पदयोः श्रूयमाणत्वेन तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनरन्यतरपदेनान्यतरपदार्थप्रतीत्यपेक्षाभावात्॥२५॥

पदच्छेद–अत्र 'गङ्गायाम् घोष: प्रतिवसति' इति वाक्यवत् 'जहत् लक्षणा' अपि न सङ्गच्छते। तत्र तु गङ्गाघोषयो: आधार-आधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्य अशेषत: विरुद्धत्वात् वाक्यार्थम् अशेषत: परित्यज्य तत् सम्बन्धितीरलक्षणाया युक्तत्वात् जहत् लक्षणा सङ्गच्छते।

अत्र तु परोक्ष-अपरोक्ष चैतन्य-एकत्व लक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधाद् भागान्तरम् अपि परित्यज्य अन्य लक्षणायाः अयुक्तत्वात् 'जहत् लक्षणा' न सङ्गच्छते। न च गङ्गापदम् स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थम् यथा लक्षयति तथा तत् पदम् त्वम् पदम् वा स्वार्थपरित्यागेन त्वम् पदार्थम् तत् पदार्थम् वा लक्षयतु अतः कुतः जहत्लक्षणा न सङ्गच्छते इति वाच्यम्।

तत्र तीरपद-अश्रवणेन तद् अर्थ-अप्रतीतौ लक्षणया तत् प्रतीति-अपेक्षायाम् अपि तत् त्वम् पदयोः श्रूयमाणत्वेन तद् अर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनः अन्यतरपदेन अन्यतरपदार्थप्रतीति-अपेक्षा-अभावात्।।25।।

अनुवाद–यहाँ 'गङ्गा में अहीरों की बस्ती रहती है' इत्यादि वाक्य के समान 'जहत् लक्षणा' भी सङ्गत नहीं है। वहाँ तो गङ्गा एवं घोष के आधार-आधेयभावरूप सम्बन्ध का लक्षण होने से सम्पूर्णवाक्य का अर्थ विरुद्ध होने के कारण, सम्पूर्णवाक्य के अर्थ को छोड़कर, उससे सम्बद्ध तट रूप अर्थ में लक्षणा होने से 'जहत् लक्षणा' ठीक बैठ जाती है।

यहाँ तो परोक्ष एवं अपरोक्षरूप चैतन्यों की एकता का सूचक वाक्यार्थ एक अंशमात्र में विरुद्ध होने से, (अविरुद्धरूप), दूसरे भाग के अर्थ को छोड़ देने पर भी अन्य में लक्षणा के असम्भव होने से 'जहत् लक्षणा' असङ्गत हो जाती है और यदि जिसप्रकार (गंगायां घोषः में) गंगा पद अपने अर्थ का परित्याग करके तटरूप अर्थ को लक्षित करता है, ठीक उसीप्रकार तत् एवं त्वम् पद अपने (सर्वज्ञत्व एवं अल्पज्ञत्व रूप) अर्थ का परित्याग करके, तत् अथवा त्वम् पद के (चैतन्यरूप) अर्थ को लक्षित करता है तो फिर यहाँ 'जहत् लक्षणा' सङ्गत क्यों नहीं हो सकती? यह कहा जाए तो (यह भी ठीक नहीं है।)

क्योंकि वहाँ (गंगायां घोषः में) तट पद के सुनायी न देने से उसके अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। अतः लक्षणा से उसकी प्रतीति हो जाती है। जबकि तत् एवं त्वम् दोनों पदों के श्रूयमान होने के कारण दोनों के अर्थ की प्रतीति भी (सहज ही) हो जाती है। इसलिए यहाँ एक पद द्वारा दूसरे के अर्थ की प्रतीति की अपेक्षा ही नहीं रह जाती है। (इसलिए यहाँ जहत् लक्षणा करना उचित नहीं है)

'चन्द्रिका'–तत्त्वमसि महावाक्य का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने खण्ड-23 में समानाधिकरण्य, विशेषणविशेष्यभाव तथा लक्ष्यलक्षणभाव

सम्बन्धों का उल्लेख करते हुए 'भागलक्षणा' द्वारा तत्त्वमसि वाक्य के अर्थ को स्पष्ट किया था।

तत्पश्चात् उन्होंने 'नीलमुत्पलम्' में प्रयुक्त होने वाले विशेषणविशेष्यभाव का तथा यहाँ 'तत्त्वमसि' वाक्य में इसका तर्कपूर्वक निषेध किया तथा यहाँ प्रयुक्त होने वाले विशेषणविशेष्यभाव को गुणगुणी के विशेषणविशेष्यभाव से भिन्न 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्य में प्रयुक्त होने वाले विशेषणविशेष्यभाव के समान बताया।

पुनः लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध द्वारा लक्षणा शब्दशक्ति से 'तत्त्वमसि' वाक्य में प्रतीत होने वाले अर्थ को बताने से पूर्व 'जहल्लक्षणा' और 'अजहल्लक्षणा' द्वारा यहाँ अर्थप्रतीति का निषेध करते हुए, सर्वप्रथम 'गंगायां घोषः प्रतिवसति' के समान 'जहत् लक्षणा' का तर्कपूर्वक निषेध करते हुए कहते हैं–

'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य में 'गंगा के जलप्रवाह में अहीरों का गाँव निवास करता है' (गंगायां घोषः प्रतिवसति') इत्यादि वाक्य के समान 'जहत् लक्षणा' द्वारा वाक्यार्थ संगत नहीं हो सकता है, क्योंकि 'गंगायां घोषः' इत्यादि वाक्य में जलप्रवाह में किसी बस्ती का निवास असम्भव है। अतः वहाँ मुख्य अर्थ अर्थात् जलप्रवाहरूप अर्थ का बाध हो जाता है। तत्पश्चात् लक्षणा शब्दशक्ति द्वारा उससे सम्बद्ध 'तट' रूप अर्थ की प्रतीति होती है। उस स्थिति में वाक्य का लक्ष्यार्थ होता है–'गंगा के तट पर बस्ती'।

इस सम्पूर्णप्रक्रिया में 'गंगा' शब्द के मुख्य अर्थ रूप 'जलप्रवाह' का बाध होने से यहाँ लक्षणा शब्दशक्ति के प्रयोग के कारण उसका परित्याग किया गया, साथ ही इसी शक्ति द्वारा तत् सम्बद्ध 'तट' रूप अर्थ प्रतीत कराने में सहयोग प्रदान किया है। अतः अपने 'जलप्रवाह' रूप मुख्यार्थ का पूर्णतया त्याग करने के कारण, यहाँ प्रयुक्त होने वाली इस लक्षणा को साहित्यशास्त्र के विद्वानों द्वारा 'लक्षणलक्षणा' अथवा 'जहल्लक्षणा' इन नामों से पुकारा गया है, जो उचित भी है।

तत्पश्चात् इसी प्रक्रिया को 'तत्त्वमसि' वाक्य में प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थकार 'जहल्लक्षणा' के अनौचित्य का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि यहाँ यह लक्षणा संगत नहीं हो सकती, क्योंकि इस वाक्य में प्रयुक्त 'तत्' शब्द का अभिधा शब्दशक्ति द्वारा प्रतीत होने वाला वाच्यार्थ–परोक्षतादि गुणों

से युक्त चैतन्य तथा 'त्वम्' शब्द का अभिधेयार्थ अपरोक्षतादि विशिष्ट चैतन्य है। ये दोनों अर्थ पूर्णतया विरुद्ध हैं तथा यह विरोध वस्तुतः परोक्षता एवं अपरोक्षतारूपवैशिष्ट्य वाले अंश में विद्यमान है, शेष चैतन्यरूप अंश दोनो में समानरूप से स्थित हैं, जिसमें किसीप्रकार का कोई विरोध नहीं है।

इसलिए यदि हम यहाँ 'जहत्-लक्षणा' करके अर्थ करना चाहते हैं तो वह उचित नहीं होगा, क्योंकि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य के तत् एवं त्वम् पदों द्वारा प्रतीत होने वाले अर्थों में हमें परोक्षता एवं अपरोक्षतारूप अर्थ छोड़ना तो अभिप्रेत है, किन्तु उन दोनों में समानरूप से विद्यमान सामान्य चैतन्यांश का परित्याग हमें वाञ्छनीय नहीं है। अतः यहाँ जहल्लक्षणा संगत नहीं होगी।

इसी प्रसङ्ग में ग्रन्थकार प्रतिपक्षी द्वारा उठायी गयी शङ्का को प्रस्तुत करते हैं–जिसप्रकार 'गङ्गा' यह शब्द अपने 'जलप्रवाह' रूप वाच्यार्थ को छोड़कर 'तट' रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति लक्षणा शब्दशक्ति 'जहल्लक्षणा' से कराता है। ठीक उसीप्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य में प्रयुक्त 'तत्' अथवा 'त्वम्' पदों में से कोई एक अपने परोक्षता अथवा अपरोक्षता रूप अर्थ का परित्याग करके अपरोक्षतादिविशिष्ट चैतन्य अथवा परोक्षतादि विशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ को लक्षित करे, तो इस स्थिति में जहल्लक्षणा द्वारा ही दोनों पदों का एकत्व सिद्ध हो सकेगा, फिर आप इस प्रसङ्ग में 'जहल्लक्षणा' की उपादेयता का निषेध भला क्यों कर रहे हैं?

प्रतिपक्षी द्वारा इसप्रकार की शङ्का अभिव्यक्त करने पर ग्रन्थकार उत्तर प्रस्तुत करते हैं–'गंगायां घोषः' इत्यादि वाक्य में 'तट' रूप अर्थ का प्रयोग न करने तथा मुख्यार्थ का बाध होने की स्थिति में ही 'तट' रूप अर्थ की प्रतीति के लिए लक्षणा शब्दशक्ति का सहयोग लिया गया था, किन्तु 'तत्' एवं 'त्वम्' इन दोनों पदों के सुनने के पश्चात्, इन दोनों द्वारा प्रतिपादित अर्थों की प्रतीति भी सहज ही हो जाती है–अर्थात् तत् से अभिप्राय है–परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य तथा 'त्वम्' से अभिप्राय है–अपरोक्षतादि विशिष्ट चैतन्य। साथ ही यहाँ दोनों ही पदों का प्रयोग भी हुआ है। अतः लक्षणा द्वारा एक पद से दूसरे पद के अर्थ का बोध कराने की आवश्यकता भी नहीं है। इसलिए 'गंगायां घोषः' इत्यादि वाक्य के समान इस 'तत्त्वमसि' वाक्य की स्थिति न होने से 'जहल्लक्षणा' का औचित्य ही यहाँ संदिग्ध है।

विशेष–(1)ग्रन्थकार ने 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'जहल्लक्षणा' का अनौचित्य सिद्ध किया है।

(2) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी समझा जा सकता है–

चित्र-५२

गंगायां घोषः

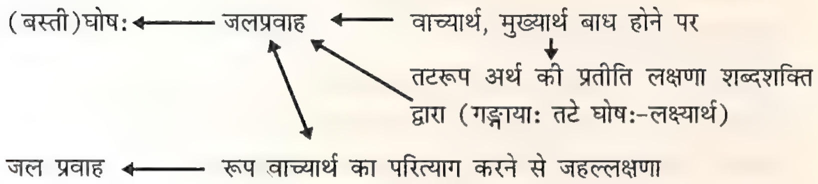

(चित्र-५३)

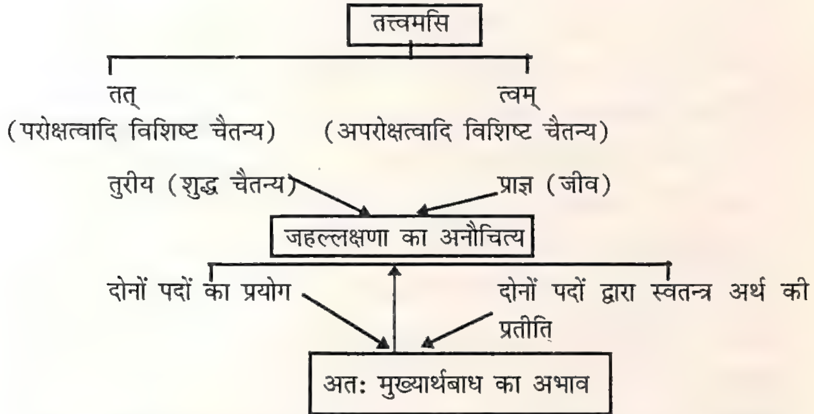

अवतरणिका–इसप्रकार जहल्लक्षणा का अनौचित्य 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य में प्रदर्शित करने के पश्चात् ग्रन्थकार 'शोणो धावति' लाल (घोड़ा) दौड़ रहा है, इत्यादि वाक्य के समान 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य में अजहल्लक्षणा के अनौचित्य को भी सिद्ध करते हैं–

अत्र शोणो धावतीतिवाक्यवदजहल्लक्षणापि न सम्भवति। तत्र शोणगुणगमनलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादिलक्षणया तद्विरोधपरिहारसम्भवादजहल्लक्षणा सम्भवति। अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तद-परित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्य कस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेऽपि तद्विरोधपरिहारासम्भवादजल्लक्षणा न सम्भवत्येव। न च तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थविरुद्धांशपरित्यागेनांशान्तरसहितं त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणाङ्गीकरणमिति वाच्यम्। एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात्पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च॥२६॥

पदच्छेद–अत्र 'शोणः धावति' इति वाक्यवद् 'अजहल्लक्षणा' अपि न सम्भवति। तत्र शोण-गुण-गमन-लक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्, तद् अपरित्यागेन तद् आश्रय-अश्वादिलक्षणया तद् विरोध-परिहारसम्भवाद्, अजहल्लक्षणा सम्भवति।

अत्र तु परोक्षत्व-अपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य-एकत्वस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात् तद् अपरित्यागेन तत् सम्बन्धिनः यस्य कस्यचिद् अर्थस्य लक्षितत्वे अपि तद् विरोध-परिहार-असम्मवाद् अजहल्लक्षणा न सम्भवति एव।

न च तत् पदम् त्वम् पदम् वा स्वार्थविरुद्ध-अंशपरित्यागेन अंशान्तर-सहितम् त्वम् पदार्थम् तत् पदार्थम् वा लक्षयतु, अतः कथम् प्रकारान्तरेण भागलक्षणा-अङ्गीकरणम् इति वाच्यम्।

एकेन पदेन स्वार्थांश-पदार्थान्तर-उभय लक्षणायाः असम्भवात्, पदान्तरेण तद् अर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनः तत् प्रतीतिः अपेक्षा अभावात् च।।26।।

अनुवाद–यहाँ (तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य में) 'लाल' दौड़ रहा है' इत्यादि वाक्य के समान 'अजहल्लक्षणा' (करना) भी सम्भव नहीं है। (क्योंकि) वहाँ लालगुण का गमनरूप जो वाक्यार्थ है, असंगत है। अतः (उसकी संगति हेतु) उस अर्थ का परित्याग किए बिना, उसके आश्रयभूत अश्वादि में लक्षणा द्वारा अर्थ करके उस विरोध का परिहार हो जाता है (अतः इस वाक्य में) अजहल्लक्षणा सम्भव है।

जबकि (तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य में) तो परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व आदि विशिष्ट (दो) चैतन्यों की एकता, अभिन्नवाक्यार्थ के विरुद्ध होने के कारण उसका परित्याग किए बिना उससे सम्बन्धित जिस किसी भी अर्थ की लक्षणा से प्रतीति होने पर भी, उस विरोध का परिहार असम्भव होने से, अजहल्लक्षणा भी सम्भव नहीं है।

(और यदि यह कहा जाए कि) 'तत्' अथवा 'त्वम्' पद अपने अर्थ में विरुद्ध अंश का परित्याग करके, दोनों में सामान्य (चैतन्य) रूप अंश सहित त्वम् एवं तत् पदों के अर्थ को लक्षणा से प्रदर्शित करें, (तो भी ठीक नहीं), क्योंकि तब तो (हमारे द्वारा कथित) भागलक्षणा को ही प्रकारान्तर से क्यों न स्वीकार कर लिया जाए?

(क्योंकि) एक पद द्वारा अपने (विरुद्ध) अंश का परित्याग करके तथा दूसरे पद के अविरुद्ध अर्थ की प्रतीति दोनों कार्यों में लक्षणा (एक साथ)

प्रवृत्त नहीं हो सकती। (फिर) दूसरे पद द्वारा (अभिधा से ही) उस अर्थ की प्रतीति हो जाने के कारण, पुनः लक्षणा से उसकी प्रतीति कराने की आवश्यकता ही नहीं है।

'चन्द्रिका'–'तत्त्वमसि' इस वाक्य में 'शोणो धावति' इस वाक्य के समान 'अजहल्लक्षणा' मानकर भी अखण्ड अर्थ की प्रतीति नहीं करायी जा सकती है, क्योंकि 'शोणो धावति' का सीधा अर्थ है–'लाल दौड़ता' है। यहाँ लाल रंग तो वस्तुतः गुण है, इसलिए उसका दौड़ना सम्भव नहीं है। अतः मुख्य अर्थ का बाध होने के कारण उक्त वाक्य की संगति बैठाने के लिए लाल रंग है जिसका, ऐसा घोड़ा दौड़ रहा है। इस अर्थ में लक्षणा कर ली जाती है। अतः यहाँ लक्षणा शब्दशक्ति द्वारा 'शोण' शब्द अपने लालरूप अर्थ का परित्याग किए बिना ही (अजहत्) अर्थात् बिना छोड़े अश्व का बोधक होता है। ऐसा करने पर 'शोणो धावति' वाक्य के अर्थ में किसीप्रकार का विरोध नहीं रह जाता है। इस वाक्य में पूर्व अर्थ–'लाल' रंग के साथ-साथ 'अश्व' रूप अन्य अर्थ की प्रतीति लक्षणा शब्दशक्ति द्वारा करायी जा रही है। इसीलिए इस लक्षणा को 'अजहत्-लक्षणा' कहा गया है।

किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में इसप्रकार की विशेषता से युक्त अजहल्लक्षणा नहीं की जा सकती है, क्योंकि यहाँ तत् पद का अर्थ है–'परोक्षत्त्वादिविशिष्टचैतन्य एवं त्वम् पद का अर्थ है–अपरोक्षत्वादि विशिष्टचैतन्य। ये दोनों, चैतन्यांश की दृष्टि से एकत्व के प्रतिपादक होते हुए भी परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व रूप अर्थ में परस्पर विरुद्ध हैं।

इसलिए यदि 'शोणो धावति' के समान अजहल्लक्षणा मानकर परोक्षत्व-अपरोक्षत्वादि विशिष्ट तत् एवं त्वम् पदों द्वारा केवल चैतन्यरूप अंश के एकत्व की कल्पना कर भी ली जाए तो भी परोक्षत्व अपरोक्षत्वादि विशिष्टरूप भेद के बने रहने के कारण अभेद की प्रतीति तो हो ही नहीं सकती तथा इसप्रकार की अभेदप्रतीति यदि नहीं होती है तो फिर लक्षणा मानने का कोई लाभ नहीं होगा। इसलिए यहाँ अजहल्लक्षणा को नहीं माना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि यहाँ प्रयुक्त तत् पद त्वम् पद के विरुद्ध अपने परोक्षत्वादिवैशिष्ट्य का परित्याग करता हुआ, दोनों में समानरूप से स्थित चैतन्यरूप अंश को ग्रहण करते हुए, त्वम् पद

में स्थित अल्पत्वादि विशिष्ट जीवरूप चैतन्य को लक्षणा द्वारा बोधित करा सकता है।

इसीप्रकार त्वम् पद भी 'तत्' पद के विरुद्ध अपने अपरोक्षत्वादिधर्म का परित्याग करके तथा दोनों में समानरूप से स्थित चैतन्यांश को न छोड़ता हुआ, तत् पद के सर्वज्ञत्व आदि विशिष्ट ईश्वररूपचैतन्य को लक्षणा द्वारा बोधित करा सकता है। इसलिए यहाँ 'भागलक्षणा' को मानने की आवश्यकता नहीं है, तो यह भी संगत नहीं है।

क्योंकि एक ही तत् अथवा त्वम् पद परित्याग किए हुए अपने परोक्षत्व–अपरोक्षत्वादि रूप अर्थ को तथा दूसरे पद के अर्थ को भी एक साथ लक्षणा द्वारा बोध कराएँ, ऐसी उभयलक्षणा ठीक उसीप्रकार नहीं होती है, जैसे–शोणो धावति में प्रयुक्त 'शोण' पद अपने लाल अर्थ को बताने के साथ-साथ लक्षणा से काले, नीले, पीले आदि रंगों का कथन नहीं करता है।

इसके अलावा यहाँ तत् एवं त्वम् दोनों पदों का प्रयोग हुआ ही है। अतः उन्हीं के द्वारा अपने-अपने अर्थों की अभिधा शब्दशक्ति से स्वतःप्रतीति हो ही जाएगी। इसलिए लक्षणा द्वारा दूसरे पद से, अन्य पद के अर्थ की प्रतीति कराने की कोई आवश्यकता नहीं है।

विशेष–(1) प्रस्तुत गद्यखण्ड में ग्रन्थकार ने 'शोणो धावति' के समान 'तत्त्वमसि' वाक्य में अजहल्लक्षणा के अनौचित्य का प्रतिपादन किया है।

(2) लक्षणा दो प्रकार की होती हैं (क) जहल्लक्षणा इसीको लक्षण लक्षणा भी कहते हैं (ख) अजहल्लक्षणा इसे उपादानलक्षणा भी कहा जाता है।

(3) 'तत्त्वमसि' वाक्य में प्रयुक्त 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के उभय सामान्यधर्म की प्रतीति कराने के लिए ग्रन्थकार ने उक्त दोनों लक्षणाओं से भिन्न जहदजहल्लक्षणा की परिकल्पना की है, जिसे भागलक्षणा भी कहा जाता है।

(4) प्रस्तुत गद्यखण्ड के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र-५३

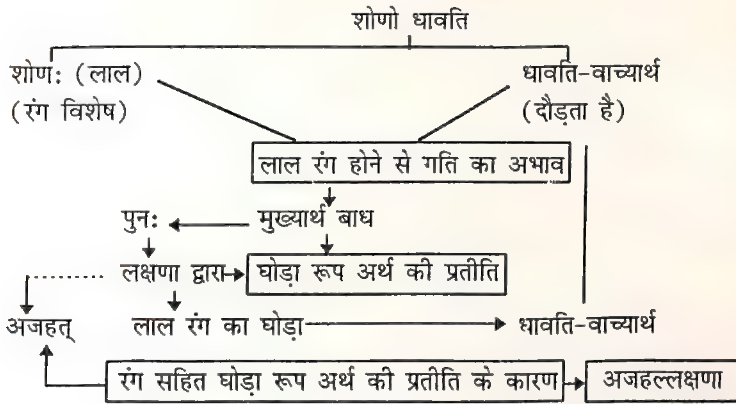

चित्र संख्या-52 के समान तत्त्वमसि वाक्य को समझें।

अवतरणिका–इसप्रकार यहाँ तक 'तत्त्वमसि' वाक्य में जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा के अनौचित्य का प्रतिपादन करने के पश्चात् 'सोऽयं देवदत्तः' के समान भागलक्षणा अर्थात् जहदजहल्लक्षणा का कथन करते हैं–

तस्माद्यथा सोऽयं देवदत्त इति वाक्यं तदर्थो वा तत्कालैतत्काल-विशिष्टदेवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधद्विरुद्धतत्कालैतत्काल-विशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति तथा तत्त्वमसीतिवाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्ट-चैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादि-विशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति॥२७॥

पदच्छेद–तस्मात् यथा 'सः अयम् देवदत्तः' इति वाक्यम् तद् अर्थः वा, तत्काल-एतत्काल-विशिष्ट-देवदत्त-लक्षणस्य वाक्यार्थस्य अंशे विरोधाद् विरुद्ध-तत्काल-एतत्काल-विशिष्टत्व-अंशम् परित्यज्य, अविरुद्धम् देवदत्तांश-मात्रम् लक्षयति।

तथा 'तत्त्वमसि' इति वाक्यम् तद् अर्थः वा परोक्षत्व-अपरोक्षत्वादि-विशिष्ट-चैतन्य-एकत्वलक्षणस्य, वाक्यार्थस्य अंशे विरोधाद्-विरुद्ध, परोक्षत्व-अपरोक्षत्वादि-विशिष्टत्वांशम् परित्यज्य अविरुद्धम् अखण्ड चैतन्यमात्रम् लक्षयति, इति॥27॥

अनुवाद–इसलिए जिसप्रकार 'यह वही देवदत्त है' इत्यादि वाक्य अथवा उसका अर्थ, अर्थात् तत्काल एवं एतत्काल विशिष्ट देवदत्तरूप वाक्यार्थ के अंशमात्र में विरोध होने के कारण, विरुद्ध तत्काल एवं एतत् काल वैशिष्ट्य वाले अंश का परित्याग करके, अविरुद्ध देवदत्त अंशमात्र को लक्षित करता है।

ठीक उसीप्रकार 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इत्यादि वाक्य अथवा उसका अर्थ-अर्थात् परोक्षत्व-अपरोक्षत्वादिविशिष्ट अभिन्नरूप लक्षण वाला एक चैतन्य है। उसका वाक्यार्थ के अंशमात्र में विरोध होने के कारण, विरुद्ध परोक्षत्व-अपरोक्षत्व आदि विशिष्ट अंश का परित्याग करके, अविरुद्ध अखण्डचैतन्यमात्र को परिलक्षित करता है।

'चन्द्रिका'–इसलिए 'यह वही देवदत्त है' इत्यादि वाक्य के समान तत्त्वमसि-'वह तू है' इत्यादि वाक्य में जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा दोनों लक्षणाओं से भिन्न, तीसरे प्रकार की लक्षणा अर्थात् 'जहदजहल्लक्षणा' होती है। इसीको अन्य नाम 'भागलक्षणा' भी दिया गया है, क्योंकि इस लक्षणा में प्रयुक्त शब्द अपने अर्थ के कुछ अंश का परित्याग करके कुछ ही अंश का बोध कराता है।

जैसा कि 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्य में भी होता है, क्योंकि वहाँ 'सः' का अभिप्राय तत्कालविशिष्ट देवदत्त है तथा 'अयम्' शब्द एतत्कालविशिष्ट देवदत्त का कथन करता है। यह वही देवदत्त है, ऐसा कहने पर देवदत्तरूप अंश में किसीप्रकार का कोई विरोध विद्यमान नहीं है, और यदि विरोध है भी तो वह है कालिकविरोध अर्थात् तत्कालीन एवं एतत्कालीन देवदत्त। इसलिए यहाँ स्थित विरुद्ध अंश को छोड़कर, अविरुद्ध अंश देवदत्तरूप पिण्डमात्र का बोध कराने के लिए–जहदजहल्लक्षणा ही माननी होगी।

ठीक इसीप्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य में भी 'तत्' पद का अभिप्राय है–परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य अर्थात् ब्रह्म एवं त्वम् पद का अर्थ है–अपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य अर्थात् जीव। इन दोनों पदों में चैतन्यरूप अंश समानरूप से विद्यमान होने के कारण उनमें कोई विरोध विद्यमान नहीं है, किन्तु परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व रूप अंशों में विरोध स्थित है। इसलिए यहाँ स्थित विरुद्ध अंश को छोड़कर अविरुद्धचैतन्य अंश को ग्रहण करते हुए, जहत् (छोड़कर) अजहत् (बिना छोड़े) रूप लक्षणा शब्दशक्ति द्वारा तत्

एवं त्वम् पद अविरुद्ध परमशुद्धचैतन्यमात्र को लक्षित करते हैं। यही भाग लक्षणा भी है। यही वेदान्त का सिद्धान्त भी है।

विशेष—(1) प्रस्तुत गद्यखण्ड में ग्रन्थकार ने सोदाहरण अपना पक्ष प्रस्तुत किया है।

(2) 'सोऽयं देवदत्तः' एवं 'तत्त्वमसि' वाक्यों में लक्षणा की दृष्टि से परस्पर संगति प्रतिपादित की है।

(3) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को संक्षेप में इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं—

चित्र-५४

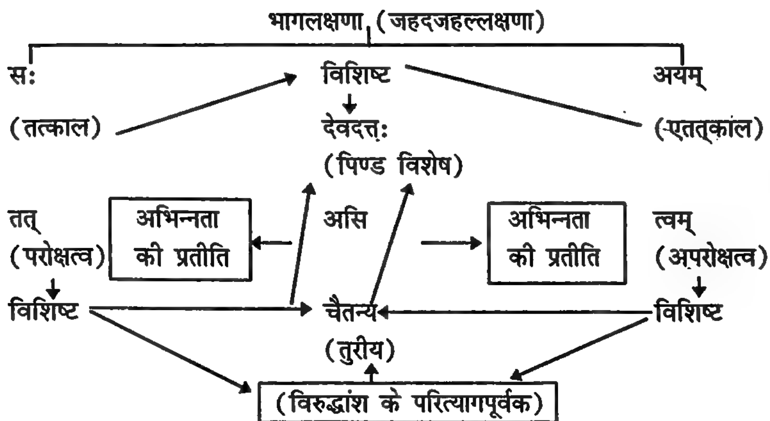

अवतरणिका—इसप्रकार 'तत्त्वमसि उपदेशवाक्य में प्रयुक्त होने वाले सम्बन्ध एवं उसकी अर्थप्रतीति को स्पष्ट करने के पश्चात् ग्रन्थकार 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि अनुभवमहावाक्य को स्पष्ट करते हैं—

अथाधुनाहं ब्रह्मास्मीत्यनुभववाक्यार्थो वर्ण्यते। एवमाचार्येणाध्यारोपापवादपुरःसरं तत्त्वम्पदार्थौ शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेऽवबोधितेऽधिकारिणोऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकाराकारिताचित्तवृत्तिरुदेति। सा तु चित्प्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परं ब्रह्म विषयीकृत्य तद्गताज्ञानमेव बाधते तदा पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवदखिलकारणेऽज्ञाने बाधिते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधितत्वात्तदन्तर्भूताखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति। तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि यथा दीपप्रभादित्यप्रभावभासनासमर्था सती तयाभिभूता भवति तथा स्वयम्प्रकाशमानप्रत्यग-

भिन्नपरब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभूतं सत्स्वोपाधिभूताखण्डचित्तवृत्ते-र्बाधितत्वाद्दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति॥२८॥

पदच्छेद–अथ अधुना 'अहम् ब्रह्म अस्मि' इति अनुभववाक्यार्थः वर्ण्यते। एवम् आचार्येण अध्यारोप-अपवाद-पुरःसरम् तत्-त्वम्-पदार्थौ शोधयित्वा वाक्येन अखण्डार्थे अवबोधिते 'अधिकारिणः अहम्' नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य-स्वभाव-परमानन्द-अनन्त-अद्वयम् 'ब्रह्म अस्मि' इति अखण्डाकार-आकारिता-चित्तवृत्तिः उदेति।

सा तु चित् प्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यक् अभिन्नम् अज्ञातम् परमब्रह्म विषयीकृत्य तद्गत-अज्ञानम् एव बाधते। तदा पटकारण-तन्तुदाहे पट-दाहवद्, अखिल-कारणे अज्ञाने बाधिते सति, तत् कार्यस्य अखिलस्य बाधितत्वात् तद् अन्तर्भूत-अखण्डकार-आकारिता चित्तवृत्तिः अपि बाधिता भवति ।

तत्र प्रतिबिम्बितम् चैतन्यम् अपि यथा दीपप्रभा-आदित्यप्रभा-अवभासन-असमर्था सती, तया अभिभूता भवति तथा स्वयंप्रकाशमान- प्रत्यग् अभिन्न-परमब्रह्म-अवभासन-अनर्हतया तेन अभिभूतम् सत् स्व-उपाधिभूत-अखण्डचित्तवृत्तेः बाधितत्वाद्, दर्पण-अभावे मुख-प्रतिबिम्बस्य मुख-मात्रत्ववत्, प्रत्यग् अभिन्नपरब्रह्ममात्रम् भवति।।28।।

अनुवाद–इसके पश्चात् अब 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यादि अनुभववाक्यार्थ का वर्णन किया जा रहा है। इसप्रकार अध्यारोप एवं अपवाद सहित आचार्य द्वारा तत् एवं त्वम् इन दोनों पदार्थों में शोध करके (तत्त्वमसि) वाक्य द्वारा अखण्ड अर्थ का ज्ञान कराये जाने पर, 'मैं अधिकारी हूँ' मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव, परमानन्दस्वरूप, अनन्त एवं अद्वैत ब्रह्म हूँ, इत्यादि अखण्डाकार से आकारित चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है।

'चित्' के प्रतिबिम्ब से युक्त होती हुई (चित्तवृत्ति) तो आन्तरिक, सबसे भिन्न एवं अज्ञात परमब्रह्म का साक्षात्कार करके उसमें स्थित अज्ञान का ही बाध करती है। तब वस्त्र के कारणरूप तन्तुओं के जल जाने पर वस्त्रदाह के समान, सम्पूर्ण (संसार) के कारणभूत अज्ञान के विनष्ट हो जाने पर, उसके कार्यरूप सम्पूर्ण सृष्टिप्रपञ्च के बाध होने से, उसके अन्दर स्थित अखण्ड आकार से आकारित चित्तवृत्ति भी समाप्त हो जाती है।

उस (चित्तवृत्ति) में प्रतिबिम्बित चैतन्य भी, जिसप्रकार दीपक की प्रभा सूर्य की प्रभा को प्रकाशित करने में असमर्थ होती हुई, उससे अभिभूत हो जाती है। ठीक उसीप्रकार स्वयं प्रकाशमान, प्रत्यक्, अभिन्न, परमब्रह्म को अवभासित करने में असमर्थ होने से, उससे अभिभूत हुई, अपनी उपाधिरूप अखण्डचित्तवृत्ति को नष्ट कर देने से, दर्पण के अभाव में मुख के प्रतिबिम्ब की (अपेक्षा) मुखमात्र रहने के समान, आन्तरिक आत्मा से अभिन्न परमब्रह्ममात्र ही रह जाता है।।

'चन्द्रिका'—प्रस्तुत अंश को समझने के लिए वेदान्तियों की लौकिक-ज्ञान विषयक प्रक्रिया को समझना आवश्यक है। तदनुसार घट-पट आदि के ज्ञान में सर्वप्रथम वृत्ति उस पदार्थ के सम्बन्ध में स्थित अज्ञान को दूर करती है। तत्पश्चात् उसका 'चित्' प्रतिबिम्ब पदार्थ का आकार धारण करके उसे भासित करता है। इस प्रसङ्ग में यह उल्लेखनीय है कि समस्त भौतिक पदार्थों के जड़ होने के कारण, उनमें स्वयं प्रकाशित होने की सामर्थ्य के अभाव के कारण 'चित्' प्रतिबिम्ब आवश्यक होता है।

इसलिए लौकिकज्ञान में सामान्यरूप से अज्ञान को दूर करना रूप बुद्धि की वृत्ति एवं चित् का प्रतिबिम्बरूप फल अथवा आभास दोनों आवश्यक हैं। जबकि ब्रह्मसाक्षात्कार में केवल तद्विषयक अज्ञान को दूर करना रूप वृत्ति की ही अपेक्षा रहती है। चित् प्रतिबिम्बरूप फल या उसके आभास की इसलिए आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि ब्रह्म स्वयं प्रकाशमान है। उसे किसी से प्रकाशित होने की आवश्यकता नहीं है। ब्रह्मज्ञान एवं लौकिकज्ञान में यही अन्तर है। जिसकी ओर ग्रन्थकार ने प्रस्तुत अंश में सङ्केत किया है।

वेदान्त की दृष्टि में अधिकारी को गुरु अध्यारोप एवं अपवादन्याय से 'तत्त्वमसि' महावाक्य के तत् एवं त्वम् पदों के अर्थों को भलीप्रकार समझाने के पश्चात् अखण्ड अर्थ का बोध कराता है। जिसके परिणामस्वरूप उसके हृदय में अखण्ड आकार से आकारित इसप्रकार की चित्तवृत्ति का उदय होता है कि मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव, परमानन्द-स्वरूप, अनन्त एवं अद्वैतब्रह्म हूँ।

किन्तु इस विषय में यदि कोई यह शङ्का करे कि चित्तवृत्ति तो जड़ है, जो स्वयंप्रकाश, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, ब्रह्म को अपना विषय ठीक उसीप्रकार बनाकर उदित नहीं हो सकती, जिसप्रकार दीपक का प्रकाश सूर्यमण्डल को

प्रकाशित नहीं कर सकता। इसी के उत्तर में ग्रन्थकार 'सा तु' इत्यादि गद्यखण्ड को प्रस्तुत करते हैं–

अर्थात् वह चित्तवृत्ति परमशुद्धचैतन्य को अपना विषय नहीं बनाती, अपितु वह तो अज्ञान-विशिष्ट प्रत्यक्-अभिन्न विषय वाली होती है। उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। उस स्थिति में वह प्रत्यक् चैतन्यगत अज्ञान रूप आवरण को दूर कर देती है। अतः इस अज्ञान को दूर करना ही उस वृत्ति के उदय का प्रयोजन है। चैतन्यगत परब्रह्मविषयक अज्ञान के आवरण के विनष्ट होते ही अधिकारी को इसप्रकार की अनुभूति होने लगती है कि मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, आदिस्वरूप परमब्रह्म हूँ।

इस प्रसङ्ग में 'प्रतिपक्षी द्वारा यह शङ्का पुनः प्रस्तुत की जा सकती है कि गुरु द्वारा 'तत्त्वमसि' इत्यादि उपदेशवाक्यों से उत्पन्न तात्त्विकज्ञान से आभासित होने वाली, अखण्डचैतन्यवृत्ति के कारण अधिकारी का प्रत्यक् चैतन्यविषयक अज्ञान भले ही विनष्ट हो जाए, किन्तु उस स्थिति में भी अज्ञान का कार्य सम्पूर्ण चराचरप्रपञ्च का आभास तो उसे प्रत्यक्षरूप में होता ही रहेगा। ऐसी स्थिति में उसे अद्वैत की अनुभूति कैसे हो सकती है?

इस शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि सामान्यसिद्धान्त है कि कारण के नष्ट होने पर कार्य स्वतः विनष्ट हो जाता है। ठीक उसीप्रकार जैसे पट के कारण तन्तु के नष्ट होने पर पट स्वतः ही नष्ट हो जाता है। सम्पूर्ण चराचरप्रपञ्च यहाँ कार्य है तथा अज्ञान कारण है, इसलिए अज्ञानरूपी कारण के नष्ट होने पर चराचरप्रपञ्चरूप कार्य भी स्वतः ही नष्ट हो जाएगा।

पुनः यदि कोई कहे कि उस स्थिति में भी अखण्ड आकार से आकारित चित्तवृत्ति के विद्यमान रहने से अद्वैत की सिद्धि तो तब भी नहीं होगी? इसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि–अखण्ड आकार से आकारित वह वृत्ति भी वस्तुतः अज्ञान एवं उसके कार्यप्रपञ्च के अन्तर्गत ही आती है। इसलिए कारणभूत अज्ञान के नष्ट होने पर प्रपञ्च एवं वृत्ति दोनों ही विनष्ट होंगे। अतः इसप्रकार के विरोध की सम्भावना नहीं रहेगी।

पुनः यदि कहा जाए कि अज्ञान, सम्पूर्ण चराचरप्रपञ्च एवं अखण्ड आकार से आकारित चित्तवृत्ति, इन तीनों के नष्ट हो जाने पर भी वृत्ति में

प्रतिबिम्बित होने वाला चैतन्य का आभास तो उस स्थिति में भी विद्यमान रहेगा ही, तो भला अद्वैत की सिद्धि कैसे हो सकती है?

इसका निवारण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जिसप्रकार दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है, किन्तु दर्पण के न रहने पर केवल मुखमात्र ही शेष रहता है, उसका प्रतिबिम्ब अलग से भासित नहीं होता है। ठीक उसीप्रकार वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य, वृत्ति के नष्ट हो जाने पर अलग से भासित न होकर बिम्बमात्र अर्थात् चैतन्यमात्र शेष रह जाता है।

जिसप्रकार दीपक का प्रकाश सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकता, उसके सामने क्षीण हो जाता है। ठीक उसीप्रकार स्वयंप्रकाशस्वरूप, प्रत्यक् अभिन्न उस परमब्रह्म को वह चैतन्य प्रतिबिम्ब प्रकाशित नहीं कर पाता है, अपितु जिस अखण्डचित्तवृत्ति के कारण उसकी अलग से प्रतीति हो रही थी, उस वृत्ति के नष्ट होने पर बिम्बमात्र अर्थात् ब्रह्ममात्र शेष रह जाता है। इसे दर्पण एवं मुख के उदाहरण द्वारा पहले ही समझाया जा चुका है। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि दर्पण के विद्यमान न होने पर प्रतिबिम्ब के अभाव एवं मुख अर्थात् बिम्बमात्र की उपस्थिति के समान ही वृत्ति के विद्यमान न रहने पर उस चैतन्य के प्रतिबिम्ब का भी अभाव हो जाता है और वह बिम्ब अर्थात् प्रत्यग्-अभिन्न परमब्रह्ममात्र ही शेष रहता है, यही 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य का अभिप्राय है।

विशेष–(1) प्रस्तुत गद्यखण्ड के आरम्भ में प्रयुक्त 'अथ' का प्रयोग अनन्तर अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। यद्यपि 'अथ' पद अनेकार्थवाची है 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ' के अनुसार 'अथ' पद का प्रयोग मङ्गल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न एवं कात्स्न्र्य इन पाँच अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए होता है।

(2) प्रस्तुत गद्यखण्ड में परमब्रह्म अर्थात् तुरीय के अनेक विशेषणों का साभिप्राय प्रयोग किया गया है। जैसे–

(क) शुद्ध–अविद्या आदि दोषों से रहित ब्रह्म।

(ख) बुद्ध–स्वयंप्रकाशभूत अतः जड़ता आदि दोषों से रहित।

(ग) मुक्त–सभीप्रकार की उपाधियों से पूर्णतयारहित।

(घ) सत्यस्वभाव–अनश्वर स्वभावसम्पन्न।

(ङ) अनन्त–देशकाल आदि की दृष्टि से अपरिच्छिन्न।

(च) अद्वय-एकत्व का सूचक।

(3) अखण्डाकार आकारितवृत्ति से अभिप्राय-अखण्डब्रह्म के स्वरूप को धारण करने वाली, अन्तःकरण की वृत्ति से ग्रहण करना चाहिए। ब्रह्म के अपरोक्ष एवं नित्य होने से इसीको 'साक्षात्काररूपा' भी कहा गया है।

(4) कारण के नष्ट होने पर कार्य का स्वतः ही नष्ट होना, इसे समझाने के लिए तन्तु के नष्ट होने पर, पट का स्वतः ही नष्ट होना, अत्यन्त सुन्दर एवं प्रासङ्गिक उदाहरण है। जो प्रायः दार्शनिकग्रन्थों में दिया जाता रहा है। न्यायदर्शन में इसका सर्वाधिक प्रयोग हुआ है।

(5) इसीप्रकार दर्पण का उदाहरण देकर 'अहं ब्रह्मास्मि' अनुभूति में ब्रह्म की अद्वैतरूप में स्थिति को अत्यन्त स्पष्टरूप में समझाया गया है।

(6) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी समझा जा सकता है–

चित्र-५५

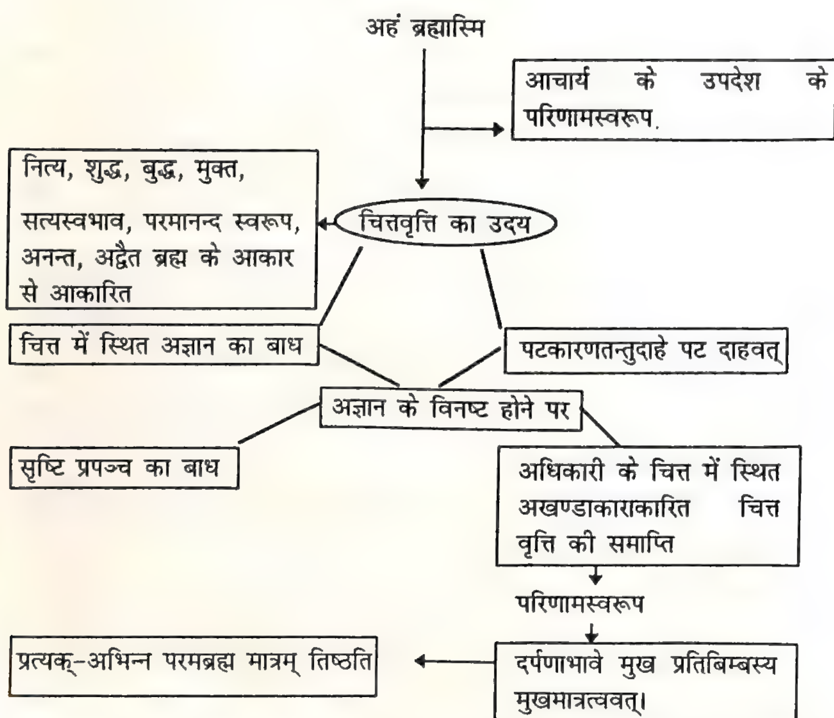

अवतरणिका–इसी प्रसङ्ग को आगे बढ़ाते हुए श्रुतिवाक्यों से प्रमाणित करते हैं–

एवं च सति "मनसैवानुद्रष्टव्यं" "यन्मनसा न मनुत" इत्यनयोः श्रुत्योरविरोधो वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्वप्रतिषेधप्रतिपादनात्। तदुक्तम्–

"फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्।

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता" इति॥

"स्वयम्प्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते" इति च जडपदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तेर्विशेषोऽस्ति। तथाहि। अयं घट इति घटाकाराकारितचित्तवृत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञाननिरसनपुरःसरं स्वगतचिदाभासेन जडं घटमपि भासयति। तदुक्तम्–

"बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।

तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्" इति॥

यथा दीपप्रभामण्डलमन्धकारगतं घटपटादिकं विषयीकृत्य तद्गतान्धकारनिरसनपुरःसरं स्वप्रभया तदपि भासयतीति॥२९॥

पदच्छेद–एवम् च सति "मनसा एव अनुद्रष्टव्यम्", "यत् मनसा न मनुते" इति अनयोः श्रुत्योः अविरोधः वृत्तिव्याप्यत्व-अङ्गीकारेण फलव्याप्यत्व प्रतिषेधप्रतिपादनात्। तद् उक्तम्–

"फलव्याप्यत्वम् एव अस्य शास्त्रकृद्भिः निवारितम्।

ब्रह्मणि अज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिः अपेक्षिता"॥

"स्वयं प्रकाशमानत्वात् न आभासः उपयुज्यते इति च॥"

जडपदार्थ–आकार–आकारित- चित्तवृत्तेः विशेषः अस्ति। तथाहि, अयम् घटः इति घटाकार–आकारितचित्तवृत्तिः अज्ञातम् घटम् विषयीकृत्य, तद्गत–अज्ञान–निरसनपुरःसरम् स्वगतचिद् आभासेन जडम् घटम् अपि भासयति। तद् उक्तम्–

"बुद्धितत्स्थ-चिद् आभासौ द्वौ एतौ व्याप्नुतः घटम्।

तत्र अज्ञानम् धिया नश्येत् आभासेन घटः स्फुरेत्" इति॥

यथा दीपप्रभा–मण्डलम् अन्धकारगतम् घटपट–आदिकम् विषयीकृत्य तद्गत–अन्धकार–निरसन–पुरःसरम् स्वप्रभया तद् अपि भासयति, इति॥29॥

अनुवाद–और ऐसा होने पर '(ब्रह) मन से ही द्रष्टव्य हैं', 'जो मन द्वारा जाना नहीं जा सकता है, इसप्रकार की दोनों श्रुतियों में वृत्ति के

व्याप्यत्व को स्वीकार करने से, फल व्याप्यत्व के प्रतिषेध प्रतिपादन के कारण विरोध नहीं है। इसीलिए कहा गया है–

"इस (ब्रह्म) के (साक्षात्कार के लिए) शास्त्रकारों द्वारा फलव्याप्यत्व का भी निषेध किया गया है, किन्तु ब्रह्म-विषयक अज्ञान के नाश के लिए चित्तवृत्ति की व्याप्ति तो अपेक्षित ही होती है। जबकि स्वयंप्रकाशमान होने के कारण (चैतन्य के) आभास का कोई उपयोग नहीं है।"

(अन्वय-अस्य (साक्षात्काराय) शास्त्रकृद्भिः फलव्याप्यत्वम् एव निवारितम्; (किन्तु) ब्रह्मणि अज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिः अपेक्षिता। (पुनरपि) स्वयं प्रकाशमानत्वात् (चैतन्यस्य) आभासः न उपयुज्यते)

जड़पदार्थ के आकार से आकारित चित्त की वृत्ति इससे भिन्न अर्थात् विशेष होती है, क्योंकि 'यह घड़ा है' इसप्रकार अज्ञात घटविषयक घट के आकार से आकारित चित्तवृत्ति, उसमें स्थित अज्ञान के विनाश के साथ, अपने में स्थित चित्-आभास द्वारा जड़रूप घट को भी प्रकाशित करती है। इसीलिए कहा गया है–

"बुद्धि एवं उसमें स्थित चिदाभास ये दोनों (ही) घट में व्याप्त रहते हैं। उनमें बुद्धि द्वारा अज्ञान विनष्ट होता है तथा चिदाभास द्वारा घट की अभिव्यक्ति होती है।"

जिसप्रकार दीपक का प्रभामण्डल अंधकार में रखे हुए घट-पट आदि को विषय बनाकर (सर्वप्रथम) उनसे सम्बन्धित अन्धकार को विनष्ट करने के साथ ही अपनी प्रभा से उसे भी प्रकाशित करता है।

'चन्द्रिका'– प्रस्तुत अंश को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें यहाँ प्रयुक्त दो शब्दों 'वृत्तिव्याप्ति' एवं 'फलव्याप्ति' को स्पष्ट करना होगा। वस्तुतः किसी विषय के ज्ञान के क्रम में दो अवस्थाएँ होती हैं (क) वृत्तिव्याप्ति एवं (ख) फलव्याप्ति।

(क) चक्षु आदि इन्द्रियों के माध्यम से अन्तःकरण द्वारा घट-पटादि विषयप्रदेश में पहुँचकर, तत्तत् वस्तु के आकार को धारण करना 'वृत्तिव्याप्ति' कहलाता है।

(ख) घट-पट आदि विषयरूप में परिवर्तित अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चिदाभास या उससे आच्छादितचैतन्य द्वारा, उस विषय का साक्षात् करना ही 'फलव्याप्ति' कहलाता है।

'वह परमब्रह्म मन से ही देखने योग्य है' इत्यादि श्रुतिवाक्यों में जब उसे मन द्वारा प्राप्य कहा जाता है, तब उस स्थिति में प्रयुक्त 'मन' से अभिप्राय 'वृत्तिव्याप्ति' से ग्रहण करना चाहिए तथा जब 'उसे मन द्वारा जाना नहीं जा सकता' ऐसा श्रुतिवचन उपलब्ध होता है, तब ब्रह्मतत्त्व को मन एवं बुद्धि से परे बताया गया है। उस स्थिति में हमें 'फलव्याप्ति' रूप अर्थ लेना चाहिए।

इसप्रकार अर्थग्रहण करने पर इन दोनों श्रुतिवचनों 'मनसैवानुद्रष्टव्यं' एवं 'यन्मनसा न मनुते' का स्थूलदृष्टि से प्रतीत होने वाला विरोध स्वतः ही नष्ट हो जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि अनुभूति में–चैतन्य प्रतिबिम्बसहित अखण्डाकार से आकारित वृत्ति द्वारा प्रत्यक् (आन्तरिक) चैतन्यगत अज्ञान नष्ट होकर प्रत्यग्–अभिन्न परब्रह्ममात्र शेष रह जाता है, क्योंकि स्वयंप्रकाशमान होने के कारण यदि वह वृत्तिगत चिदाभास द्वारा प्रकाशित ही किया जा सकता तो 'मनसैवानुद्रष्टव्यं' एवं 'यन्मनसा न मनुते' इत्यादि श्रुतिवचनों में विरोध नहीं होता, क्योंकि अन्तःकरणरूप वृत्ति में प्रतिबिम्बित चिदाभास द्वारा अज्ञान से उपहित चैतन्य के अज्ञानरूप आवरण की समाप्तिपूर्वक स्वरूपज्ञान के अभिप्राय से कही गई श्रुति–'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' चरितार्थ हो जाती है।

साथ ही स्वयंप्रकाशमान परमब्रह्म किसी अन्य द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता, यह मन, वाणी एवं बुद्धि इन सबसे परे है। इसलिए इस अभिप्राय को ध्यान में रखकर कहे गए 'यन्मनसा न मनुते' इत्यादि श्रुतिवचन भी चरितार्थ हो जाते हैं। इसीलिए वेदान्तशास्त्र के विद्वानों ने ब्रह्मस्थित अज्ञान के विनाश के लिए वृत्तिव्याप्यत्व की अपेक्षा तो प्रदर्शित की है, किन्तु फल की व्याप्ति का निषेध किया है, क्योंकि स्वयं प्रकाशित होने के कारण उसे चैतन्याभास जैसे प्रकाशकतत्त्व की आवश्यकता नहीं रहती है। चैतन्याभास वस्तुतः शुद्धचैतन्य का ही एक अंश है। इसलिए उसे प्रकाशित न कर पाने के कारण वह परमशुद्धचैतन्य में ही, उसीप्रकार विलीन हो जाता है, जिसप्रकार दूषित जल को साफ करने के लिए प्रयोग किया गया कतकरेणु नामक पदार्थ स्वयं भी उसी जल में विलीन हो जाता है। अथवा अरणिगत अग्नि अरणि से उत्पन्न होने के बाद, अरणि के जल जाने पर स्वयं भी स्वतः ही शान्त हो जाती है।

इसप्रकार निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि गुरु के उपदेश के परिणामस्वरूप अधिकारी प्रमाता में जब 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि अज्ञातब्रह्म विषयकचित्तवृत्ति का उदय होता है तो वह प्रथमतः जीव के चैतन्यगत अज्ञान के आवरण को दूर करती है। उस अज्ञान के दूर होने के साथ ही उस चित्तृवत्ति का अस्तित्व भी दूषितजल को स्वच्छ करने वाले कतकचूर्ण के समान तथा अरणि में उत्पन्न अग्नि के समान स्वतः ही समाप्त हो जाता है। उस स्थित में चैतन्य का प्रतिबिम्बरूप चैतन्याभासमात्र रह जाता है, जो स्वयं परमशुद्धचैतन्य का ही अंश है। इसलिए परमशुद्धचैतन्यरूप, सूर्य को प्रकाशित करने में अक्षम दीपक के समान, वह भी उसी में विलीन हो जाता है और तब परमशुद्धचैतन्यमात्र शेष बचता है। यही 'अहं ब्रह्मास्मि' की सात्त्विक एवं अन्तिम अनुभूति है।

इसी प्रसंग में जड़पदार्थ घट-पटादि के प्रत्यक्ष में उत्पन्न वृत्ति की भिन्नता का प्रतिपादन करते हैं–सांसारिक घट-पट आदि जड़पदार्थों के आकार से आकारितवृत्ति, वस्तुतः ब्रह्मज्ञान विषयकवृत्ति से भिन्न होती है। उस समय प्रमाता में 'अयं घटः' तथा 'अहं घटविषयक ज्ञानवान्' इसप्रकार की अज्ञात घटविषयकवृत्ति का उदय होता है, जो घटावच्छिन्नचैतन्य को आवृत करने वाले घटविषयक अज्ञान का विनाश करके, अपने में वर्तमान चिदाभास द्वारा घट को प्रकाशित करती है। इस प्रक्रिया को समझाने के लिए ग्रन्थकार पञ्चदशी की कारिका को उद्धृत करते हैं। जिसका अभिप्राय है कि–

बुद्धि एवं बुद्धि में प्रतिबिम्बित चिदाभास ये दोनों सबसे पहले घट में जाकर व्याप्त होते हैं। परिणामस्वरूप बुद्धि अर्थात् वृत्ति द्वारा घटविषयक अज्ञान विनष्ट कर दिया जाता है तथा वृत्ति में प्रतिबिम्बित होने वाले चिदाभास द्वारा घट प्रकाशित होता है।

पुनः ग्रन्थकार इसी बात को एक उदाहरण देकर समझाते हैं–जिसप्रकार दीपक पहले अंधकार में रखे हुए घट-पटादि के आवरणरूप अंधकार को दूर करता है तथा बाद में अपने उसी प्रकाश से उन्हें प्रकाशित करता है। ठीक उसीप्रकार घटादि के आकार से आकारित चित्तवृत्ति घटादिविषयक चैतन्य के अज्ञानरूपी आवरण को पहले विनष्ट करती है और बाद में स्वप्रतिबिम्बित चिदाभास द्वारा घटादिकों को भी प्रकाशित करती है। अतः

ब्रह्म का अनुभव कराने वाली वृत्ति एवं घटादिकों का प्रत्यक्ष कराने वाली इस वृत्ति की भिन्नता स्पष्ट है।

विशेष–(1) 'मनसा मनुते' इत्यादि श्रुतिवाक्यों में मन से अभिप्राय 'वृत्ति' से ग्रहण करना चाहिए।

(2) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

चित्र-५६

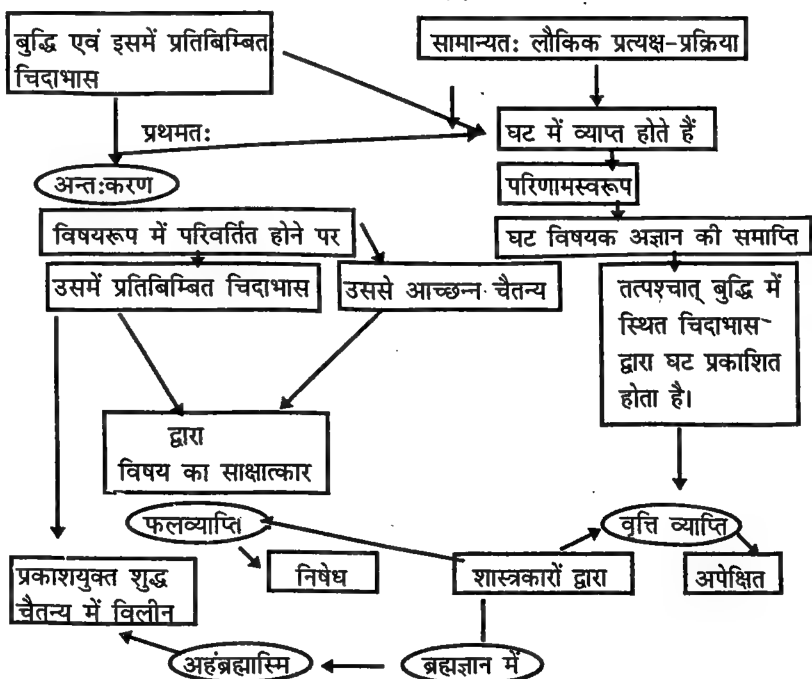

अवतरणिका–परमशुद्धचैतन्य का साक्षात्कार होने तक अधिकारी प्रमाता श्रवण, मनन आदि का अभ्यास जारी रखता है। अतः ग्रन्थकार उनका विस्तृत वर्णन करते हैं–

एवंभूतस्वस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणमनननिदिध्यासन समाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यन्ते। श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्। लिङ्गानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि। तत्र प्रकरणप्रति पाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ। यथा छान्दोग्ये

षष्ठाध्याये प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुन "एकमेवाद्वितीयं" इत्यादौ "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" इत्यन्ते च प्रतिपादनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनि मध्ये तत्त्वमसीति नवकृत्वः प्रतिपादनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयीकरणम्।

पदच्छेद–एवम्भूत-स्वरूपचैतन्य-साक्षात्कार-पर्यन्तम् श्रवण-मनन-निदिध्यासन-समाधि-अनुष्ठानस्य अपेक्षितत्वात् ते अपि प्रदर्श्यन्ते। **श्रवणम्** नाम- षड्विधलिङ्गैः अशेष-वेदान्तानाम् अद्वितीये वस्तूनि तात्पर्यावधारणम्। लिङ्गानि तु उपक्रम-उपसंहार-अभ्यास-अपूर्वता-फलार्थवाद-उपपत्ति-आख्यानि।

तत्र प्रकरणप्रतिपाद्यस्य अर्थस्य तद् आद्यन्तयोः उपपादनम् **उपक्रम-उपसंहारौ**। यथा- छान्दोग्ये षष्ठ-अध्याये प्रकरणप्रतिपाद्यस्य अद्वितीय वस्तुनः "एकम् एव अद्वितीयम्" इत्यादौ "ऐतद् आत्म्यम् इदम् सर्वम्" इति अन्ते च प्रतिपादनम्।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनः तत् मध्ये पौनःपुण्येन प्रतिपादनम् **अभ्यासः**। यथा तत्र एव अद्वितीयवस्तुनि मध्ये 'तत्त्वमसि' इति नवकृत्वः प्रतिपादनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य अद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तर अविषयीकरणम् **अपूर्वता**। यथा तत्रैव अद्वितीयवस्तुनः मानान्तर-अविषयीकरणम्।।

अनुवाद–इसप्रकार अपने ही स्वरूप 'चैतन्य' के साक्षात्कार होने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन, समाधि आदि अनुष्ठानों के अपेक्षित होने के कारण वे भी प्रदर्शित किए जा रहे हैं। छः प्रकार के लक्षणों से युक्त, सम्पूर्ण वेदान्तसूत्रों का, अद्वितीयवस्तु (ब्रह्म) में ही तात्पर्य है, यह निश्चय करना ही वस्तुतः श्रवण है। उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्ति नामक (ये) ही (छः) लिङ्ग हैं।

उन छः लिङ्गों में प्रकरण में प्रतिपादन योग्य पदार्थ का, उसके प्रारम्भ एवं अन्त में प्रतिपादन करना (क्रमशः) उपक्रम एवं उपसंहार हैं। जिसप्रकार छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में प्रकरण में प्रतिपादित करने योग्य अद्वितीयवस्तु 'एक ही अद्वैततत्त्व (ब्रह्म) के' प्रारम्भ में तथा 'यह सब कुछ वस्तुतः आत्मा का ही है' इसप्रकार अन्त में प्रतिपादन किया गया है।

प्रकरण में प्रतिपादित वस्तु का बीच-बीच में बार-बार प्रतिपादन करना ही अभ्यास है। जैसे–वहीं (छान्दोग्योपनिषद् में) अद्वितीयवस्तु के (वर्णन के) बीच में 'वह तू है' इसका नौ बार प्रतिपादन किया गया है। प्रकरण में प्रतिपादित अद्वितीयवस्तु को अन्यप्रमाणों से अगम्य वर्णित करना 'अपूर्वता' है। जैसाकि वहीं (छान्दोग्योपनिषद् में) अद्वितीयवस्तु (ब्रह्म) के सम्बन्ध में प्रमाणान्तरों को अगम्य बताया गया है।

'चन्द्रिका'–गुरु के उपदेश के उपरान्त भी जब तक साधक को ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि इनका प्रतिदिन अनुष्ठान करना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए ग्रन्थकार इसी प्रसङ्ग में इनका उल्लेख करते हैं–

(क) **श्रवण**–उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद एवं उपपत्ति इन छः प्रकार के लक्षणों से सभी वेदान्तवाक्यों का एक ही अद्वितीय परमशुद्धचैतन्यब्रह्म में तात्पर्य है, इसप्रकार समझना ही श्रवण कहलाता है।

यहाँ ग्रन्थकार ने 'श्रवण' की व्याख्या के प्रसङ्ग में 'छः' प्रकार के लिङ्गों का उल्लेख किया। अतः सर्वप्रथम उन छः लिङ्गों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

(१) उपक्रम-उपसंहार–किसी भी प्रकरण में जब प्रतिपादन करने योग्य विषय के आरम्भ एवं अन्त का उचित एवं प्रभावशाली ढंग से प्रतिपादन करना ही, क्रमशः उपक्रम एवं उपसंहार कहा जाता है। इसी बात को उदाहरण द्वारा समझाते हैं। जैसे–छान्दोग्योपनिषद् नामक प्रसिद्ध प्रकरण ग्रन्थ के सम्पूर्ण छठे अध्याय में वस्तुतः वेदान्त की अद्वितीयवस्तु परमब्रह्म का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। उसी का वर्णन करते हुए वहाँ उपनिषद्कार ने एक ही अद्वैततत्त्व ब्रह्म का 'एकमेवाद्वितीयम्' इसप्रकार उल्लेख करते हुए विषय का प्रारम्भ किया है। जिसे 'उपक्रम' संज्ञा दी जा सकती है। इसीप्रकार वहीं अन्त में 'यह सब कुछ आत्मा का ही तत्त्व है' (ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्) ऐसा कहकर प्रतिपाद्यविषय का भलीप्रकार उपसंहार भी किया गया है।

(२) अभ्यास–प्रतिपादन करने योग्य अद्वितीयवस्तु परमब्रह्म के सम्बन्धित प्रकरणग्रन्थ के बीच-बीच में, बार-बार विभिन्न तरीकों से

प्रतिपादन को ही अभ्यास कहते हैं। जैसे–वहीं छान्दोग्योपनिषद् में अद्वितीय वस्तु परमब्रह्म शुद्धचैतन्य के बारे में 'तत्त्वमसि' इत्यादि का वर्णन करते हुए बार-बार इसका वर्णन किया गया है। अतः यही अभ्यास है।

(३) अपूर्वता–प्रकरण में प्रतिपादन करने योग्य अद्वितीयवस्तु परमब्रह्म के बारे में यह प्रतिपादन करना कि अनुभवादि के अतिरिक्त अन्य सभी प्रमाण इसे सिद्ध करने में असमर्थ हैं, अर्थात् अन्य किसी प्रमाण का ब्रह्म के प्रतिपादन अथवा सिद्धि में सक्षम होना ही अपूर्वता कहलाता है। जैसाकि वहीं छान्दोग्योपनिषद् में–'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि श्रुतिवचनों के माध्यम से उपनिषद्कार ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उस अद्वितीयतत्त्व ब्रह्म को केवल उपनिषद्वचनों से ही जाना जा सकता है। उसकी सिद्धि में प्रत्यक्षादि सभी प्रमाण व्यर्थ हैं। यही प्रतिपादन अपूर्वता कहा जाएगा।

अवतरणिका–इसी प्रसङ्ग को आगे बढ़ाते हैं–

फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्।

यथा तत्र "आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेवं चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य" इत्यद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः। यथा तत्रैव "उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं" इत्यद्वितीयवस्तुप्रशंसनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपत्तिः। यथा तत्र "यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं" इत्यादावद्वितीयवस्तुसाधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते। मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्। विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्॥

पदच्छेद–फलम् तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्य आत्मज्ञानस्य तद् अनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणम् प्रयोजनम्। यथा-तत्र "आचार्यवान् पुरुषः वेद तस्य तावद् एव चिरम्, यावत् न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इति अद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनम् श्रूयते।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनम् **अर्थवादः**। यथा-तत्र एव "उत तम आदेशम् अप्राक्ष्यः येन अश्रुतम् श्रुतम् भवति, अमतम् मतम्, अविज्ञातम् विज्ञातम्" इति अद्वितीयवस्तु प्रशंसनम्।

प्रकरणप्रतिपाद्य-अर्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिः **उपपत्तिः**। यथा-तत्र "यथा सौम्य, एकेन मृत्पिण्डेन सर्वम् मृण्मयम् विज्ञातम् स्याद्, वाचा-आरम्भणम् विकारः नामधेयम् मृत्तिका इति एव सत्यम्" इत्यादौ अद्वितीयवस्तुसाधने विकारस्य वाचा-आरम्भण-मात्रत्वे **युक्तिः** श्रूयते।

मननम् तु श्रुतस्य अद्वितीयवस्तुनः वेदान्तः-अनुगुणयुक्तिभिः अनवरतम् अनुचिन्तनम्। विजातीय-देहादि-प्रत्ययरहित-अद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्यय-प्रवाहः निदिध्यासनम्।।

अनुवाद—प्रकरण में प्रतिपादित करने योग्य विषय आत्मज्ञान अथवा उसके अनुष्ठान का उस-उस विषय में सुनायी देता हुआ प्रयोजन ही फल है। जैसाकि—"वहाँ आचार्यवान् पुरुष ही जानता है, उसके लिए तभी तक विलम्ब समझना चाहिए जब तक वह इससे मुक्त नहीं हो जाता है, इसके बाद वह ब्रह्म ही हो जाता है।" इत्यादि (वाक्यों में) अद्वितीय वस्तु के ज्ञान एवं उसकी प्राप्ति का प्रयोजन बताया गया है।

प्रकरण में प्रतिपाद्य वस्तु की यत्र तत्र प्रशंसा करना ही अर्थवाद है। जैसे—"वहीं तूने (ब्रह्म) के उस उपदेश को पूछा है जिसके द्वारा न सुना गया सुना हुआ, अचिन्तित चिन्तन किया हुआ और अविज्ञात भलीप्रकार जाना हुआ हो जाता है", इसप्रकार अद्वितीयवस्तु ब्रह्म की प्रशंसा की गई है।

प्रकरण में प्रतिपादित करने योग्य वस्तु को सिद्ध करने के लिए यत्र तत्र वर्णन की गई युक्तियाँ ही उपपत्ति है। जैसे-वहीं 'हे सौम्य! जिसप्रकार एक ही मिट्टी के पिण्ड से बनी हुई सभी मिट्टी की वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। उसके विभिन्न विकार केवल शब्दप्रपञ्चमात्र हैं, मिट्टी ही वहाँ वस्तुतः सत्य है।' इत्यादि में अद्वितीयवस्तु की सिद्धि में (जगत् प्रपञ्चरूप) कार्य को वाणी का प्रपञ्चमात्र कहना रूप युक्ति सुनाई देती है।

केवल वेदान्त के अनुकूल युक्तियों द्वारा सुनी गई अद्वैतवस्तुरूप (ब्रह्म) का निरन्तर बार-बार चिन्तन ही मनन है। विजातीयदेह आदि के विचारों से रहित अद्वितीयवस्तु के बारे में अनुकूल विचारधारा के प्रवाह को निदिध्यासन कहा गया है।

'चन्द्रिका'–(4) **फल**–प्रकरण में प्रतिपादित करने योग्य आत्मज्ञान अथवा उसके अनुष्ठान का उस प्रसंग में श्रूयमाण प्रयोजन ही फल है। जैसे–वही (छान्दोग्योपनिषद् में) आचार्यवान् पुरुष ही जानता है, उसके लिए तब तक ही विलम्ब समझना चाहिए जब तक वह इस शरीर से मुक्त नहीं होता है, बाद में वह ब्रह्म ही हो जाता है; इसप्रकार उस अद्वितीय वस्तु के ज्ञान का प्रयोजनरूप फल अद्वितीयवस्तु की प्राप्ति कहा गया है।

(५) अर्थवाद–प्रकरण में प्रतिपादन करने योग्य अद्वितीयवस्तु परमब्रह्म की जहाँ-तहाँ अवसर प्राप्त होने पर की गई प्रशंसा को अर्थवाद कहा गया है। जिसप्रकार वहीं छान्दोग्योपनिषद् में ही–'सम्पूर्ण चराचरप्रपञ्च के अधिष्ठाता उस परमब्रह्म के स्वरूप के विषय में तूने पूछा है, जिसके बारे में सुनने से अज्ञानी ज्ञानवान्, चिन्तन न किया हुआ चिन्तनशील तथा अज्ञात वस्तु भी ज्ञात हो जाती है।' इसप्रकार अद्वितीयवस्तु परमब्रह्म की प्रशंसा की गई है। जो वस्तुतः अर्थवाद ही है।

(६) उपपत्ति–प्रकरण में प्रतिपादनयोग्य अद्वितीयवस्तु परमब्रह्म को प्रमाणित सिद्ध करने के लिए यत्र-तत्र जो तर्क एवं युक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं। उसे ही यहाँ उपपत्ति कहा गया है। जैसाकि वहीं छान्दोग्योपनिषद् में–इस सम्पूर्ण चराचरजगत् को ब्रह्म का विवर्त सिद्ध करने के लिए उपनिषद्कार ने प्रमाता को समझाते हुए युक्ति प्रस्तुत की है कि जिसप्रकार एक ही मिट्टी के पिण्ड द्वारा बनी हुई वस्तुएँ, घट, दीपक, शकोरा आदि सभी मूलतः मिट्टीरूप ही हैं। उनके नाम ही अलग-अलग हैं। तात्त्विकदृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं है। उनके नामों का परित्याग करने पर एकमात्र मिट्टी ही शेष रह जाता है और वही सत्य भी है।

ठीक उसीप्रकार यह सम्पूर्णदृश्यमान नामरूपात्मक चराचरजगत् एकमात्र ब्रह्म का ही विवर्त है। नदी, पर्वत, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि दिखायी देने वाला भेद नाममात्र का ही है। इसप्रकार ब्रह्ममात्र ही सत्य है जिसे–ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या आदि श्रुतिवचनों द्वारा कहा भी गया है। इसीलिए प्रलयकाल के अन्त में भी एकमात्र वही तत्त्व शेष रहता है, इत्यादि वचन अद्वितीयवस्तु ब्रह्म की सिद्धि हेतु तर्करूप में प्रस्तुत करना ही उपपत्ति है।

यहाँ तक ग्रन्थकार ने छः अंगों सहित 'श्रवण' का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया, तदनन्तर मनन का कथन करते हैं–

(ख) मनन– पूर्वप्रतिपादित छः प्रकार के लिङ्गों के तात्पर्य को भलीप्रकार समझने के पश्चात् वेदान्त में प्रतिपादित अनुकूलयुक्तियों के माध्यम से अद्वितीयतत्त्व ब्रह्म का निरन्तर चिन्तन करना ही 'मनन' कहलाता है।

(ग) निदिध्यासन–शरीर से लेकर बुद्धिपर्यन्त भिन्न-भिन्न सभी जड़ पदार्थों में भिन्नता की भावना का परित्याग करके, सभी को एकमात्र ब्रह्म मानकर, विश्वास करना ही निदिध्यासन कहा गया है।

विशेष–(1) उपर्युक्त दो गद्यखण्डों के अभिप्राय को संक्षेप में इसप्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं–

चित्र-५७

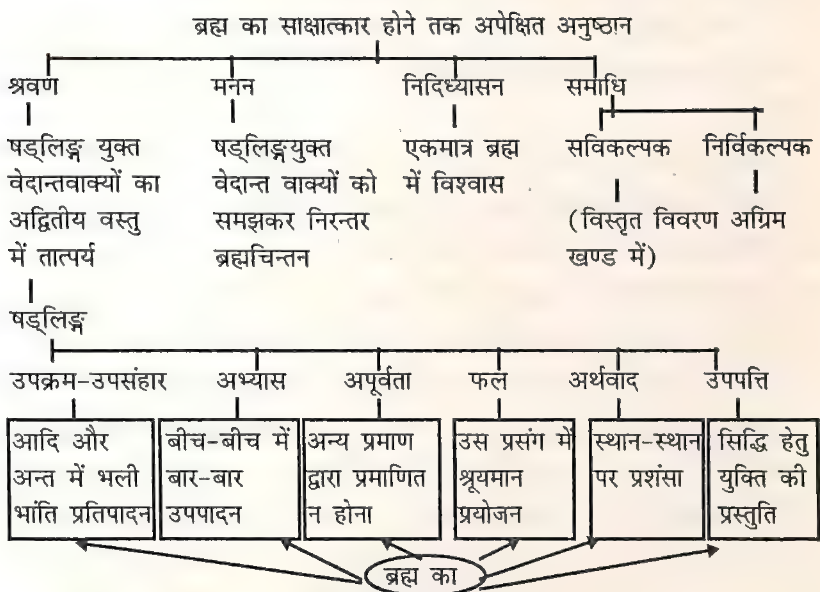

अवतरणिका–प्रसङ्ग-प्राप्त समाधि का साङ्गोपाङ्ग विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं–

समाधिर्द्विविधः सविकल्पको निर्विकल्पक श्चेति। तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम्। तदा मृन्मयगजादिभानेऽपि मृद्भानवद् द्वैतभानेऽप्यद्वैतं वस्तु भासते। तदुक्तम्–

"दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।

अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तमोम्" इति॥

निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकारा. कारितायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्। तदा तु जलाकारा-कारितलवणानवभासेन जलमात्रावभासवदद्वितीयवस्त्वाकाराकारितचित्त-वृत्त्यनवभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रमवभासते। ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभेदशङ्का न भवति। उभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि तत्सद्भावासद्भावमात्रेणा-नयोर्भेदोपपत्तेः॥३०॥

पदच्छेद–समाधिः द्विविधः सविकल्पकः निर्विकल्पकः च इति। तत्र सविकल्पकः नाम ज्ञातृ-ज्ञानादि-विकल्प-लय-अनपेक्षया-अद्वितीयवस्तुनि तद् आकार-आकारितायाः चित्तवृत्तेः अवस्थानम्। तदा मृण्मय-गजादिभाने अपि मृद्भानवत् द्वैतभाने अपि अद्वैतं वस्तु भासते। तद उक्तम्–

"दृशिस्वरूपम् गगन-उपमम् परम् सकृद् विभातम् तु अजम् एकम् अक्षरम्। अलेपकम् सर्वगतम् यद् अद्वयम् तद् एव च अहम् सततम् विमुक्तम् ओम्"

निर्विकल्पकः तु ज्ञातृ-ज्ञानादि-विकल्प-लय-अपेक्षया-अद्वितीय वस्तुनि तद् आकार-आकारितायाः चित्तवृत्तेः अतितराम् एकी भावेन अवस्थानम्। तदा तु जल-आकार-आकारित-लवण-अनवभासेन जलमात्र-अवभासवद्-अद्वितीय वस्तु-आकार-आकारित-चित्तवृत्ति-अनवभासेन अद्वितीयवस्तुमात्रम् अवभासते। ततः च अस्य सुषुप्तेः च अभेदशङ्का न भवति। उभयत्र वृत्ति-अभाने समाने अपि तत् सद्भाव-असद्भावमात्रेण अनयोः भेद-उपपत्तेः॥30॥

अनुवाद–समाधि दो प्रकार की हैं–सविकल्पक एवं निर्विकल्पक। उनमें ज्ञाता एवं ज्ञेय के भेद का लोप न होकर केवल अद्वितीयवस्तु के आकार से आकारित चित्तवृत्ति की स्थिति ही सविकल्पक समाधि है। उस अवस्था में मिट्टी के बने हाथी आदि की प्रतीति में मिट्टी के भान के समान द्वैत की प्रतीति होते हुए भी, अद्वैतरूप वस्तु की ही प्रतीति होती है। जैसा कि कहा भी गया है–

"इसका साक्षात्स्वरूप आकाश के समान है, जो हमेशा परमसूक्ष्म परात्पर सदैव एक जैसा प्रतीत होने वाला, अजन्मा, अविनाशी, अद्वितीय, निर्लिप्त, सर्वव्यापक अद्वितीय एवं विनिर्मुक्त ओ३म् है, वही मैं हूँ।"

किन्तु ज्ञाता एवं ज्ञेय के भेद का लोप होकर मात्र अद्वैतवस्तु ब्रह्म में तदाकार से आकारित चित्तवृत्ति का अत्यधिक एकीभाव से स्थित होना

निर्विकल्पकसमाधि है। तब तो जल के आकार से आकारित नमक के प्रतीत न होने से जलमात्र की प्रतीति के समान, अद्वितीयवस्तु ब्रह्म के आकार से आकारित के प्रतीत न होने से, अद्वितीयवस्तु ब्रह्ममात्र ही प्रकाशित होता है।

तब इसकी सुषुप्ति में अभेद की आशङ्का नहीं होती है, (क्योंकि) दोनों स्थानों पर वृत्ति की अप्रतीति समान होने पर भी उनके सद्भाव एवं असद्भावमात्र से इन दोनों में भेद की सिद्धि होती है।

'चन्द्रिका'–सविकल्पक, निर्विकल्पक भेद से समाधि दो प्रकार की होती है। इनमें प्रथम, **सविकल्पक-समाधि** की स्थिति में साधक को ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों का भेदज्ञान होते हुए भी 'अहं ब्रह्मास्मि' इसप्रकार की अखण्ड आकार से आकारित स्थिति बनी रहती है। इसे समझाने के लिए ग्रन्थकार मिट्टी के हाथी का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–जिसप्रकार मिट्टी से बने हुए हाथी को देखने पर मिट्टी और हाथी दोनों का अलग-अलग भान होते हुए भी, उसे 'यह हाथी है', ऐसा ही कहा जाता है। जबकि वास्तविककारण उसमें मिट्टी ही होता है।

उसीप्रकार सविकल्पक, समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की भेदप्रतीति वस्तुतः वाणी का प्रपञ्चमात्र होता है। जबकि उसमें स्थित अद्वैत का प्रतीत होना ही वास्तविकता होती है। इसी बात को स्पष्ट एवं प्रमाणित करने के लिए ग्रन्थकार 'दृशिस्वरूपम्' इत्यादि कारिका प्रस्तुत करते हैं, जिसका अभिप्राय है–

जो परमब्रह्म साक्षिस्वरूप है। आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त है। जो पूर्णतया निर्लिप्त है। जो हमेशा एक ही रूप में प्रकाशमान रहता है अर्थात् सूर्य अथवा चन्द्रमा आदि के समान, जिसका तेज कभी भी कम अथवा अधिक नहीं होता है। जिसका कभी जन्म नहीं होता है। जिसका कभी विनाश नहीं होता है। साथ ही जो अविद्या आदि दोषों से रहित है। जो सर्वत्र विद्यमान रहता है तथा जो सजातीय अथवा विजातीय इसप्रकार के भेद से रहित है, एक है। जो न कारण है, न कार्य है अर्थात् इसप्रकार की दोनों उपाधियों से सर्वथा मुक्त है। परमानन्दस्वरूप वह ओ३म् इस नाम से उच्चारण किया गया परमब्रह्म ही है और वह और कोई नहीं, अपितु मैं (साधक) ही हूँ।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि उस परमब्रह्म की अनेक उपाधियों का उल्लेख शास्त्रों में किया गया है, किन्तु वे सभी वाणी के

प्रपञ्चमात्र हैं अर्थात् नाममात्र के लिए ही हैं। वास्तविकस्थिति में ये सब एकमात्र परमब्रह्म के ही अलग-अलग नाम हैं, जो उसकी महिमा का कथन करने के लिए कहे गए हैं। इसीप्रकार सविकल्पकसमाधि में जो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की भिन्नता की प्रतीति होती है, वह तो नाममात्र के लिए है। वास्तव में ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय ये तीनों और कुछ नहीं, अपितु एकमात्र ब्रह्म ही हैं। इसलिए इस समाधि में भिन्नता में भी एकता विद्यमान रहती है।

जबकि **निर्विकल्पक-समाधि** में ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय का भेद ठीक उसीप्रकार समाप्त हो जाता है, जिसप्रकार जल में नमक डालने पर वह उसमें पूर्णरूप से घुल जाता है, उसकी अलग से प्रतीति नहीं होती है, केवल जलमात्र ही प्रतीत होता है। अतः निर्विकल्पकसमाधि में उस अद्वैतवस्तु परमब्रह्म के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का अलग से आभास होना पूरी तरह समाप्त हो जाता है। उस स्थिति में केवल अद्वितीयवस्तु परमब्रह्म मात्र शेष बचता है, जिसका साधक को निरन्तर भान होता रहता है।

तत्पश्चात् ग्रन्थकार निर्विकल्पकसमाधि एवं सुषुप्ति की अवस्था की भिन्नता को स्पष्ट करते हैं। यद्यपि निर्विकल्पकसमाधि एवं सुषुप्ति दोनों में ही वृत्ति का आभास नहीं होता है तथापि समाधि में वृत्ति की स्थिति विद्यमान रहती है, किन्तु जल में 'नमक के समान' उसका अद्वैततत्त्व परमब्रह्म के साथ तादात्म्य हो जाने के कारण अलग से आभासित नहीं होता है। इसके विपरीत सुषुप्ति की अवस्था में वृत्ति का पूर्णतया अभाव हो जाता है, क्योंकि वहाँ अन्तःकरण अपने कारणभूत अज्ञान में विलीन हो जाता है। इसलिए अन्तःकरण की वृत्तियों का पूर्णरूप से अभाव होना स्वाभाविक है। अतः निर्विकल्पकसमाधि एवं सुषुप्ति अवस्था दोनों को अभिन्न प्रतिपादित करना भ्रान्ति ही है।

विशेष–(1) समाधि के भेदद्वय-सविकल्पक एवं निर्विकल्पक को सोदाहरण समझाने के बाद सुषुप्ति अवस्था से निर्विकल्पकसमाधि का भेद बताया गया है।

(2) निर्विकल्पकसमाधि के विषय में पञ्चदशीकार का कथन इसप्रकार है–

"ध्यातृ ध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम्।
निर्वात दीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते।।"

(3) विद्वन्मनोरञ्जिनीकार स्वामी रामतीर्थ ने निर्विकल्पकसमाधि को असम्प्रज्ञात समाधि बताते हुए, इसे आलम्बनरहित प्रतिपादित किया है।

(4) इससे पूर्व के गद्यखण्ड में प्रतिपादित श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि का समाधि के साथ आपेक्षिकमहत्त्व आचार्य शङ्कर भी स्वीकार करते हैं–

श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि।
निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम्।।

(5)प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–[1]

चित्र-५८

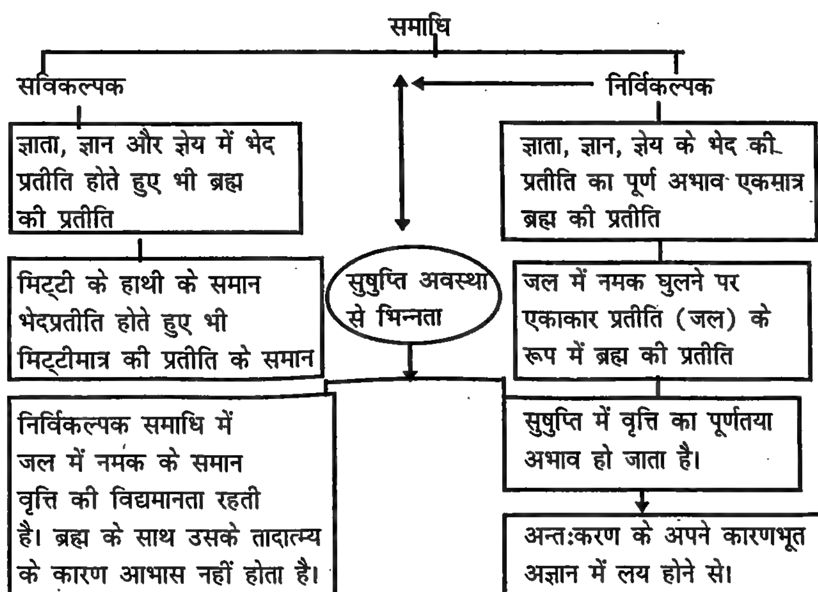

अवतरणिका–समाधि के दो भेदों का उल्लेख करने के बाद अङ्ग एवं उपाङ्गों का वर्णन करते हैं–

अस्याङ्गानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः। तत्र "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः"। "शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः"। करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीन्यासनानि। रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः

1. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य भूमिका पृष्ठ..............।

प्राणयामाः। इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः। अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा। तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम्। समाधिस्तूक्तः सविकल्पक एव॥३१॥

पदच्छेद–अस्य-अङ्गानि यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार- धारणा-ध्यान-समाधयः। तत्र "अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाः **यमाः**"। "शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधानानि **नियमाः**"। कर-चरणादि-संस्थान-विशेष-लक्षणानि पद्म-स्वस्तिकादीनि **आसनानि**। रेचक-पूरक-कुम्भक-लक्षणाः प्राण-निग्रहोपायाः **प्राणायामाः**।

इन्द्रियाणाम् स्व-स्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणम् **प्रत्याहारः**। अद्वितीय-वस्तुनि-अन्तः-इन्द्रियधारणम् **धारणा**। तत्र-अद्वितीय-वस्तुनि विच्छिद्य-विच्छिद्य-अन्तःइन्द्रियवृत्तिप्रवाहः **ध्यानम्। समाधिः** तु उक्तः सविकल्पकः एव॥31॥

अनुवाद–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इसके (आठ) अङ्ग हैं। उनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (ही) यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर की आराधना, नियम हैं। हाथ, पैर आदि की स्थितिविशेष के बोधक पद्म एवं स्वस्तिक आदि आसन हैं। रेचक, पूरक, कुम्भक लक्षणों से युक्त प्राण को नियन्त्रित करने के उपाय ही प्राणायाम हैं।

अपने-अपने विषयों से इन्द्रियों को निवृत्त कर लेना 'प्रत्याहार' है। अद्वितीयवस्तु (ब्रह्म) में अन्तरिन्द्रियों (मन, बुद्धि एवं चित्त) को नियोजित करना 'धारणा' है। अन्तरिन्द्रियों (मन एवं बुद्धि आदि) को रुक-रुककर उस अद्वितीयवस्तु (ब्रह्म) में प्रवृत्त करना (ही) ध्यान है। समाधि तो सविकल्पक ही है, जो ऊपर कही जा चुकी है।

'चन्द्रिका'–तत्पश्चात् ग्रन्थकार निर्विकल्पकसमाधि के सहयोगी आठ अङ्गों का उल्लेख करते हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये ही निर्विकल्पकसमाधि के आठ अङ्ग हैं। पुनः इन्हें क्रमशः स्पष्ट करते हैं–उपर्युक्त अङ्गों में से 'यम' नामक अङ्ग के पुनः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह ये पाँच उपाङ्ग माने गए हैं।

इनमें किसी भी जीव को मन, वचन अथवा कर्म से कष्ट न पहुँचाना ही 'अहिंसा' है। सदैव सत्यभाषण करना, झूठ न बोलना ही 'सत्य' है। किसी की वस्तु न चुराना ही 'अस्तेय' कहा गया है। मन अथवा शरीर से स्त्री की संगति न करना ही 'ब्रह्मचर्य' माना गया है। सांसारिक

भौतिकपदार्थों का संग्रह न करना ही 'अपरिग्रह' माना गया है। स्पष्ट है कि, इन सभी के माध्यम से व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रित अर्थात् नियमित करता है। इसीलिए ये यम के सहायक उपाङ्ग कहे गए हैं।

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर की आराधना करना ही नियमों के अन्तर्गत माने गए हैं। यहाँ शौच से अभिप्राय शरीर एवं मन की शुद्धि से ग्रहण करना चाहिए। जितना प्राप्त हो गया, उसी से जीवनयापन करना. अधिक प्राप्त करने की इच्छा न करना ही संतोष है। शरीर को विपरीत परिस्थितियों के भी अनुकूल बनाना, उनमें कष्ट का अनुभव न करना ही तप है। इसीप्रकार वेदादि ब्रह्मविषयक ग्रन्थों का निरन्तर नियमितरूप से अध्ययन करना ही स्वाध्याय है। स्वाध्याय के पश्चात् परमब्रह्म का श्रद्धापूर्वक चिन्तन, उसकी महिमा का कथन आदि प्राणिधान अर्थात् ईश्वर की आराधना माना गया है।

शरीर को सात्त्विक, हल्का एवं तपयोग्य बनाए रखने के लिए, हाथ पैर आदि की विशेष आकृति को प्रदर्शित करने वाले स्वस्तिक एवं पद्मासन आदि आसन माने गए हैं। इनके अभ्यास से साधक का अपने शरीर एवं मन पर नियन्त्रण होता है। अतः समाधि के लिए इनकी उपयोगिता मानी गई है। प्राणवायु को धीरे-धीरे नासिकारन्ध्र से बाहर की ओर निकालना 'रेचक' कहलाता है। इसीप्रकार शनैः शनैः उसे शरीर में खींचना 'पूरक' तथा धैर्यपूर्वक उसे शरीर में रोकना 'कुम्भक' माना गया है। इन तीनों क्रियाओं को पद्मासन लगाकर, क्रमशः धीरे-धीरे सम्पादित करना ही 'प्राणायाम' है। ऐसा करने से प्राणवायु पर नियन्त्रण के साथ-साथ शरीर की शुद्धि तथा सत्त्वगुण में वृद्धि होती है।

सामान्यतः इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर आकर्षित होती हैं, क्योंकि उनके भोग में प्रवृत्त रहना उनका स्वभाव है। इसमें मन भी इन्द्रियों का ही साथ देता है, किन्तु अपनी अन्तःइन्द्रियों (मन, बुद्धि आदि) तथा बाह्य इन्द्रियों को उनके अपने-अपने विषयों की ओर जाने से रोकना, नियन्त्रित करना ही 'प्रत्याहार' कहा गया है। इसके अतिरिक्त विषयों से नियन्त्रित किए गए अन्तःकरण मन, बुद्धि आदि को अद्वितीयवस्तु ब्रह्म में लगाना ही **धारणा** है। इसीप्रकार अद्वितीयब्रह्म में नियोजित किया जाता हुआ अन्तःकरण, जब इधर-उधर सांसारिक वस्तुओं की ओर जाता है। इसप्रकार इधर-उधर भटकते हुए अन्तःकरण मन, बुद्धि आदि को अद्वितीय वस्तु परमब्रह्म में थोड़ा रुक-रुककर बार-बार प्रवृत्त करना ही **ध्यान** है। इसके

अतिरिक्त यहाँ बताई गई समाधि से अभिप्राय 'सविकल्पक' समाधि से है। जिसका पूर्व में विस्तारपूर्वक कथन किया जा चुका है।

विशेष–(1) अङ्गानि-अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि' इत्यादि व्युत्पत्ति के अनुसार निर्विकल्पकसमाधि में सहायक होने के कारण इन्हें अङ्ग कहा गया है।

(2) पातञ्जलसूत्र में भी इनकी संख्या आठ ही बतायी गई है।

(3) शङ्कराचार्य ने यम की इसप्रकार व्याख्या की है–

"सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः।।

(4) महर्षि पतञ्जलि ने पातञ्जलयोगदर्शन में समाधि के आठ अङ्गों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है।

(5) धारणा के विषय में आचार्य नृसिंहसरस्वती का कथन इसप्रकार है–

"सर्वेषां बुद्धिसाक्षितया विद्यमानेऽद्वितीयवस्तुनिचित्तनिक्षेपणं धारणा"

(6) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को संक्षेप में इसप्रकार भी समझा जा सकता है–

चित्र-५९

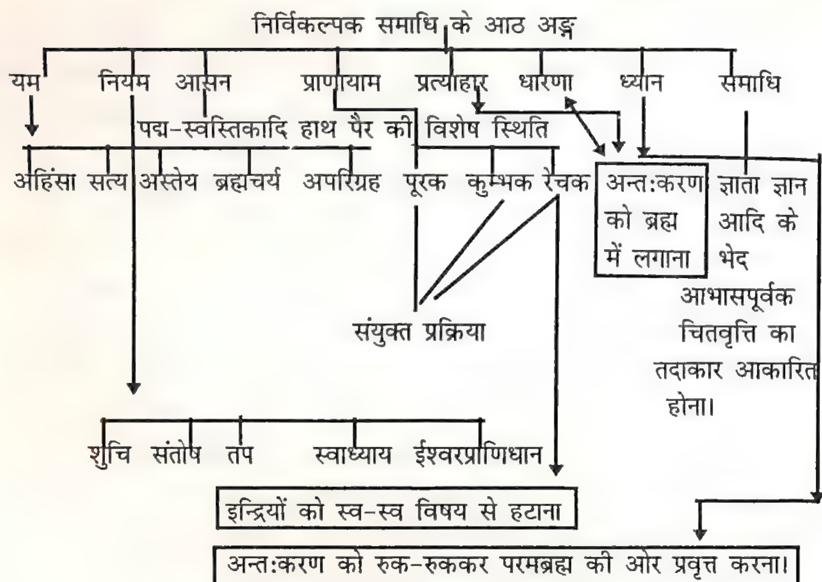

अवतरणिका– तत्पश्चात् निर्विकल्पकसमाधि के मार्ग में आने वाले विघ्नचतुष्टय को प्रस्तुत करते हैं–

एवमस्याङ्गिनो निर्विकल्पकस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति। लयस्तावदखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेर्निद्रा। अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः। लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्ते रागादिवासनया स्तब्धीभावादखण्ड-वस्त्वनवलम्बनं कषायः। अखण्डवस्त्वनवलम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सविकल्पकानन्दास्वादनं रसास्वादः। समाध्यारम्भसमये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा॥३२॥

पदच्छेद–एवम् अस्य अङ्गिनः निर्विकल्पकस्य लय-विक्षेप-कषाय-रसास्वाद-लक्षणाः चत्वारः विघ्नाः सम्भवन्ति। लयः तावद् अखण्डवस्तु-अनवलम्बनेन चित्तवृत्तेः निद्रा। अखण्डवस्तु-अनवलम्बनेन चित्तवृत्तेः अन्य-अवलम्बनम् विक्षेपः। लयविक्षेप-अभावे अपि चित्तवृत्तेः राग-आदि वासनया स्तब्धी-भावाद् अखण्डवस्तु-अनवलम्बनम् कषायः। अखण्डवस्तु-अनवलम्बनेन अपि चित्तवृत्तेः सविकल्पक-आनन्द-आस्वादनम् रसास्वादः। समाधि-आरम्भसमये सविकल्पक-आनन्द-आस्वादनम् वा।।32।।

अनुवाद–इसप्रकार इस मुख्य निर्विकल्पक (समाधि) के लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद (नामक) चार विघ्न होते हैं। अखण्डवस्तु (ब्रह्म) का आश्रय प्राप्त किए बिना, चित्तवृत्ति का निद्रा के वशीभूत होना तो **'लय'** (नामक विघ्न) है। अखण्डवस्तु को प्राप्त करने से पहले चित्तवृत्ति का आनन्द (बाह्य सांसारिक) विषयों में अटक जाना **'विक्षेप'** कहलाता है। लय और विक्षेप के अभाव में भी चित्तवृत्ति का राग आदि संस्कारों से जड़तावश अखण्डवस्तु (ब्रह्म) तक न पहुँच पाना ही **कषाय** है। अखण्डवस्तु (ब्रह्म) का आश्रय प्राप्त किये बिना ही चित्तवृत्ति का सविकल्पकसमाधि के आनन्द का आस्वादन ही 'रसास्वाद' (नामक विघ्न) है अथवा समाधि के आरम्भिकसमय में 'सविकल्पकसमाधि के आनन्द से ही संतुष्ट होना रसास्वाद' है।

'चन्द्रिका'– प्रमाता अधिकारी ज़ब गुरु के उपदेश एवं श्रवण आदि उपायों के अपने अभ्यास से सविकल्पक समाधि तक पहुँचकर, अपने चरमलक्ष्य निर्विकल्पकसमाधि की ओर बढ़ता है तो इस मार्ग में उसे कुछ व्यवधानों का सामना करना पड़ता है, जिनकी संख्या चार मानी गई है, इनका विवरण क्रमशः इसप्रकार है–

(१) लय–समाधि की अवस्था में साधक अपनी बाह्य एवं आन्तरिक इन्द्रियों को सांसारिकविषयों से हटाकर, अन्तरात्मा परमशुद्धचैतन्य की ओर उन्मुख होने का प्रयास करता है, किन्तु प्रत्यगात्मा के स्वरूप की प्रतीति के अभाव में तन्द्रावश निद्रा के वशीभूत हो जाता है। इसलिए अद्वितीयवस्तु ब्रह्मप्राप्तिरूप निर्विकल्पकसमाधि के मार्ग में इसे 'लय' नामक प्रथम विघ्न बताया गया है। इस स्थिति में चित्तवृत्ति वस्तुतः शब्दादि बाह्यविषयों को भी आलस्य के कारण ग्रहण नहीं कर पाती है। साथ ही इसीकारण प्रत्यगात्मा का स्वरूप भी अवभासित न होने से चित्तवृत्ति लगभग निवृत्त ही हो जाती है। वस्तुतः लय में स्थित साधक की उपमा हम ऐसे यात्री से दे सकते हैं जो चलते-चलते थकान के कारण मार्ग में ही निद्रा के आगोश में समाकर अपने लक्ष्य को विस्मृत कर बैठा हो।

(२) विक्षेप–अद्वितीयवस्तु परमब्रह्म को प्राप्त करने के लिए जब चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी होती है, किन्तु वहाँ उसके दर्शन न करके पुनः बाह्य वस्तुओं को ग्रहण करने में प्रवृत्त हो जाती है। इसप्रकार की स्थिति को निर्विकल्पकसमाधि के मार्ग में 'विक्षेप' नामक विघ्न के रूप में कहा गया है। विक्षेप में स्थित प्रमाता की उपमा हम ऐसे पक्षी से दे सकते हैं, जो फलदारवृक्ष पर बैठा हुआ है, किन्तु अच्छे फल खाने की अभिलाषा से अन्य वृक्षों की ओर उड़ता है, किन्तु वहाँ अच्छे फल न पाकर पुनः अपने पूर्ववृक्ष पर ही आ बैठता है।

(३) कषाय–लय और विक्षेप नामक दोनों प्रकार के विघ्नों के न होते हुए भी जब साधक की चित्तवृत्ति राग आदि वासनाओं के वशीभूत होने के कारण स्तब्ध हो जाती है, मानो ठहर सी जाती है। जिसके कारण उसका अद्वितीयवस्तु परमब्रह्म के दर्शन का प्रयास निष्फल हो जाता है। इस विघ्न को 'कषाय' के नाम से जाना गया है। इसे समझाने के लिए प्रसिद्ध टीकाकार नृसिंहसरस्वती ने इसप्रकार उदाहरण प्रस्तुत किया है–

जिसप्रकार कोई व्यक्ति राजा के दर्शन हेतु राजमहल की ओर प्रस्थान करे, किन्तु मार्ग में द्वारपाल द्वारा रोक दिया जाए और द्वार पर ही खड़ा रह जाए। ठीक इसीप्रकार शब्दादि बाह्यविषयों का परित्याग करके चित्तवृत्ति को साधक अद्वितीयवस्तु की ओर प्रवृत्त करता है, किन्तु अतीत की अनुभूतियों की परम्परा के कारण उसकी चित्तवृत्ति रागादि की वासना से जड़ सी हो जाती है। यही कषाय है।

(४) रसास्वाद–रसास्वाद नामक विघ्न के ग्रन्थकार ने दो लक्षण किये हैं। प्रथम के अनुसार–अद्वितीयवस्तु ब्रह्म की प्राप्ति न होने पर सम्पूर्ण बाह्यप्रपञ्च की निवृत्ति होने से साधक को ब्रह्मानन्द के भ्रमवश जो सविकल्पक आनन्द की अनुभूति होती है, उसे रसास्वाद कहते हैं। द्वितीय लक्षण के अनुसार–सविकल्पकसमाधि में स्थित साधक ज्यों ही निर्विकल्पक समाधि की ओर अग्रसर होता है। उसी समय अनुभूत आनन्द से अनिच्छावश ही संतुष्ट होकर ठहर जाता है। इसीको रसास्वाद नामक विघ्न कहा जाता है।

विशेष–(1) पञ्चदशीकार ने रसास्वाद विघ्न की व्याख्या इसप्रकार की है–

'मग्नस्याब्धौ यथाक्षाणि विह्वलानि तथास्य धीः।
अखण्डैकरसं श्रुत्वा निष्प्रचारा बिभेत्यतः।।

(2) प्रस्तुत गद्यखण्ड के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

चित्र–६०

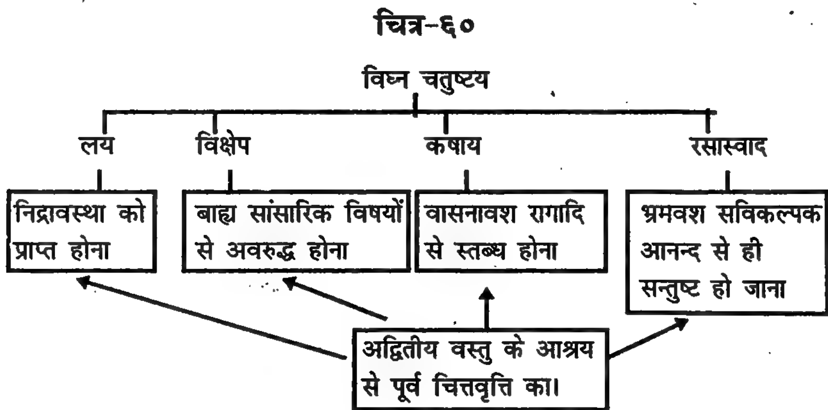

अवतरणिका–तत्पश्चात् निर्विकल्पकसमाधि की स्थिति का कथन करते हुए, उससे पूर्व चित्तवृत्ति में विघ्नों का प्रादुर्भाव होने पर उनके निवारण-विषयक उपायों की कारिका प्रस्तुत करते हैं–

अनेन विघ्नचतुष्टयेन विरहितं चित्तं निर्वातदीपवदचलं सदखण्ड-चैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा तदा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते। तदुक्तम्–

"लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत्।।

नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्" इति,

"यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता" इति च॥३३॥

पदच्छेद–अनेन विघ्नचतुष्टयेन विरहितम् चित्तम् निर्वातदीपवत् अचलम् सद् अखण्डचैतन्यमात्रम् अवतिष्ठते यदा, तदा निर्विकल्पकः समाधिः इति उच्यते। तद उक्तम्–

"लये सम्बोधयेत् चित्तम् विक्षिप्तम् शमयेत् पुनः।

सकषायम् विजानीयात् शमप्राप्तम् न चालयेत्॥

न आस्वादयेद् रसम् तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्" इति,

"यथा दीपः निवातस्थः न इङ्गते सा उपमा स्मृता" इति च॥33॥

अनुवाद–इन चार प्रकार के विघ्नों से पूर्णतयारहित चित्त, जब वायुरहित प्रदेश में स्थित दीपक के समान अचल होकर अखण्डचैतन्यमात्र में स्थित रहता है। तब निर्विकल्पकसमाधि है, ऐसा कहा जाता है। इसलिए कहा गया है–

"लय में चित्त को सावधान करे, तत्पश्चात् (विक्षेप में) विक्षिप्त हुए (चित्त) को शान्त करे, कषाययुक्त चित्त को विशेषरूप से समझाए तथा स्थिरता (शम) को प्राप्त हुए चित्त को छेड़ना नहीं चाहिए।

इसके अतिरिक्त 'रसास्वाद' (की स्थिति) में रस का आस्वादन न करे अपितु प्रज्ञा द्वारा (ठीक उसीप्रकार) स्वयं को पूर्णरूप से आसक्तिरहित करे। जिसप्रकार वायुरहित प्रदेश में स्थित दीपक चलायमान नहीं होता है। वह साधक इसीप्रकार की उपमा वाला कहा गया है।"

'चन्द्रिका'–प्रस्तुत गद्यखण्ड से पूर्व बताए गए लय, विक्षेप, कषाय एवं रसास्वाद नामक चार प्रकार के विघ्नों से पूर्णतयारहित होकर जब साधक, पूर्णतया वायुरहित प्रदेश में स्थित दीपक की पूर्णरूप से स्थिर लौ के समान, निश्चल एवं अखण्ड चैतन्यमात्ररूप में स्थित होता है, उसकी यही अवस्था निर्विकल्पकसमाधि कहलाती है।

इस अवस्था को प्राप्त करने का प्रयास करती हुई चित्तवृत्ति में यदि विघ्नों का प्रादुर्भाव हो जाता है, तो उसके निवारण के उपाय हेतु ग्रन्थकार आचार्य गौडपाद की कारिका को प्रस्तुत करते हैं–

सविकल्पकसमाधि की अवस्था में प्रत्यगात्मारूप ब्रह्म के ज्ञान की प्रतीति न होने पर यदि आलस्य के कारण निद्रा की प्राप्तिरूप 'लय' नामक

विघ्न आ जाए तो उसे दूर करने के लिए साधक को बार-बार चित्त को उत्साहित करके जागृत करना चाहिए, क्योंकि निद्रामग्न होने पर वह ब्रह्मप्राप्तिरूप अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ रहेगा।

पुनः अद्वितीय वस्तु ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त हुई चित्तवृत्ति यदि सांसारिकविषयों को ग्रहण करने में प्रवृत्त हो जाए, तो उसे सांसारिक विषयों के प्रति वैराग्यभाव उत्पन्न करके शान्त करना चाहिए तथा धैर्य का अवलम्बन करके पुनः उसी अद्वितीयवस्तु परमब्रह्म की ओर प्रेरित करना चाहिए। ऐसा करने पर ही वह निर्विकल्पकसमाधि को प्राप्त करने में सक्षम होगा।

इसप्रकार ब्रह्मेतर विषयों में लगा हुआ चित्त निरन्तर अभ्यासपूर्वक 'लय' और 'विक्षेप' नामक विघ्नों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् कभी-कभी अखण्डवस्तु के एकाकार की प्राप्ति न होने से स्तब्ध होकर जड़वत् हो जाता है अथवा रागादि वासनावश बाह्यविषयों की ओर जाने लगता है, तो कषायरूप इस विघ्न के उपस्थित होने पर साधक को सावधान हो जाना चाहिए तथा यह सोचकर कि, 'इसके द्वारा अखण्डवस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती है, अतः यह त्याज्य है', उसका परित्याग कर देना चाहिए।

इसप्रकार विचार करने से निरन्तर अभ्यास द्वारा जब चित्त 'शम' को प्राप्त हो जाए तो उसे वहीं स्थिर कर देना चाहिए। उसके बाद उसे वहाँ से विचलित करना लेशमात्र भी उचित नहीं है। अतः स्वयं को प्रज्ञा द्वारा पूर्णतया आसक्तिरहित करके, साधक को ब्रह्मानन्द का आस्वादन करना चाहिए। वस्तुतः साधक को सविकल्पकरस के आनन्दमात्र से स्वयं को कृतार्थ नहीं समझना चाहिए, अपितु बुद्धिबल से सविकल्पक आनन्द से अनासक्त रहने का निरन्तर प्रयास करना चाहिए।

इसप्रकार के योगी के चित्त की उपमा ऐसे दीपक की पूर्णतया स्थिर लौ के साथ दी गई है, जो पूरीतरह वायुरहित प्रदेश में रखा हुआ है। अर्थात् जिसप्रकार पूर्णतया वायुरहितप्रदेश में रखे हुए दीपक की लौ लेशमात्र भी परिचालित नहीं होती पूर्णतया निश्चल रहती है। ठीक उसीप्रकार सभीप्रकार के विघ्नों को पार करके निर्विकल्पकसमाधि में स्थित साधक का चित्त भी पूर्णतया निश्चल होकर अखण्डपरमानन्द का अनुभव करते हुए एकाकार की अनुभूति करता है। इस विषय में आचार्य गौडपाद कहते हैं-

"यदा न लीयते चित्तं न च विशिष्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभास निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा।।"

विशेष–(1) निर्विकल्पकसमाधि में स्थित साधक के चित्त की उपमा निर्वात-दीप के साथ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है।

(2) निर्विकल्पकसमाधि के मार्ग में आने वाले विघ्नचतुष्टय के निराकरण का उपाय बताया गया है।

(3) सविकल्पकसमाधि में प्राप्त आनन्द को भ्रमवश परमानन्द समझकर वहीं पर नहीं अटकना चाहिए, अपितु ऐसी स्थिति में अपनी विवेकशील प्रज्ञा का सहारा लेकर, साधक को अनासक्तभाव से आगे बढ़ना चाहिए।

(4) प्रस्तुत गद्यखण्ड के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है।

चित्र-६१.

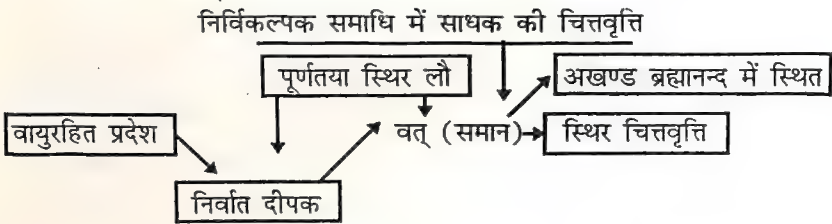

अवतरणिका–तत्पश्चात् ग्रन्थकार वेदान्त की शिक्षा के परिणामस्वरूप गुरु के आशीर्वाद से उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त, जीवन्मुक्त के लक्षण का उल्लेख करते हैं–

अथ जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते। जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्ड-ब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञान-तत्कार्यसञ्चितकर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे"।।

इत्यादिश्रुतेः।।३४।।

पदच्छेद–अथ जीवन्मुक्तलक्षणम् उच्यते। जीवन्मुक्तः नाम स्व-स्वरूप-अखण्ड- ब्रह्मज्ञानेन तद् अज्ञान-बाधन द्वारा स्व-स्वरूप-अखण्ड

ब्रह्मणि साक्षात्कृते अज्ञान-तत्- कार्य-सञ्चितकर्म-संशय-विपर्यय-आदीनाम् अपि बाधितत्वाद् अखिल-बन्धरहितः ब्रह्मनिष्ठः।

"भिद्यते हृदय-ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे"॥

इत्यादिश्रुतेः॥34॥

अनुवाद—इसके बाद जीवन्मुक्त का लक्षण कहा जा रहा है। जीवनमुक्त वस्तुतः है, जो अपने ही स्वरूप अखण्डब्रह्म के ज्ञान द्वारा, उसमें स्थित अज्ञान का नाश करके, अपने स्वरूप अखण्डब्रह्म के साक्षात्कार से, मूल अज्ञान एवं उसके द्वारा उत्पन्न कार्य, सञ्चितकर्म, संशय, विपर्यय आदि को समाप्त करके, सभीप्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर एकमात्र (ब्रह्म) में स्थित रहता है।

'उस परमब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर हृदय की गाँठ खुल जाती है, सभीप्रकार के संशय विच्छिन्न हो जाते हैं तथा इसके सभी कर्मबन्धन विनष्ट हो जाते हैं।' इत्यादि श्रुति का वचन (भी इसमें प्रमाण है)।

'चन्द्रिका'—सविकल्पक एवं निर्विकल्पकसमाधि का विस्तारपूर्वक विवेचन करने के पश्चात् ग्रन्थकार, जिसे ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया है, ऐसे व्यक्ति का लक्षण कहते हैं, जिसे यहाँ जीवनमुक्त के नाम से कहा गया है। जीवन्मुक्त साधक गुरु के उपदेश, श्रुतिवचन एवं स्वयं द्वारा किए गए अभ्यास द्वारा, उस अद्वितीय परमब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति में वह पूर्णरूप से आत्मा एवं ब्रह्म की एकता को भी समझ लेता है। इसप्रकार के ज्ञान से उसका आत्मा में स्थित अज्ञान पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है, जिसके कारण उसे अद्वितीय परमब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। ऐसी अवस्था में सृष्टि का कारणस्वरूप मूल अज्ञान तथा उसके द्वारा उत्पन्न सभी कार्यरूप संचितकर्म, संशय एवं विपर्यय आदि सभी विनष्ट हो जाते हैं।

इसप्रकार सभी कर्मबन्धनों से रहित उसकी ब्रह्ममात्र में निष्ठा रह जाती है। ऐसा ब्रह्मनिष्ठ ही वस्तुतः वेदान्त में 'जीवनमुक्त' कहा गया है। अपनी बात की पुष्टि हेतु ग्रन्थकार मुण्डकोपनिषद् के वचनों को उद्धृत करते हैं। जिनका अभिप्राय है—

उस अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार होने के पश्चात् साधक के हृदय की ग्रन्थि का विनाश हो जाता है अर्थात् उसकी

बुद्धि में स्थित अविद्या के कारण उत्पन्न वासनात्मक-कामनाएँ पूर्णतया विनष्ट हो जाती हैं। परिणामस्वरूप उसके सभीप्रकार के संशय समाप्त हो जाते हैं। इसप्रकार के व्यक्ति के सभी सञ्चितकर्म दग्ध हो जाते हैं तथा परमात्मज्ञान होने के पश्चात् किए जाते हुए, क्रियमाणकर्मों में कर्तापन का अभाव होने के कारण वे भी बाधित हो जाते हैं अर्थात् उनसे होने वाला पापपुण्य भी उसे नहीं लगता है। अतः वे कर्मबन्धन का कारण नहीं होते हैं। केवल प्रारब्धकर्म ही शेष रहते हैं।[1] ऐसा व्यक्ति स्वयं को 'मैं ही ब्रह्म हूँ' ऐसा अनुभव करता है।

विशेष–(1) ब्रह्मज्ञान द्वारा मोक्षप्राप्ति का कथन किया गया है।

(2) यहाँ संशय से अभिप्राय–देहादि के अतिरिक्त शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में संदेह करने से ग्रहण करना चाहिए।

(3) देहादि को ही आत्मा मानना, इसप्रकार का विपरीत ज्ञान होना ही विपर्यय है।

(4) कुछ विद्वानों ने ब्रह्मनिष्ठ में प्रयुक्त 'निष्ठ' शब्द को एकपरता के स्थान पर 'नितरां स्थितिः' अर्थात् 'एकीभाव में स्थित होना' अर्थ में प्रयुक्त माना है।

(5) ब्रह्मनिष्ठ पद की व्याख्या विद्वन्मनोरञ्जिनीकार इसप्रकार करते हैं–

'ब्रह्मनिष्ठं वेदान्तवेद्यब्रह्मात्मनावस्थितत्वम्'।

(6) जबकि सुबोधिनीकार का इस विषय में कहना है–

'ब्रह्मणि निष्ठा तदेकपरता यस्य स ब्रह्मनिष्ठः'

(7) सांसारिकव्यक्ति संसारगत बन्धनों से आबद्ध रहता है, जो उसके जन्म-मरण के कारण बनते हैं; किन्तु जीवन्मुक्त सभीप्रकार के लौकिक एवं पारलौकिकबन्धनों को पूर्णतया विखण्डित करके, निरन्तर सच्चिदानन्दस्वरूप परमब्रह्म में स्थित रहता है।

(8) परावर का प्रयोग यहाँ कारणकार्यरूप उस परमब्रह्म के लिए हुआ है– पर अर्थात् कारणरूप अवर अर्थात् कार्यरूप परावर।

(9) प्रस्तुत गद्यखण्ड के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

---

1. जीवनमुक्त के विस्तृत एवं गहन अध्ययन के लिए द्रष्टव्य भूमिका पृष्ठ-95

चित्र-६२

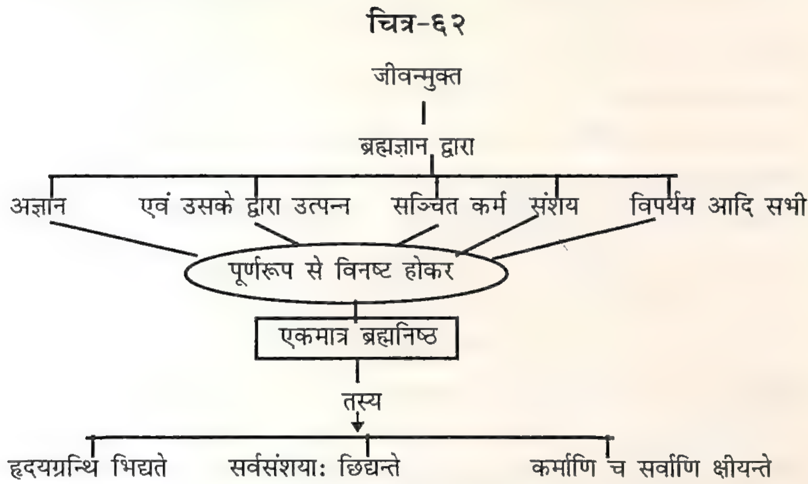

अवतरणिका–तत्पश्चात् जीवन्मुक्त के व्यवहार को कहते हैं–

अयं तु व्युत्थानसमये मांसशोणितमूत्रपुरीषादिभाजनेन शरीरेणान्ध्यमान्द्यापटुत्वादिभाजनेनेन्द्रियग्रामेणाशनया पिपासाशोक-मोहादिभाजनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञानाविरुद्धारब्धफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात्परमार्थतो न पश्यति। यथेन्द्रजालमिति ज्ञानवांस्तदिन्द्रजालं पश्यन्नपि परमार्थमिदमिति न पश्यति। "सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव" इत्यादिश्रुतेः। उक्तं च–

"सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।

तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चय" इति॥३५॥

पदच्छेद–अयम् तु व्युत्थानसमये मांस-शोणित-मूत्रपुरीषादि-भाजनेन शरीरेण अन्ध्य-मान्द्य-अपटुत्वादि-भाजनेन इन्द्रियग्रामेण अशनया पिपासा-शोक-मोहादि-भाजनेन अन्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञान-अविरुद्ध आरब्धफलानि च पश्यन् अपि बाधितत्वात् परमार्थतः न पश्यति।

यथा 'इन्द्रजालम्' इति ज्ञानवान् तद् इन्द्रजालम् पश्यन् अपि परमार्थम् इदम् इति न पश्यति। "सचक्षुः अचक्षुः इव सकर्णः अकर्णः इव" इत्यादिश्रुतेः। उक्तम् च–

"सुषुप्तवत् जाग्रति यः न पश्यति, द्वयं च पश्यन् अपि च अद्वयत्वतः।

तथा च कुर्वन् अपि निष्क्रियः च यः, सः आत्मवित् न अन्यः इति इह, निश्चयः।" इति।।35।।

अनुवाद–यह तो (ध्यान से) उठने के समय मांस, रक्त और मल-मूत्रादि के पात्ररूप शरीर द्वारा, अन्धता, मन्दता एवं अपटुत्व आदि की पात्ररूप इन्द्रियसमूह से, भूख, प्यास, शोक, मोहादि के भाजन अन्तःकरण के माध्यम से पूर्व-पूर्ववासना द्वारा किए जाने वाले कर्मों एवं ज्ञानविरुद्ध प्रारब्धकर्मों के फलों को देखता हुआ भी, अपने यथार्थभाव का परित्याग कर देने से उन्हें यथार्थरूप में नहीं देखता है।

जिसप्रकार 'यह जादू है' इसप्रकार जानने वाला व्यक्ति उस जादू को देखता हुआ भी 'यह सत्य है' इसरूप में नहीं देखता है। जैसाकि–'आँख होते हुए भी अंधे के समान, कान होने हुए भी बहरे के समान' इत्यादि श्रुति का वचन भी प्रमाण है। कहा भी गया है––

सुषुप्ति के समान जो जाग्रत अवस्था में भी सब जगह अद्वैत को ही देखता है। द्वैत को देखता हुआ भी उसमें विद्यमान अद्वैत का ही दर्शन करता है तथा जो कर्म करते हुए भी निष्क्रिय है। वही इस लोक में आत्मज्ञानी है, अन्य कोई नहीं, यह निश्चित है।।

'चन्द्रिका'–प्रस्तुत गद्यखण्ड के अभिप्राय को समझने से पहले फल की दृष्टि से कर्मों के तीन प्रकारों का समझना आवश्यक है (1) सञ्चित-कर्म (2) क्रियमाणकर्म (3) प्रारब्धकर्म। अनादिकाल में किए गए कर्म जिनका फल अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है, सञ्चितकर्म कहलाते हैं। मन, वाणी एवं कर्म द्वारा वर्तमानजन्म में किए जा रहे कर्म-क्रियमाण कर्मों की श्रेणी में आते हैं; क्रियापूर्ण होने के पश्चात् ये ही सञ्चितकर्म हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त चिरकाल के सञ्चितकर्म, जब फलोन्मुख होकर शुभ अथवा अशुभ फल प्रदान करने में तत्पर रहते हैं, तब वे ही प्रारब्धकर्म कहलाते हैं। क्रियमाण, सञ्चित एवं प्रारब्धकर्मों का यह चक्र व्यक्ति अथवा प्रत्येक जीव के जीवन में निरन्तर चलता रहता है।

इसके अतिरिक्त संसार में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं–प्रथम, बन्धनों से युक्त, द्वितीयबन्धनों से मुक्त, इसीको जीवन्मुक्त भी कहा गया है। यद्यपि इनमें प्रथम प्रकार के बन्धनयुक्त जीवों की संख्या सर्वाधिक है। ये दोनों ही शरीर एवं इन्द्रियों द्वारा दैनिकव्यवहार करते हैं, किन्तु किए जाने वाले कार्यों के प्रति दोनों की मनःस्थिति एवं चिन्तन में बहुत बड़ा अन्तर होता है।

जीवन्मुक्त अज्ञान का विनाश हो जाने के कारण किए, जाने वाले कार्य के प्रति कर्तापन से अथवा भोग की जा रही वस्तु के प्रति भोक्ताभाव से पूर्णतया मुक्त होता है। इसलिए पूर्ववासना के कारण वर्तमानशरीर आदि से किए जाने वाले क्रियमाण एवं प्रारब्धकर्मों का वह साक्षिमात्र होता है, क्योंकि वह उनमें कर्तापन के अभिमान से रहित होता है। यद्यपि दूसरों की दृष्टि में वह इन सबका भोक्ता प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में उसकी स्थिति कमल के पत्ते पर स्थित जल की बूँद के समान होती है, जो पत्ते पर रखी हुई भी उसमें लिप्त नहीं होती है।

इसीकारण वह रक्त एवं मांसादिपदार्थों द्वारा निर्मित मल-मूत्र आदि से भरे इस शरीर द्वारा, अन्धभाव, मन्दभाव आदि से युक्त श्रोत्रादि इन्द्रियसमूह से तथा शोक, मोह, भूख, प्यास आदि से व्याकुल हो जाने वाले अन्तःकरण द्वारा पूर्ववासना के प्रभाव के कारण किए जाने वाले कर्म तथा वर्तमानसमय में फलों की ओर उन्मुख प्रारब्धकर्मों के फलों के प्रति यथार्थस्थिति से पूर्णतया परिचित हो जाने के कारण, उन्हें सत्य नहीं मानता है। उन सभी कार्यों के प्रति उसकी मनःस्थिति को ग्रन्थकार एक उदाहरण द्वारा समझाते हैं-

जीवन्मुक्त व्यक्ति क्रियमाण एवं प्रारब्धकर्मों को, उनके फलों को देखते हुए ठीक उसीप्रकार नहीं देखता है, जैसे- जादू को देखने वाला कोई व्यक्ति जादूगर की बातों को जादू समझकर 'यह वास्तविक नहीं है', इसप्रकार देखता हुआ भी नहीं देखता है, अर्थात् वह व्यक्ति उन कार्यों के प्रति कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व के अभिमान से पूर्णतया रहित रहता है, क्योंकि ज्ञान द्वारा उससे सम्बन्धित अज्ञान समाप्त हो जाता है।

जबकि शरीर एवं इन्द्रियों के प्रति ममत्व एवं अहंभाव रखने के कारण बद्धव्यक्ति अपने अज्ञान के कारणशरीर एवं इन्द्रियों द्वारा किए जाने वाले कर्मों के प्रति कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व के अभिमान से युक्त रहता है। परिणामस्वरूप वह इनसे प्राप्त होने वाले अच्छे एवं बुरे फलों से भी बँध जाता है एवं उन्हें भोगने के लिए बार-बार विभिन्नशरीरों को धारण करके इस संसार में जन्म लेकर, आवागमन के चक्र में पड़ा सुख दुःख का भागी होता है।

इस प्रसङ्ग में यह उल्लेखनीय है कि ब्रह्मज्ञान होने पर तत्त्वज्ञानी तुरन्त शरीर का त्याग करके मोक्ष प्राप्त नहीं करता है, अपितु वस्त्र के जल जाने पर भी कुछ समय तक उसमें होने वाली वस्त्रविषयकबुद्धि के समान,

भ्रमवश दिखायी देने वाले, दो चन्द्रमाओं की ज्ञाननिवृत्ति के समान अज्ञानवश प्रतीत होने वाले देहादि के मिथ्या होने का निश्चय होने पर भी पूर्वसंस्कारों के कारण प्रारब्धकर्मों के विनाशपर्यन्त उसके शरीर की स्थिति बनी रहती है। जो इस शरीर द्वारा फलभोग के उपरान्त ही समाप्त होते है। नित्यप्रति के दैनिककर्मों को यद्यपि जीवन्मुक्त व्यक्ति इसी शरीर द्वारा करता है, किन्तु उन सभी के प्रति कर्तापन एवं अहंभाव के अभाव के कारण, वे उसके द्वारा किए जाते हुए भी न किए गए के समान ही रहते हैं, क्योंकि वह उनके कर्मफल से आबद्ध नहीं रहता है। इसी बात को ग्रन्थकार 'स चक्षुरचक्षुरिव' इत्यादि श्रुतिवचन को उद्‌धृत करते हुए परिपुष्ट करते हैं।

जीवन्मुक्त नेत्र होते हुए भी देखता नहीं है, कान होते हुए भी सुनता नहीं है, इसका अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार जादूगर की क्रियाओं द्वारा अनेक वस्तुओं को उत्पन्न होते प्रत्यक्षतः देखते हुए भी हम यह कहते हैं कि यह सत्य नहीं है, दृष्टि का भ्रममात्र है। जले हुए वस्त्र को देखकर यह वस्त्र है, इस क्षणिकप्रतीति के साथ उसमें मिथ्यात्व का आभास भी रहता है। ठीक उसीप्रकार जीवन्मुक्त इस संसार को देखता हुआ भी असत्य मानकर नहीं देखता है। वार्तालाप करता हुआ वाणी एवं श्रवणेन्द्रिय का प्रयोग करता हुआ भी नहीं करता है, क्योंकि इन सब क्रियाओं के प्रति उसमें कर्तापन एवं अहंभाव का पूर्णतया अभाव रहता है।

इसके बाद ग्रन्थकार उपदेशसाहस्री में दिए गए श्लोक को उद्‌धृत करके जीवन्मुक्त के क्रियाकलाप को कहते हैं–"जो व्यक्ति ब्रह्म एवं आत्मा के एकत्व को भलीभांति समझ लेता है। सभीप्रकार के भेदभाव से रहित हुआ वह सुषुप्ति अवस्था के समान ही जाग्रत अवस्था में भी द्वैतभाव को समाप्त कर देता है। वस्तुतः इसप्रकार के व्यक्ति को ही आत्मज्ञानी कहा गया है।"

इसे 'अहं ब्रह्मास्मि' एवं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि महावाक्यों की अनुभूति हो जाती है। इस कारण उसकी दृष्टि में ब्रह्म के अतिरिक्त सम्पूर्ण दृश्यमान चराचरजगत् एवं उसके कारण अज्ञान का पूर्णतया अभाव ही हो जाता है। इसलिए लोकव्यवहार में कर्मों को करता हुआ भी वह उन्हें नहीं करता है, क्योंकि कमल के पत्ते पर विराजमान जल की बूँद के समान, उन सभी कार्यों से वह सर्वथा अलिप्त रहता है। वस्तुतः वही व्यक्ति ब्रह्मवेत्ता, आत्मवेत्ता कहलाने का अधिकारी होता है, अन्य नहीं। इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

विशेष–(1) जिसप्रकार धनुर्धारी द्वारा चलाए गए बाण में फेंकने वाले की शक्तिपर्यन्त वह भूमि पर नहीं गिरता है, ठीक उसीप्रकार प्रारब्धकर्मों के फलभोगपर्यन्त जीवन्मुक्त का शरीर विनष्ट नहीं होता है।

(2) 'व्युत्थान समये' से अभिप्राय ज्ञानप्राप्ति से होने वाली 'जाग्रति' रूप अर्थ से ग्रहण करना चाहिए।

(3) शरीरनिर्माण में मांस–शोणित–मूत्रपुरीष आदि का उल्लेख शरीर के प्रति होने वाले वैराग्यभाव की अभिव्यक्ति हेतु सप्रयोजन किया गया है।

(4) वेदान्त के अनुसार भूख एवं प्यास वस्तुतः प्राणों के कार्य हैं, किन्तु यहाँ उन्हें अन्तःकरण के कार्य कहा गया है। इसे विद्वानों ने सांख्य का प्रभाव माना है।

(5) प्रस्तुत अंश में जीवन्मुक्त के क्रियाकलाप एवं सांसारिकव्यवहार के प्रति उसके चिन्तन का कथन करने के कारण 'बद्धव्यक्ति' के क्रियाकलापों की व्यञ्जना से प्रतीति हो रही है।

(6) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

चित्र–६३

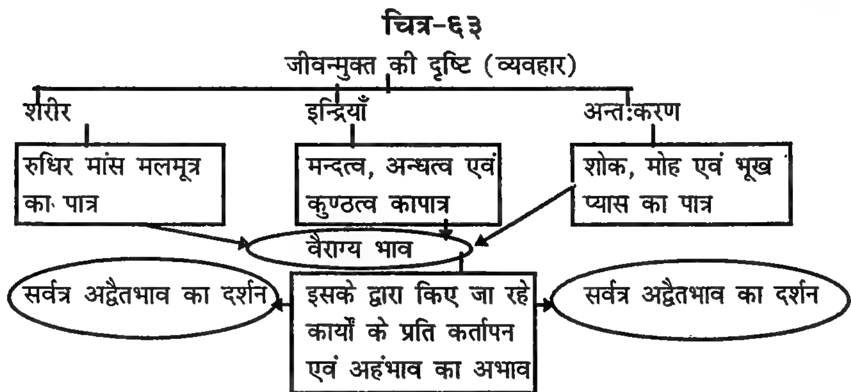

अवतरणिका–पुनः अपने द्वारा किए गए कर्मों के प्रति जीवन्मुक्त द्वारा शुभ–अशुभ भावनाओं के अभाव को कहते हैं–

अस्य ज्ञानात्पूर्वं विद्यमानानामेवाहारविहारादीनामनुवृत्तिवच्छुभ-वासनानामेवानुवृत्तिर्भवति शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा। तदुक्तम्–

"बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।

शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षण" इति।

"ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतर" इति॥३६॥

पदच्छेद–अस्य ज्ञानात् पूर्वम् विद्यमानानाम् एव आहार-विहार-आदीनाम्-अनुवृत्ति-वत्, शुभवासनानाम् एव अनुवृत्तिः भवति, शुभ-अशुभयोः औदासीन्यम् वा। तद् उक्तम्–

"बुद्ध-अद्वैत-सतत्त्वस्य यथा-इष्ट-आचरणम् यदि।

शुनाम् तत्त्वदृशाम् च एव कः भेदः अशुचिभक्षणे" इति।

"ब्रह्मवित्त्वम् तथा मुक्त्वा सः आत्मज्ञः न च इतरः" इति।।36।।

अनुवाद–इस (ब्रह्मज्ञानी) के आत्मज्ञान से पूर्व विद्यमान आहार, विहार आदि की परम्परा के समान, केवल शुभवासनाओं का ही क्रम जारी रहता है अथवा शुभ एवं अशुभ इन दोनों में उसका उदासीनभाव उत्पन्न हो जाता है। इसीलिए कहा गया है–

अद्वैत को तत्त्वरूप से जानने वाले (आत्मज्ञानियों) का यदि इच्छानुसार आचरण होता तो, तत्त्वज्ञों की भी कुत्ते के समान शुद्ध-अशुद्ध के भक्षण में भिन्नता नहीं होती। 'यह ब्रह्मज्ञान है' उसप्रकार की भावना का परित्याग करने वाला व्यक्ति ही वह 'आत्मज्ञानी' है, अन्य कोई नहीं।

'चन्द्रिका'–इससे पूर्व ग्रन्थकार ने प्रतिपादित किया कि 'जीवन्मुक्त' अपने द्वारा किए जा रहे कार्यों के प्रति कर्तापन एवं अहंभाव से पूर्णतया रहित होकर सर्वत्र अद्वैत का दर्शन करता है, किन्तु इसी प्रसङ्ग में प्रतिपक्षी द्वारा यह शङ्का करने पर कि यदि जीवन्मुक्त कर्म करते हुए स्वयं को कर्ता नहीं मानता है, इसीलिए वह कर्मबन्धन से मुक्त रहता है, क्योंकि उसके द्वारा किए जाने वाले कार्यों के पाप एवं पुण्य का वह भागी नहीं होता। ऐसी स्थिति में तो वह अपनी इच्छानुसार अच्छे बुरे, सभीप्रकार के कार्य करने में स्वतन्त्र होगा? क्या यह मानना उचित है?

इसी शङ्का के उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि तत्त्ववेत्ता ब्रह्मज्ञान से पूर्व सांसारिकस्थिति में श्रेष्ठविचारों के साथ-साथ सदाचरण भी करता है। उन्हीं का अनुसरण वह इस स्थिति को प्राप्त करने के उपरान्त भी करता रहता है, अर्थात् स्वच्छ आचरण के परित्याग का सङ्कल्प तो वह वस्तुतः आत्मज्ञान से पूर्व प्रारम्भिककाल में ही कर चुका है। अतः सिद्धि के पश्चात् उसमें इच्छानुसार अशुभकर्मों के प्रति प्रवृत्ति की सम्भावना लेशमात्र भी नहीं रहती है। आत्मसिद्धि ही वस्तुतः उसके शुभचिन्तन एवं कर्मों की परिचायक है। साथ ही दीर्घकालीन अभ्यास के कारण इच्छानुसार स्वच्छन्द आचरण के

संस्कार ही वास्तव में विनष्ट हो जाते हैं। इसलिए तत्त्वज्ञान के पश्चात् जीवन्मुक्तदशा में भी शुभवासनाओं की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप वह शुभ-कर्मों में ही प्रवृत्त होता है, अशुभ कर्मों में नहीं।

पुनः जीवन्मुक्त की अग्रिम उत्कृष्ट अवस्था को कहते हैं–कुछ समय पश्चात् निरन्तर अभ्यास के परिणामस्वरूप शुभ-अशुभ दोनों प्रकार की भावनाओं के प्रति उसमें उदासीनभाव उत्पन्न हो जाता है, जो वस्तुतः इसकी उत्कृष्टता का ही द्योतक है। कहने का अभिप्राय यह है कि जीवन्मुक्त अवस्था में व्यक्ति यदि किसी भी कार्य में प्रवृत्त होता भी है तो, संस्कारवश उसकी प्रवृत्ति शुभकार्यों में ही होगी अथवा फिर शुभ-अशुभ के प्रति उसका उदासीनभाव रहेगा। अतः उसके द्वारा अशुभकर्मविषयक शङ्का करना पूर्णतया निराधार एवं भ्रामक है, क्योंकि तत्त्वज्ञान होने पर भी यदि वह अशुभकर्मों में प्रवृत्त होता है तो ऐसी स्थिति में हम मूर्ख एवं आत्मज्ञानी इन दोनों में भेद ही नहीं कर सकेंगे।

अपनी बात की पुष्टि में ग्रन्थकार श्रुतिवचन को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हुए कहते हैं कि जिन तत्त्ववेत्ताओं ने अखण्डब्रह्म को भलीप्रकार समझ लिया है, वे कभी भी स्वेच्छानुसार आचरण नहीं करते हैं और यदि ऐसा नहीं होता तो जिसप्रकार कुत्ता भक्ष्य-अभक्ष्य के बारे में नहीं जानता है तथा अपनी भूख के अनुसार किसी भी प्रकार की वस्तु को खाने में प्रवृत्त हो जाता है, ठीक उसीप्रकार तत्त्ववेत्ता भी शुद्ध-अशुद्ध का ध्यान न रखते हुए प्रत्येक कार्य में प्रवृत्त होता, जबकि ऐसा देखा नहीं गया है। अतः हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ब्रह्मज्ञानी का आचरण स्वच्छन्द नहीं होता है। या तो उसकी प्रवृत्ति शुभकर्मों में होती है या फिर शुभ-अशुभ के प्रति उसका उदासीनभाव रहता है।

इसी प्रसङ्ग में ग्रन्थकार श्रुतिवचन को उद्धृत करते हुए जीवन्मुक्त की एक अन्य विशेषता का भी कथन करते हैं कि ब्रह्मवेत्ता जहाँ अपने कर्तापन के भाव को समाप्त कर देता है वहीं 'मैं आत्मज्ञानी हूँ' इसप्रकार के अहंभाव को भी वह त्याग देता है। इन दोनों भावनाओं के परित्याग की स्थिति में ही वह सच्चा ब्रह्मज्ञानी अथवा जीवन्मुक्त कहलाने का अधिकारी बनता है, अन्यथा नहीं।

विशेष–(1) यहाँ प्रयुक्त अन्तिमपंक्ति उपदेशसाहस्री से उद्धृत है, जहाँ इन भावों को इसप्रकार अभिव्यक्त किया गया है–

यो वेदालुप्तदृष्टत्वमात्मनोऽकर्तृतां तथा।

ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः।।

(2) केनोपनिषद् में ब्रह्मज्ञानी को इसप्रकार परिभाषित किया गया है–

'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य य वेद सः।

अविज्ञातं विजानता विज्ञातविजानताम्।।'

(3) ब्रह्मज्ञान के अभिमान से शून्य को ही वस्तुतः ब्रह्मज्ञानी बताया गया है, जिसे ब्रह्मज्ञान का अभिमान है, जो 'मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ' ऐसा कहता है, वह व्यक्ति ब्रह्मवेत्ता हो ही नहीं सकता है।

(4) ब्रह्मवेत्ता में पवित्र-आचरण एवं पवित्र-वासनाओं की स्थिति की पुष्टि की गयी है।

(5) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है–

चित्र-६४

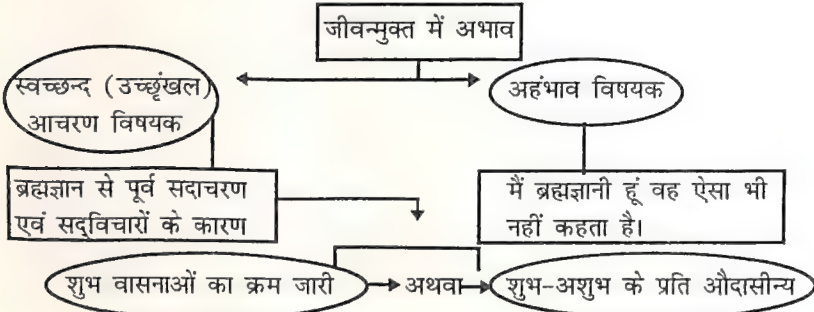

अवतरणिका–तदनन्तर जीवन्मुक्त में स्थित रागद्वेष आदि का अभाव एवं दया आदि गुणों को उसका अलङ्कार बताते हुए कहते हैं–

तदानीममानित्वादीनि ज्ञानसाधनान्यद्वेष्टृत्वादयः सद्गुणाश्चालङ्कारवदनुवर्तन्ते। तदुक्तम्–

"उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।

अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिण" इति।।३७।।

पदच्छेद–तदानीम् अमानित्वादीनि ज्ञानसाधनानि अद्वेष्टृत्व-आदयः सद्गुणाः च अलङ्कारवद् अनुवर्तन्ते। तद् उक्तम्–

"उत्पन्न-आत्म-अवबोधस्य हि अद्वेष्टृत्व-आदयः गुणाः।
अयत्नतः भवन्ति अस्य न तु साधनरूपिणः" इति॥37॥

अनुवाद–उससमय अभिमानराहित्य आदि ज्ञान के साधन, द्वैषहीनता आदि सद्गुण आभूषणों के समान (जीवन्मुक्त का) अनुवर्तन करते हैं। इसीलिए कहा गया है–

"उत्पन्न हो गया है आत्मज्ञान जिसे, इसके अद्वेष आदि गुण स्वाभाविक हो जाते हैं। वे वस्तुतः साधनरूप नहीं रहते हैं।

'चन्द्रिका'–जीवन्मुक्त की अवस्था में व्यक्ति को न तो किसी भी विषय में अभिमान ही रहता है और न ही वह वस्तुविशेष या व्यक्तिविशेष के प्रति द्वेष की भावना ही रखता है। इन दोनों गुणों के लिए उसे प्रयास भी नहीं करना पड़ता, अपितु ये उसके स्वभाव में ही विद्यमान रहते हैं, जो वस्तुतः आभूषण के समान उसकी शोभा में वृद्धि करने वाले होते हैं।

ये गुण जीवन्मुक्तावस्था में उसके साधन नहीं बनते हैं, अपितु अपने आप उसमें लक्षण के रूप में दिखायी देने लगते हैं। इसी बात को ग्रन्थकार नैष्कर्म्यसिद्धि की कारिका को उद्धृत करते हुए कहते हैं–

जिसे आत्मज्ञान की सिद्धि हो गयी है, ऐसे ब्रह्मज्ञानी के लिए द्वेष न करना, अहंकार न करना, दयालुता दिखाना इत्यादि गुण मानो उसका स्वभाव ही हो जाते हैं। उनके लिए उसे किसीप्रकार का कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है।

ऐसी स्थिति में जीवन्मुक्त के मन में अशुभकर्म करने का विचार भी नहीं आता है, क्योंकि उसे साध्यरूप ब्रह्म की सिद्धि हो जाती है। इसलिए इस अवस्था में उसे ये गुण साधनरूप में आवश्यक प्रतीत भी नहीं होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि जीवन्मुक्त व्यक्ति में अनहंकार, अद्वेषत्व आदि गुणों की स्थिति, अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक हो जाती है। इनके लिए उसे किसीप्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती है, फिर भला वह अशुभादिकर्म किसप्रकार कर सकता है?

विशेष–(1) जीवन्मुक्त व्यक्ति के लिए अहंकारराहित्य एवं द्वेष न करना आदि गुणों की स्वाभाविकस्थिति का कथन किया गया है।

(2) गुणों को उसकी शोभा में वृद्धि करने वाले आभूषण बताया गया है, जो अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है।

(3) अभिमान एवं द्वेष का अभाव ज्ञान के लिए आवश्यक बताया गया है। यद्यपि आरम्भ में यह ज्ञान के साधनरूप में स्वीकार किया जाता है, किन्तु बाद में ये ब्रह्मज्ञानी के स्वभाव में ही विराजमान हो जाते हैं। इनके लिए उसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है।

(4) प्रस्तुत अंश के अभिप्राय को इसप्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं–

चित्र-६५

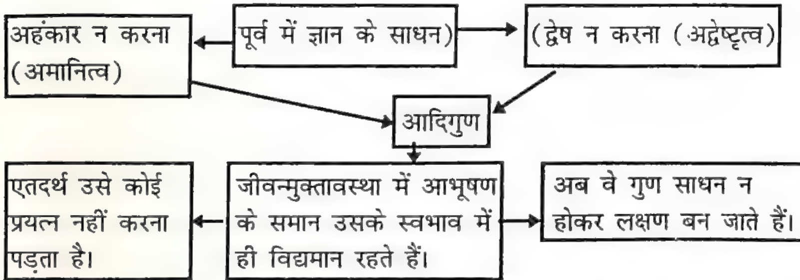

अवतरणिका–तत्पश्चात् ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए शरीरपात के पश्चात् जीवन्मुक्त के ब्रह्मलीन होने की बात का प्रतिपादन करते हैं–

किं बहुनायं देहयात्रामात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि सुखदुःख-लक्षणान्यारब्धफलान्यनुभवन्नन्तःकरणाभासादीनामवभासकः संस्तदवसाने प्रत्यगानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने सत्यज्ञानतत्कार्यसंस्काराणामपि विनाशात्परमकैवल्यमानन्दैकरसमखिलभेदप्रतिभासरहितमखण्डब्रह्मावतिष्ठ ते। "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति", "अत्रैव समवलीयन्ते", "विमुक्तश्च विमुच्यत" इत्यादिश्रुतेः॥३८॥

पदच्छेद–किम् बहुना अयम् देह-यात्रामात्रार्थम् इच्छा-अनिच्छा-परेच्छा-प्रापितानि सुखदुःख-लक्षणानि आरब्धफलानि अनुभवन् अन्तःकरण-आभास-आदीनाम् अवभासकः सन् तद् अवसाने प्रत्यक्-आनन्द-परब्रह्मणि प्राणे लीने सति अज्ञान तत् कार्य-संस्काराणाम् अपि विनाशात् परम-कैवल्यम् आनन्द-एकरसम् अखिल-भेदप्रतिभास-रहितम् अखण्डब्रह्म-अवतिष्ठते।

"न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति", "अत्र एव समवलीयन्ते", "विमुक्तः च विमुच्यते" इत्यादिश्रुतेः॥38॥

अनुवाद–अधिक क्या, देहयात्रामात्र के लिए इच्छा, अनिच्छा अथवा दूसरों की इच्छा से प्राप्त कराए गए, सुखदुःखलक्षणरूप प्रारब्धकर्मों के फलों का अनुभव करते हुए, इन्द्रियों के आभास आदि को प्रकाशित करते

हुए, उन (प्रारब्धकर्मों) की समाप्ति पर, आन्तरिक आत्मानन्दस्वरूप परमब्रह्म में प्राणों के लीन होने पर, अज्ञान एवं उसके कार्यरूप संस्कारों के भी विनष्ट होने से, परमकैवल्य, आनन्दैकरस, सभीप्रकार के भेदों के आभास से रहित, यह (जीवन्मुक्त) अखण्डब्रह्मरूप में ही स्थित हो जाता है।

"उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं", "वे यहीं पर विलीन हो जाते हैं", (अतः वह) "मुक्त हुआ भी पुनः मुक्त हो जाता है।" इत्यादि श्रुति का वचन (भी इसमें प्रमाण है।)

'चन्द्रिका'–तत्पश्चात् जीवन्मुक्त की देहमुक्ति के सम्बन्ध में ग्रन्थकार आचार्य सदानन्द कहते हैं कि इस विषय में और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। शरीर की यात्रा के हेतुरूप स्वेच्छा, अनिच्छा अथवा परेच्छारूप प्रारब्धकर्मों द्वारा प्राप्त कराए गए, सुख एवं दुःखरूप फलों का अनुभव करते हुए, अन्तर्वृत्तियों के आभास अर्थात् ज्ञान को उत्तरोत्तर प्रकाशित करते हुए, प्रारब्धकर्मों की समाप्ति के पश्चात् आनन्दस्वरूप आन्तरिक आत्मारूप परमब्रह्म में प्राणों के लीन होने पर, सृष्टि के कारण अज्ञान तथा उसके कार्यरूप संस्कारों के पूर्णतया नष्ट होने के बाद उसे सभीप्रकार के भेदों का आभास होना बन्द हो जाता है। इस अवस्था में जीवन्मुक्त का शरीरपात हो जाता है तथा परमकैवल्य एकमात्र आनन्दरूप में स्थित हुआ, वह अखण्डब्रह्मरूप में ही स्थित हो जाता है।

इस संदर्भ में अपने कथन की पुष्टि हेतु ग्रन्थकार श्रुतिवचनप्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हैं। श्रुतियों की मान्यता है कि जीवन्मुक्त के शरीरपात के पश्चात् प्राण एक शरीर का त्यागकर दूसरे शरीर में नहीं जाते हैं, अपितु अपने कारणरूप सूक्ष्मतन्मात्राओं में विलीन हो जाते हैं। इसप्रकार एक बार मुक्ति को प्राप्त हुआ, जीवन्मुक्त शरीरपात के साथ पुनः मुक्त होता है। प्रथम मुक्ति ज्ञान होने के बाद प्रारब्धकर्मों के क्षय से पूर्व होती है, जब वह ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है तथा द्वितीय-मुक्ति प्रारब्धकर्मों के फलभोग के परिणामस्वरूप उनका क्षय होने के बाद शरीरपात के साथ होती है, जब उसके प्राण इसीसंसार की तन्मात्रास्वरूप आकाशादि में विलीन हो जाते हैं तथा आत्मा ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है। इस अवस्था में

जीवन्मुक्त का पुनर्जन्म नहीं होता है। इसीको मोक्ष अथवा कैवल्य कहा जाता है।

विशेष–(1) प्रस्तुत गद्यखण्ड में तीन प्रकार के प्रारब्धकर्मों का उल्लेख हुआ है, जो व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं–

(क) स्वेच्छा-प्रारब्ध–न्यायपूर्ण आजीविका अर्जन आदि में स्वेच्छापूर्वक कष्ट को स्वीकार करना ही स्वेच्छाप्रारब्ध है, क्योंकि ऐसा करने की अन्तःप्रेरणा का कारण प्रारब्धकर्म ही होते हैं।

(ख) अनिच्छा-प्रारब्ध–मार्ग में जाते समय कांटा लगना, मूल्यवान वस्तु की अनायास प्राप्ति होना, जिसे प्राप्त करने की पहले से कोई सम्भावना अथवा इच्छा नहीं थी, ईशकृपा से अनायास प्राप्त हो जाना ही अनिच्छा- प्रारब्ध है।

(ग) परेच्छा-प्रारब्ध–सर्पदंश, दुष्ट द्वारा सताया जाना अथवा किसी सज्जन द्वारा कष्ट को दूर करना आदि बिना अभिलाषा के सुख-दुःखादि भोग, जो दूसरे की इच्छा से प्राप्त होते हैं, परेच्छाप्रारब्ध कहलाते हैं।

जीवन्मुक्त भी इन तीनों प्रकार के प्रारब्धभोगों को भोगकर उनका क्षय करता है। जैसे–भिक्षाप्राप्ति हेतु घूमना, कष्ट उठाना स्वेच्छाप्रारब्ध, रोगादि से ग्रस्त होने पर अन्यों द्वारा अन्नादि प्रदान करना परेच्छाप्रारब्ध, पैर में कांटा आदि लगना अनिच्छाप्रारब्ध है।

(2) जीवन्मुक्त के प्रारब्धफलभोग के पश्चात् वह ब्रह्म में लीन हो जाता है, किन्तु यहाँ जीवन्मुक्त एवं विदेहमुक्ति की भिन्नता को समझना आवश्यक है। जीवन्मुक्त की अवस्था में प्रारब्धकर्मों का पूर्ण नाश न होने के कारण अज्ञान की अंशमात्रसत्ता विद्यमान रहती है, किन्तु विदेहमुक्ति की स्थिति में अज्ञान का वह अंश भी समाप्त हो जाता है। परिणामस्वरूप उसके कार्यरूप संस्कार भी विनष्ट हो जाते हैं। इसप्रकार कैवल्य की अवस्था से एक क्षण पूर्व उसका शरीररूप अज्ञान, लिङ्गशरीररूप प्राण तथा स्थूलशरीर आदि सभी आत्यन्तिकदृष्टि से सदैव के लिए नष्ट हो जाते हैं।

(3) यहाँ प्रयुक्त परमकैवल्य से अभिप्राय मुक्तपुरुष का ब्रह्मभाव को प्राप्त होना है।

(4) परमकैवल्य विशुद्ध आनन्दमात्र होने से आनन्दैकरस कहलाता है।

(5) यहाँ प्रयुक्त देहयात्रा से अभिप्राय है कि जीवन्मुक्त इन्द्रियों की तृप्ति के लिए प्रारब्धफलों का भोग नहीं करता है, अपितु वह केवल शरीर स्थिति के लिए उनको भोगता है।

(6) समुद्र में उठने वाली लहरें जिसप्रकार समुद्र में लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार जीवन्मुक्त के प्राण प्रत्यक् अभिन्नपरमात्मा में विलीन होते हैं। सामान्यजीवों के समान ऊर्ध्वगमन नहीं करते हैं।

।इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसदानन्दविरचिता वेदान्तसारः समाप्तः।।

।इसप्रकार श्रीमद् परमहंस परिव्राजकाचार्य सदानन्द द्वारा विरचित वेदान्तसार समाप्त हुआ।।

परिशिष्ट-क

विषयवार डायग्राम-सूची पृष्ठ

परिशिष्ट-१

सहायक ग्रन्थ-सूची

1. वेदान्सार, नृसिंह सरस्वती टीका, निर्णयसागर प्रेस बम्बई
2. वेदान्तसार, स्वामी रामतीर्थ टीका, निर्णयसागर प्रेस बम्बई
3. वेदान्तसार, रामशरण त्रिपाठी, भावबोधिनी, चौखम्बा, वाराणसी
4. वेदान्तसार, डा. नरेन्द्रदेव सिंह, साहित्य भण्डार, मेरठ
5. वेदान्तसार, श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, साहित्य भण्डार, मेरठ
6. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराज अध्वरीन्द्र, शिवदत्तकृत दीपिकाटीका, चौखम्बा, संस्कृत प्रकाशन, बनारस
7. वेदान्तसार, एम० हिरियन्ना, पूना
8. वेदान्तसार, सुरेन्द्रनाथ शास्त्री, भारती प्रकाशन, इन्दौर
9. वेदान्तसार, महेशचन्द्र भारतीय–विमल प्रकाशन, गाजियाबाद
10. वेदान्तसार, डा. राममूर्ति शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
11. वेदान्तसार, बद्रीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
12. शाङ्करवेदान्त तत्त्वमीमांसा, कालीप्रसाद सिंह–विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
13. सर्वदर्शन संग्रह, माधवाचार्य, व्याख्या- उमाशङ्करऋषि, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
14. वेदान्तदर्शन, पाल डायसन, उ० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
15. भारतीयदर्शन का इतिहास, एस० एन० दासगुप्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
16. भारतीयदर्शन, नन्दकिशोर, उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ
17. वेदान्त ज्ञानमीमांसा, मलकानी, म० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल
18. भारतीयदर्शन, उमेश मिश्र, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उ० प्र०
19. भारतीयदर्शन, डा. राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
20. वेदान्तदर्शन का इतिहास, उदयवीर शास्त्री, गाजियाबाद

21. भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास,–डा॰ नरेन्द्रदेव सिंह, साहित्य भण्डार, मेरठ

22. वेदान्त का विकास एवं स्वरूप,–शेखावत, म॰प्र॰ हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

23. वेदान्तविमर्श, डा. अभिमन्यु, परिमल प्रकाशन, दिल्ली

24. भारतीयदर्शन की रूपरेखा, हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली

25. भारतीयदर्शन की रूपरेखा, एम॰ हिरियन्ना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

26. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, गोविन्दानन्द, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

27. पञ्चदशी, विद्यारण्यस्वामी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

28. मनुस्मृति–हरगोविन्दशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रकाशन, वाराणसी

29. भारतीयदर्शन, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी

30. भारतीयदर्शन, वाचस्पति गैरोला, लोकभारती, इलाहाबाद

31. वेदान्तसार–कर्णोल जेकब, चौखम्बा भवन, वाराणसी

32. वेदान्तसार चिन्तामणि–सीतारामशास्त्री, वेंकटेश्वर वि॰ वि॰, तिरुपति

वेदान्तसार वेदान्तदर्शन का प्रकरणग्रन्थ है। इसके 38 खण्डों में ग्रन्थकार ने वेदान्तदर्शन के सिद्धान्तों का सरलरूप में प्रतिपादन ामश्रअमे का प्रयास किया है। इससे पूर्व ब्रह्मसूत्रादि में प्रतिपादित वेदान्त के सिद्धान्तों को समझना सामान्य व्यक्ति के लिए दुष्करकार्य हो गया था। इसीकारण आचार्य सदानन्द ने वेदान्तसार की रचना की आवश्यकता अनुभव की जो अत्यन्त लोकप्रिय हुई।

यहाँ 108 पृष्ठों की विस्तृत भूमिका में जहाँ वेदान्त-विषयक अनेक जिज्ञासाओं का समाधान किया गया है। वहीं मूलग्रन्थ के रूप को सुरक्षित रखते हुए विषय को स्पष्ट किया गया है। सरलता की दृष्टि से मुख्य खण्डों को उपखण्डों में विभाजित किया गया है। प्रखण्डों के विभाजन में विषय-विशेष के सर्वांगीण विवेचन की दृष्टि ही प्रमुख रही है।

पूर्व प्रतिपादित विषय को अग्रिम विषय के साथ जोड़ने के लिए अवतरणिका, पुनः पदच्छेद एवं हिन्दी अनुवाद के बाद 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या में विषय का सर्वांगीण एवं विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। साथ ही विशेष शीर्षक में तत्सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख किया है। तत्पश्चात् उस खण्ड के अभिप्राय को डायग्राम बनाकर अध्येता जिज्ञासु के लिए विषय को सहज हृदयंगम कराना ही मुख्य उद्देश्य है।

मूल्य : 100

PARIMAL PUBLICATIONS

27/28, Shakti Nagar, Delhi-110007 (INDIA)
Phone : 011-27445456, Fax : 91-011-27862183
E-mail : parimal@ndf.vsnl.net.in
Website : www.parimalpublication.com